भारतीय जीवन और संस्कृति

शम्भुनाथ पाण्डेय

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

भारतीय जीवन और संस्कृति

संपादक
डा. शम्भुनाथ पाण्डेय

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

प्रकाशक : केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

प्रथम संस्करण : 1977

मूल्य : रु. 12·00 (भारत में)
यू.एस. $ 6·00 (विदेश में)

मुद्रक : मेहरा आफसेट प्रेस, आगरा

विषय-सूची

		पृष्ठ संख्या
1.	संस्कृति क्या है	1–6
2.	भारतीय संस्कृति	7–10
3.	संस्कृति के निर्मायक घटक : भौगोलिक परिवेश	10–18
4.	भारतीय संस्कृति का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य	19–23
5.	भारतीय संस्कृति का आदिम युग	23–29
6.	सिंधुघाटी की सभ्यता	30–36
7.	वैदिक संस्कृति	37–46
8.	आस्तिक षड् दर्शन	46–51
9.	महाकाव्य कालीन भारतीय संस्कृति	52–71
	(अ) रामायण महाकाव्य	52–58
	(आ) महाभारत	58–67
	(इ) पुराण	68–71
10.	विश्व संस्कृति के विकास में भारत का योगदान	72–77
11.	गुप्तकालीन भारत	78–80
12.	भारतीय कला	81–99
13.	मध्यकालीन भारतीय संस्कृति	100–106
14.	आधुनिक युग का पुनर्जागरण काल	107–111
15.	भारत का सांस्कृतिक दाय : विविध धर्म	112–143
	(i) हिंदू धर्म	112–117
	(ii) जैन धर्म और उसके प्रवर्तक	118–124
	(iii) बौद्ध धर्म	125–132
	(iv) यज़दानी अथवा पारसी धर्म	133–135
	(v) ईसाई धर्म और ईसा मसीह	136–139
	(iv) इस्लाम धर्म	140–143

16. भारत का सांस्कृतिक दाय—भारत की आधुनिक भाषाएँ और उनका साहित्य 144–179
(i) संस्कृत 144–148
(ii) बंगला 149–150
(iii) असमिया 150–152
(iv) ओड़िया 153–154
(v) कश्मीरी 154–155
(vi) पंजाबी 155–157
(vii) सिंधी 157–158
(viii) मराठी 158–161
(ix) गुजराती 161–162
(x) उर्दू 162–165
(xi) हिंदी 165–170
(xii) तमिल् 171–172
(xiii) मलयालम 172–174
(xiv) तेलुगु 174–176
(xv) कन्नड 176–179
17. हमारा समसामयिक जीवन : भारतीय संविधान 180–206
18. हमारा समस्याबहुल समसामयिक जीवन 207–222
19. हमारा समसामयिक जीवन और अंतर्राष्ट्रीय संपर्क 223–229
20. हमारा समसामयिक जीवन और जन-क्रांतियाँ 230–242
परिशिष्ट (अ)
पादटिप्पणी 243–258
प्रमाण संकेत—वैदिक संस्कृति 259
संदर्भ ग्रंथ 260–264

आमुख

भाषा के अध्यापन में उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का भी सामान्य परिचय दे देने से विद्यार्थियों को बहुत लाभ होता है। इस परिचय से न केवल अनेक व्याकरणिक बिंदुओं की विशिष्टताएँ उनकी समझ में आती हैं बल्कि प्रयोगों, मुहावरों और अन्य भाषिक उपादानों के संबंध में भी उनकी पकड़ मजबूत हो जाती है।

भाषा अनेक सामाजिक आकांक्षाओं की पूर्ति का साधन होती है। हिंदी को राष्ट्रभाषा और संपर्क भाषा के रूप में पढ़ाते समय हमारे ध्यान में यह बात भी रहती है कि वह विभिन्न भाषा-भाषियों को, विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों के अध्येताओं को एक बड़े उद्देश्य की पूर्ति के लिए पढ़ाई जा रही है। वह बड़ा उद्देश्य है भारत की उदार संस्कृति के सामान्य पक्षों को प्रस्तुत करना और विद्यार्थियों के मानस में जमाना ताकि राष्ट्र में हिंदी के माध्यम से एकात्म्य-भावना दृढ़ की जा सके। अतएव राष्ट्र भाषा और संपर्क भाषा के रूप में हिंदी पढ़ाने के साथ-साथ हम विद्यार्थी को, भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों, जनजीवन के विविध पक्षों और कलाओं की जानकारी देना चाहते हैं। साथ ही हम उसका परिचय भी देना चाहते हैं कि ये सभी व्यवहार और चिंतन तथा समग्र जीवन शैली में किस प्रकार प्रतिफलित हुए हैं।

विदेशों से आने वाले विद्यार्थी भी भारतीय संस्कृति का सामान्य परिचय प्राप्त करने के इच्छुक रहते हैं। विदेशों में बसे हुए भारत मूल के अध्येता बहुत समय से ऐसी पुस्तक की मांग करते रहे हैं जो थोड़े में उन्हें भारतीय संस्कृति का ज्ञान करा सके।

इन्हीं आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर केंद्रीय हिंदी संस्थान ने 'भारतीय जीवन और संस्कृति' पुस्तक तैयार की है। संस्थान के रीडर डा. शम्भुनाथ पाण्डेय ने अपने सहयोगियों और सहकर्मियों की सहायता और परामर्श से इसे तैयार किया है। मैं इन सबको धन्यवाद देता हूँ। पुस्तक की पांडुलिपि को हमने हिंदी के सुप्रसिद्ध विद्वान डा. रामविलास शर्मा को उपर्युक्त मार्गदर्शन और समीक्षा के लिए दिखाया था। उनके सुझावों से हम बहुत लाभान्वित हुए हैं और हमने उनके परामर्श से पांडुलिपि में संशोधन भी किए हैं। मैं उनके प्रति केंद्रीय हिंदी संस्थान की ओर से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

पुस्तक का प्रथम संस्करण प्रायः पूर्ण नहीं माना जाता। हम अपने सहयोगियों, छात्रों और अन्य विद्वानों के सुझावों का स्वागत करेंगे ताकि इसके अगले संस्करण उत्तरोत्तर अच्छे बनाए जा सकें।

(गोपाल शर्मा)
निदेशक

जुलाई 1977

भूमिका

'भारतीय जीवन और संस्कृति' संस्थान के प्राध्यापकों के मिले-जुले प्रयास का परिणाम है। इसका प्रणयन संस्थान के छात्र-छात्राध्यापकों को भारतीय संस्कृति और देश के समसामयिक जीवन का सामान्य परिचय कराने के उद्देश्य से किया गया है। संस्कृति को इस रूप में प्रस्तुत किया गया है कि अध्येताओं के मन में उसके प्रति आस्था और सांस्कृतिक परंपराओं के प्रति निष्ठा उत्पन्न हो सके। अतः इस पुस्तक को मात्र संस्कृति का इतिहास न समझा जाए। देश की विभिन्न समस्याओं को व्यापक राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में समझने की दृष्टि से समसामयिक जीवन के कुछ पहलुओं को प्रस्तुत किया गया है।

किसी देश की संस्कृति का विकास उसके भौगोलिक परिवेश में होता है। अतः भारत के भौगोलिक परिवेश का सामान्य परिचय हमने दिया है। देश की संस्कृति और उसकी महान परंपराओं का परिचय देने की दृष्टि से भारतीय संस्कृति के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की चर्चा कुछ विस्तार से की गई है।

विभिन्न धर्मों के अनुयायी जब तक अपने धर्म के अतिरिक्त दूसरे धर्मों को समझने की चेष्टा नहीं करते तब तक वे इस देश की संस्कृति को ठीक-ठीक नहीं समझ सकते। इसी प्रकार मातृभाषा तथा साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने के साथ-साथ देश की प्रमुख भाषाओं और उनकी साहित्यिक परंपराओं को समझना आवश्यक है। हमने सांस्कृतिक दाय के रूप में विभिन्न धर्म और विभिन्न भाषा-साहित्य की चर्चा की है।

देश के समसामयिक जीवन को समझने-समझाने की दृष्टि से भारतीय संविधान की सामान्य विशेषताओं, हमारे अंतरराष्ट्रीय संपर्क तथा समस्या बहुल समसामयिक जीवन की चर्चा की गई है। स्नातक स्तर के छात्रों के उपयोगार्थ भारतीय संस्कृति पर जो पुस्तकें लिखी गई हैं उनमें जन-जातियों और उनकी संस्कृतियों की चर्चा प्रायः नहीं की गई। किंतु भारतीय संस्कृति का अध्ययन बिना जन-जातियों की संस्कृति के अध्ययन के अधूरा रह जाता है। इस दृष्टि से पुस्तक के अंत में हमने देश की जन-जातियों और उनकी सांस्कृतिक परंपराओं का भी उल्लेख किया। वस्तुतः प्रस्तुत पुस्तक संस्थान की शासी परिषद् के अध्यक्ष डा. मोटूरी सत्यनारायण की भावनाओं को मूर्त रूप देने का प्रयास है जिनकी अभिव्यक्ति वे अनौपचारिक बातचीत में करते रहे हैं। इस प्रस्तुतीकरण

में हम कितने असफल रहे हैं तथा कहाँ-कहाँ सुधार की आवश्यकता है, यह तो वे तथा अन्य विद्वत्गण पुस्तक का अवलोकन करके ही सूचित कर सकेंगे। प्रत्येक सुझाव का हम सहर्ष स्वागत करेंगे तथा नए संस्करण में उनका समावेश करने का प्रयास करेंगे। पांडुलिपि के रूप में डा० रामविलास शर्मा ने पुस्तक का अवलोकन करके अपने बहुमूल्य सुझाव दिए। इसके लिए हम उनके आभारी हैं। पुस्तक में जिन प्राध्यापकों का हमें सहयोग मिला उनकी सूची अधोलिखित है :

1. डा० वि० कृष्णस्वामी अय्यंगार—(1) वैदिक संस्कृति
(2) भारतीय कला (दाक्षिणात्य)
(3) भारतीय भाषाएँ („)

2. डा० लक्ष्मीनारायण शर्मा— (1) भौगोलिक परिवेश
(2) हमारा समस्या बहुल सम सामयिक जीवन

3. डा० किशोरी लाल शर्मा— हमारा समसामयिक जीवन और अंतरराष्ट्रीय संपर्क

4. डा० सीताराम शास्त्री— भारतीय संविधान

5. श्री रामलाल वर्मा— जन-जातियाँ

उपर्युक्त लेखकों के अतिरिक्त डा० अरविंद कुलश्रेष्ठ ने 'संस्कृति क्या है' के लेखन में सहयोग प्रदान किया। उपर्युक्त सभी सहयोगियों के प्रति मैं हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

गुरु पूर्णिमा, संवत 2034

शम्भुनाथ पाण्डेय

संस्कृति क्या है ?

संस्कृति शब्द का प्रयोग, अंग्रेज़ी के 'कल्चर' की भाँति अनेक अर्थों में होता है। सामान्यतः सुसंस्कारों की योजना को संस्कृति मान लिया जाता है और इस अर्थ में ऐसे व्यक्ति या समूह जिनकी जीवन-विधि में सुसंस्कारों का अभाव होता है, संस्कृति विहीन समझे जाते हैं। कभी-कभी इसका संबंध विशेष वेश-भूषा, भाषा और रहन सहन से जोड़ा जाता है। किंतु संस्कृति की इस प्रकार परिभाषा देना उचित नहीं है। तो प्रश्न उठता है : संस्कृति क्या है ? वाल्टेयर के शब्दों में संस्कृति सुखमय जीवन व्यतीत करने की कला है।

जब मानव-शिशु संसार में आँखें खोलता है तो वह अपने सम्मुख दो प्रकार का वातावरण पाता है—प्राकृतिक वातारण और दूसरा मानवनिर्मित वातावरण। प्राकृतिक वातावरण के अंतर्गत प्रकृतिप्रदत्त सभी प्राकृतिक वस्तुएँ, उपकरण आते हैं। जैसे—नदी, पर्वत, सूर्य, चंद्र, गर्मी, सर्दी, पेड़ पौधें आदि। मानवनिर्मित वातावरण के अंतर्गत मानवनिर्मित वस्तुएं, उपकरण और वातावरण आते हैं, जैसे—घर कुएँ, बिजली, खेती के उपकरण, पंखे, शीतयंत्र, रेडियो आदि। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। शरीर-गठन में वह अन्य जानवरों की अपेक्षा कमजोर होता है। इसी दुर्बलता को दूर करने के लिए वह समाज की स्थापना करता है।

मनुष्य में अन्य जानवरों की अपेक्षा बुद्धि की तीव्रता अधिक होती है। इस कारण वह अपनी बुद्धि की सहायता से अपने से शक्तिशाली जानवरों पर विजय प्राप्त कर लेता है। अपने जीवन को सुखमय और सरल बनाने के लिए वह अनेक उपकरणों का सृजन करता है। उसकी सृजनात्मक बुद्धि शनैः शनैः विकसित होती है। फलतः विभिन्न कोटि की अनेक उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं। मानव की यह सृजनशीलता ही संस्कृति का मूल है। अपने परिवेश को अनुकूल बनाने के लिए वह निरंतर प्रयत्नशील रहता है। परिवेश में मिलती है प्रकृति। उसे प्रकृति के दो रूप मिलते हैं। एक प्रकृति का प्रिय रूप जो उसे अपनी ओर आकर्षित करता है। उसे शांति और आकर्षण प्रदान करता है। दूसरा विकराल रूप, जो उसे डराता है और क्षुब्ध करता है। उसे दोनों रूपों से कार्य लेना होता है। विकराल रूप को अनुकूल और उपयोगी बनाने के लिए वह प्रयत्न करता है। उस पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इस कारण वह अनेक

आविष्कार कर डालता है जिनका उपयोग वह अपने जीवन में करता है। विकास के साथ-साथ उपयोग के ये उपकरण, वस्तुएँ और वातावरण विकसित होते रहते हैं। कुछ वस्तुएँ, उपकरण और वातावरण मनुष्य को समाज में विरासत के रूप में प्राप्त होती हैं, किंतु मनुष्य एक चिंतनशील प्राणी है। इसलिए विरासत से प्राप्त वस्तुओं में वह आवश्यकतानुसार परिवर्तन, परिवर्धन और परिशोधन करता रहता है।

संस्कृति का अर्थ है सृजनात्मक अभिव्यक्ति। यह अभिव्यक्ति मानव की सृजनात्मक बुद्धि के सहारे अभिव्यक्त होती है, जो अपने परिवेश को अपने अनुकूल और अपने नियंत्रण में रखने की चेष्टा करती है। यह सृजनात्मक बाह्य भौतिकता और आंतरिक जीवन दोनों में व्याप्त मिलती है। पहली दशा में उसका लक्ष्य होता है, भौतिक उपयोगिता और दूसरी दशा में वह मनुष्य के आंतरिक जीवन का विकास और समृद्धि करता है।

उपयोगिता के धरातल पर मानवीय सृजनशीलता भौतिक उपकरणों, वस्तु क्रम और औद्योगिक जगत आदि का निर्माण करती है और आंतरिक जीवन के स्तर पर आत्मिक प्रसार और मानसिक विकास करती है। इनकी अभिव्यक्ति कला की विविध विधाओं से, चिंतन की विभिन्न कृतियों के माध्यम से होती है। भौतिक उपकरणों का मूल्य उपयोगिता की दृष्टि से सर्वाधिक रहता है। आत्मसंतोष और शांति के लिए आत्मिक अनुचिंतन आवश्यक हो जाता है। इससे आत्मविस्तार, मानसिक विकास के कारण उसमें विलक्षणता विकसित होती है। यही विलक्षण अनुचिंतन संस्कृति का स्रोत है। अतः संस्कृति की एक परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है— वह अनुचिंतन जिसमें मनुष्य के आत्मिक जीवन का विस्तार और मानसिक विकास एवं भौतिक समृद्धि होती है, संस्कृति है।

सामान्य रूप से कह सकते हैं: संस्कृति समाज के सर्वग्राह्य आत्मिक जीवन रूपों की सृष्टि और उनका उपयोग है। संस्कृति शब्द का संबंध किसी निर्दिष्ट समाज के विशिष्ट आचार-विचार क्रियाकलाप तथा अनुचिंतन के साथ होता है, जो मानवता के विकास के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं और प्रत्येक समाज का चिंतन भिन्न होता है। वह अनुचिंतन कभी-कभी भौगोलिक सीमाओं में बँध जाता है या किसी विशिष्ट समय या धारा से जुड़ जाता है। तभी तो उस धारा या समाज को निर्दिष्ट संस्कृति का नाम और रूप दिया जा सकता है। संस्कृति का मानव जीवन पर गहरा प्रभाव रहता है, क्योंकि संस्कृति मानवता को असत्य से सत्य की ओर, अंधकार से ज्योति की ओर, अनैतिकता से नैतिकता की ओर अग्रसित करती है।

भौतिक प्रतिमान या बाह्य अभिव्यक्ति मानव-जीवन में उपयोगी वस्तुएँ प्रदान करती है। इसमें मनुष्य को शारीरिक सुख प्राप्त होता है। इनके माध्यम से मनुष्य प्रकृति को अपने अनुकूल ढालता है और सुखमय जीवन व्यतीत करता है।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि भौतिक उपकरणों से शारीरिक या भौतिक सुख प्राप्त होता है, जबकि संस्कृति के माध्यम से उसे आत्मिक शांति, मानसिक विकास और प्रसार प्राप्त होता है।

वस्तुतः जो तत्व हमारे व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में जितना अधिक घुला-मिला रहता है उसे परिभाषित करना उतना ही कठिन हो जाता है। संस्कृति एक ऐसा ही तत्व है। इस पृथ्वी पर ऐसे व्यक्ति की कल्पना करना कठिन है जो किसी न किसी सांस्कृतिक समुदाय का सदस्य न हो अथवा जिसका कोई न कोई सांस्कृतिक स्तर न हो। मनुष्य भी पृथ्वी के जीवों में से एक योनि का सदस्य है, किंतु अन्य जीवों से उसकी पृथकता इस बात में है कि जहाँ अन्य प्राणी पाशविक शक्तियों, जैवी नियमों के अनुसार जीवनयापन करते हैं वहाँ मनुष्य जैवी प्रेरणाओं का स्वविवेक से प्रतिरोध करता है, अपने जीवन-यापन की पद्धति पर स्वविवेक से आत्म नियंत्रण स्वीकार करता है। इस आत्मनियंत्रण की पद्धति को ही संस्कार कहा जा सकता है और संस्कारों की समष्टि को 'संस्कृति' स्वीकार किया जा सकता है। अतः संस्कृति अपने आप में एक मूल्य है, एक प्राप्तव्य है जिसके मूल में पाशविक प्रवृत्तियों पर आत्मनियंत्रण अथवा संयम का भाव निहित है।

अपने व्यापक अर्थ में संस्कृति जीवन पद्धति का ऐसा पर्याय है जिसमें व्यक्ति तथा समूह के व्यक्तिगत और समष्टिगत अभ्युत्थान के सन्नियम अंतर्निहित हैं। अतः संस्कृति जीवन से निरपेक्ष कोई ऐसा तत्व नहीं है जिसका अनुसंधान हमें विश्व के महान ग्रंथों में करना पड़े अथवा जिसके लिए हमें जीवन से पलायन करके गिरि-कंदराओं की शरण लेनी पड़े। संस्कृति कोई ऐसा तत्व नहीं जिसे ज्ञान-विज्ञान की ऊँचाइयों में खोजा जा सके अथवा कला और संगीत की दक्षता में प्राप्त किया जा सके; यद्यपि मानव-संस्कृति के निर्माण और विकास में महान दार्शनिकों, तत्व वेत्ताओं, वैज्ञानिकों, कवियों, संगीतज्ञों, चित्रकारों और मूर्तिकारों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जो व्यक्ति ललित कलाओं के प्रति जितना अधिक संवेदनशील होता है, जो बहुज्ञ और बहुश्रुत होता है, जो सत्य की खोज के प्रति जितना अधिक निष्ठावान होता है अथवा मानव-कल्याण के प्रति जिसका जीवन समर्पित होता है, उसे हम उतना ही अधिक सुसंस्कृत कहते हैं। कबीर ने न तो अपने हाथ में कलम पकड़ी थी और न 'मसि कागद' का स्पर्श किया था, फिर भी उनकी जिज्ञासु आत्मा आजीवन मानव जीवन के उच्चतम सत्य की खोज में संलग्न रही और उस खोज में उसे प्रकाश की जितनी किरणें प्राप्त हुई उनको दुखी मानवता में उन्होंने निष्काम भाव से विकीर्ण कर दिया। कबीर जैसे संत विश्व-संस्कृति की महान विभूतियाँ हैं।

संस्कृति जीवन का संस्कार है जिसका अर्थ है पाशविक प्रवृत्तियों का परिमार्जन तथा स्वार्थ का परित्याग। जो व्यक्ति अपने लिए जितना अधिक जीता है; जो मानव

समूह, प्रतिवेशी मानव समूह, जाति अथवा राष्ट्र के मंगल की चिंता नहीं करता, जो कभी-कभी पड़ोसी देशों के आर्थिक, राजनैतिक शोषण को अपना लक्ष्य बनाता है, जो आत्मविस्तार के लिए अथवा अपने प्रभाव क्षेत्र के विस्तार के लिए अपने से कम विकसित मानव समूहों को अपने शिकंजे में जकड़ना चाहता है, वह और चाहे जो कहला सके, 'सुसंस्कृत' नहीं कहला सकता।

संस्कृति का एक अर्थ परिष्कार अथवा परिशोधन भी है जिसका अर्थ है—परिपक्वता। बौद्धिक परिपक्वता और नैतिक परिपक्वता मानव संस्कृति की कसौटियाँ हैं। बौद्धिक परिपक्वता मनुष्य को विवेकपूर्ण निर्णयों को लेने की शक्ति प्रदान करती है। उपनिषद् का एक मंत्र है कि श्रेय और प्रेय मनुष्य के सामने मिले-जुले रूप में समुपस्थित होते हैं। जो मंद हैं (अपरिपक्व) वे प्रेय को स्वीकार करते हैं तथा जो धीर (परिपक्व) हैं, वे श्रेय का वरण करते हैं। उपनिषद् आगे कहती है कि जो योगक्षेम के लालच में आकर प्रेय का वरण करते हैं, वे विनष्ट होते हैं। श्रेय और प्रेय की आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से व्याख्या की जा सकती है। किंतु इतना निर्विवाद है कि धैर्य बौद्धिक परिपक्वता से ही प्राप्त होता है। जो व्यक्ति परिस्थिति के आवेश और आवेग में अपने मानसिक संतुलन खो बैठते हैं, जो तात्कालिक लाभ अथवा क्षुद्र स्वार्थ के वशीभूत होकर जीवन के लक्ष्य से भटक जाते हैं, वे बौद्धिक रूप से परिपक्व नहीं कहला सकते।

धैर्य की आवश्यकता नैतिक परिपक्वता में भी है। पशु और मनुष्य में एक मौलिक अंतर यह भी है कि पशु के सामने जो ललचाने वाले पदार्थ उपस्थित होते हैं, उन पर वह टूट पड़ता है, चाहे फिर उसका दुष्परिणाम कितना भी भयंकर क्यों न हो। मनुष्य के सामने भी ऐंद्रिय आकर्षण उपस्थित होते हैं, किंतु जिनके पास आत्म-संयम का अभाव है, वे उन ऐंद्रिय आकर्षणों, भोग की कामनाओं पर नियंत्रण नहीं कर पाते। प्रत्येक धर्म आत्मसंयम तथा सदाचार का उपदेश देता है, अधीर व्यक्ति उन सब में विश्वास करते हुए भी क्षणिक आवेश के वशीभूत होकर वह सब कर बैठता है जिसे वह स्वयं अपने लिए तथा समाज के लिए हानिकारक समझता है। इसीलिए गीता में आत्मा को ही आत्मा का शत्रु और मित्र कहा गया है। जिन व्यक्तियों में नैतिक परिपक्वता नहीं होती वे अपने जीवन को अवसाद, अंतर्द्वंद्व ग्लानि, पश्चात्ताप, आत्म हीनता की ओर ले जाते हैं। नैतिक परिपक्वता का यह एक पक्ष है जो नैतिक स्खलनों से व्यक्ति की रक्षा करता है। इसका एक भावात्मक पक्ष भी है, जो व्यक्ति को परोपकार, सेवा, दया, दाक्षिण्य, उदारता के प्रति निष्ठावान बनाता है। इन भावनाओं को हम जीवन के मूल्यों की संज्ञा भी दे सकते हैं। जिस व्यक्ति का जीवन जितनी ही अधिक मात्रा में उपर्युक्त मूल्यों के प्रति समर्पित है, वह उतना ही अधिक सुसंस्कृत है। भारतीय वाङ्मय में सुसंस्कृत व्यक्ति के अनेक पर्याय मिलते हैं—ऋषि,

मनीषी, कवि, संत, महात्मा, भक्त इत्यादि। सच पूछा जाए तो बौद्धिक और नैतिक परिपक्वता एक ही सत्य के दो पहलू हैं। एक के बिना हम दूसरे की कल्पना नहीं कर सकते और दोनों का समायोग ही आध्यात्मिक जीवन कहलाता है। आधुनिक जीवन आध्यात्मिक जीवन (सांस्कृतिक जीवन) से जितनी दूर हटता जा रहा है, जीवन मूल्यों का जितना अधिक विघटन करता जा रहा है उतना ही अधिक संस्कृतिविहीन बनता जा रहा है। अतः संस्कृति जीवन का अलंकार नहीं जिसे सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए ऊपर से सजाया जा सके। संस्कृति जीवन की परिपक्वता का ही पर्याय है।

जब मैं संत, महात्मा शब्दों का प्रयोग कर रहा हूँ तो स्वभावतः सामाजिक जीवन का परित्याग करने वाले संन्यासियों, वैरागियों का चित्र पाठकों की कल्पना में उभर सकता है, किंतु मेरा अभिप्राय यह नहीं कि किसी सांस्कृतिक स्तर की संप्राप्ति के लिए मनुष्य को सामान्य सामाजिक जीवन से संन्यास लेना पड़े। हिंदू-संस्कृति में वान-प्रस्थ अथवा संन्यास आश्रम में प्रवेश करने से पहले गृहस्थ धर्म का निर्वाह करना आवश्यक था। गृहस्थाश्रम की आयु 50 वर्ष निर्धारित की गई थी जिस अवस्था तक व्यक्ति अपने पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन का निर्वाह करता था, साथ ही साथ जीवन की समस्त सुख सुविधाओं का भी उपयोग कर लेता था। संस्कृति जीवन से पलायन नहीं, जीवन संघर्षों से कायरतापूर्ण छुटकारे का प्रयास नहीं, अपितु जीवन की समग्र और व्यापक स्वीकृति है। संस्कृति में ऐसे दंभ को कोई स्थान नहीं जो व्यक्ति को ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों के आधार पर अपने को दूसरों से अधिक महत्वपूर्ण अथवा दूसरों को अपने से तुच्छ, हीन, असंस्कृत मानकर सामाजिक अलगाव की प्रेरणा देता हो। शेष मानव समाज से अपने आप को अपृथक रूप से जुड़ा हुआ मानना ही संस्कृति का प्रमुख लक्षण है। जुड़ाव की भावना सामाजिक दुःख-द्वंद्वों के प्रति व्यक्ति को संवेदनशील बनाती है, संवेदनशीलता सहानुभूति को और सहानुभूति त्याग, बलिदान और सेवा की श्रेष्ठतम वृत्तियों को प्रोत्साहित करती है। सिद्धार्थ ने यदि व्यक्तिगत दुःख से दुखी होकर राज्य से पलायन किया होता तो वे बोधिसत्व कभी प्राप्त नहीं कर सकते थे। बुद्ध ने अपने चारों ओर दुःख और संताप का अनुभव करके लोकपीड़ा से द्रवीभूत होकर उसका हल तलाश करने के लिए आत्म निर्वासन स्वीकार किया था। मानव-समाज इसीलिए उन्हें भारतीय संस्कृति का एक प्रकाश स्तंभ स्वीकार करता है। मुहम्मद और ईसा की प्रभुता लोक मंगल की भावना में निहित है। सामाजिक सुख-दुःख से अलगाव की भावना आज के जीवन का एक अभिशाप है और यह सांस्कृतिक अधःपतन का सूचक है।

जब मैं संस्कृति, सांस्कृतिक चेतना और सांस्कृतिक मूल्यों की बात कर रहा हूँ तो इस पृथ्वी के मानव की ज्ञान-विज्ञान, मानविकी और कला की उपलब्धियों को नज़र-अंदाज़ नहीं कर रहा। आधुनिक मानव-समाज ने ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों

में जो नए कीर्तिमान स्थापित किए हैं, जीवन के संरक्षण, सुख-विस्तार, मनोरंजन और सुख-सुविधाओं की उपलब्धियों में आधुनिक आविष्कारों ने जो योगदान दिया है, वे सब उपलब्धियाँ उन तपस्वियों की तपस्या के फल हैं, जिन्होंने भौतिक जगत् के सत्य की खोज में अपना जीवन अर्पित किया। जिस प्रकार प्राचीन ऋषि मुनि अरण्य में निवास करके आध्यात्मिक सत्य की खोज में अपना जीवन अर्पित किया करते थे और उस खोज के परिणामस्वरूप उन्हें जो गौरव और सामाजिक सम्मान प्राप्त हुआ करता था, आधुनिक विज्ञानी, समाजशास्त्री और कलाशिल्पी उसी गौरव और सम्मान के अधिकारी हैं। किंतु मूल प्रश्न सामाजिक उद्देश्य का है। जो सत्यान्वेषी मानव-समाज को खंडों में विभक्त करके देखता है। जो किसी विशेष मानव समूह की हित-कामना और दूसरे समूह के विनाश अथवा पराभव के उद्देश्य से भौतिक शक्तियों का अनुसंधान करता है उसे हम सच्चे अर्थ में 'सुसंस्कृत' नहीं कह सकते। वर्तमान मानव-समाज कुछ ऐसे परस्पर विरोधी, परस्पर प्रतिस्पर्धी खेमों में बँट गया है कि समग्र मानवता की मंगल-कामना विरोध, अविश्वास, संदेह और प्रतिस्पर्धा के कुहासे में ढक गई है। प्रस्तुत अध्ययन में इसीलिए इन उपलब्धियों को सांस्कृतिक चर्चा में स्थान नहीं दिया गया है। फिर भी इस बात को निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि संस्कृति और सांस्कृतिक चेतना की परिधि जीवन की समग्रता में परिव्याप्त है। समग्र चिंतन में प्रत्येक उपलब्धि को तुलनात्मक मूल्य अवश्य प्रदान किया जा सकता है, किंतु बहिष्कार किसी का नहीं किया जा सकता। संस्कृति का व्यास वस्तुतः उतना ही विस्तृत नहीं है जितना मनुष्य उपलब्ध कर चुका है। अपितु उसकी परिधि वहाँ तक है जिसके लिए मानव-आत्मा प्रयत्नशील है, किंतु जिसे वह प्राप्त नहीं कर सकी है।

भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति की झांकी हमें भारत के महिमामय भूगोल, दर्शन, धर्म, संतों की प्यार भरी, किंतु क्रांतिकारी वाणी, लोकपर्व, लोकसंगीत और लोक-साहित्य में मिलती है। अथवा यह कहना चाहिए कि इनका समन्वित रूप ही भारतीय संस्कृति है।

इस संस्कृति के विकास में जितना उत्तरापथ का योगदान है उतना ही दक्षिणा-पथ का और उतना ही अरण्यवासी जन-जातियों का। भारतीय संस्कृति के विकास में आर्य, द्रविड़, यक्ष, नाग, किन्नर, शक, हूण, आभीर, गुर्जर, जाट, पारसीय, पठान, मुसलमान, ईसाइयों आदि सब का योगदान है। भारतीय जीवन वस्तुतः एक मिला-जुला परिवार है जिसका प्रत्येक सदस्य अपनी विशिष्टता को बिना खोए, समष्टिगत एकता की श्री-वृद्धि करता है। जीवन के प्रति समन्वयकारी उदार दृष्टि, सहिष्णुता और जीओ तथा जीने दो के सिद्धांत भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

मानव-संस्कृतियों की महान धाराएँ मूल भारतीय संस्कृति की जाह्नवी में आकर मिलती रहती हैं, उसे गति तथा नवजीवन प्रदान करती रहती हैं। जड़ता और रूढ़िवादिता का शैवाल नवीन सांस्कृतिक विचार धाराओं से छोंटता रहा है। इसीलिए उसका प्रवाह न तो कभी टूटा है और न वह गड्ढे में भरे जल के समान स्थिर अथवा गतिहीन हुआ है। आज भी वह संक्रांति के दौर से गुजर रही है और अपने आप को समयानुकूल बनाने की दिशा में प्रयत्नशील है।

भारत की एकता को बनाने में जितना योग इतिहास ने दिया है उसको स्थिर बनाने में उतना ही योग यहाँ के भूगोल का भी रहा है। उत्तर में अजेय हिमवान और तीन ओर से गंभीर सागर से घिरा रहने के परिणामस्वरूप भारतीय प्रायद्वीप अपनी सांस्कृतिक एकता को मजबूत करने में सफल हो सका है। समय-समय पर दुर्दांत समूहों के भारत पर आक्रमण हुए, किंतु सप्तसिंधु की निर्मल धाराओं में निमज्जन करने के पश्चात् वे समूह भारतीय महा जीवन में घुलमिल कर एकमेल हो गए। भारत की मिट्टी, यहाँ का अन्न-जल, यहाँ का वातावरण कुछ ऐसा प्रभावकारी है कि यहाँ जो आया वह यहीं का हो गया।

हमारे देश में 15 विकसित भाषाएँ हैं। इन भाषाओं की अपनी-अपनी महान साहित्यिक-सांस्कृतिक परंपराएँ हैं। इन परंपराओं के निर्माण में वेद, उपनिषद्, आस्तिक दर्शन, महाभारत, रामायण और पुराणों का महत्वपूर्ण योगदान है। पुराण साहित्य ने भारतीय कवियों की कल्पनाओं को नूतन सृजन की प्रेरणा दी है। रामायण और महाभारत ने नैतिक आदर्श प्रदान किए हैं तथा वेदों और उपनिषदों ने कवियों को जीवन दृष्टि प्रदान की है। इसलिए भारतीय भाषाओं और साहित्य के द्वारा भिन्नता में एकता का प्रतिपादन संभव हो सका है।

एक रामायण को ही लीजिए। उसमें उत्तरापथ और दक्षिणापथ की सांस्कृतिक इकाइयों में सेतुबंध का प्रयास तो किया ही गया है, साथ ही कोल-किरात और अरण्य-वासी (किष्किंधा वासी) जनजातियों की सांस्कृतिक छटा का भी उसमें महत्वपूर्ण योगदान है। राम भारतीय संस्कृति के मूर्तिमान स्वरूप हैं। राम के व्यक्तित्व में कुछ ऐसा आकर्षण है कि भोली भाली जनजातियाँ उनके प्रति अनायास आत्मसमर्पण कर देती हैं।

भारतीय कवियों को राम के धर्मविग्रह ने इतना आकृष्ट किया कि प्रायः सभी भारतीय भाषाओं के कवियों ने उस विग्रह की अवतारणा अपनी-अपनी भाषाओं में करके अपने आप को तथा अपनी भाषा को समृद्ध किया है। तमिल भाषा में कम्बन, तेलुगु में रंगनाथ और भास्कर, कन्नड में नाग चन्द्र और मलयालम में एषुत्तच्छन ने राम कथाएँ रचीं। उत्तरापथ की भाषाओं में तुलसी का रामचरित मानस, हिंदी जनता का वेद है, धर्मशास्त्र, नीतिग्रंथ है और है आध्यात्मिक जिज्ञासा के परितोष का प्रमुख आलोक स्थान। इसी प्रकार मराठी के मोरो पंत की रामायण, बंगला की कृत्तवास रामायण, असमिया के माधव कंदिल की रामायण और ओड़िया के सरलदास और बलराम दास की रामायणें घर-घर में पढ़ी जाती हैं। लोकगीतों और सामाजिक उत्सवों में राम-सीता, लक्ष्मण के गीत सारे देश में गाए जाते हैं।

रामायण के समान ही महाभारत का प्रचार भी देश व्यापी है। राष्ट्रीय जीवन की शायद ही कोई समस्या रही हो जिसके समाधान का उपाय महाभारत में न खोजा गया हो। भारत की प्रत्येक भाषा में कहानी, नाटक, प्रबंध काव्य, खंडकाव्य आदि विभिन्न साहित्यिक विधाओं में महाभारत की कहानी गाई गई है। सामाजिक जीवन की नवीन समस्याओं का समाधान भी महाभारत के आधार पर अथवा महाभारत के माध्यम से खोजने का प्रयास किया गया है। भारतीय संस्कृति को एकता के सूत्र में बाँधे रखने में रामायण और महाभारत ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

भारत ने सांस्कृतिक ह्रास के दिन भी देखे हैं। भारतीय जीवन में सदा वसंत की बहार और शरद की शीतल चाँदनी ही नहीं छिटकी रही। बाह्य आक्रमणों के लू-थपेड़े और आंतरिक संघर्षों के शिशिर की झंझा के हड्डियों को कँपा देने वाले झोंके भी

उसने सहे हैं। किंतु जैसे पुरवा के झोंके लू से झुलसी हुई वसुंधरा को नवजीवन का संदेश देते हैं उसी प्रकार भारत की मिट्टी समय-समय पर ऐसे महापुरुषों, संतों, सुधारकों को जन्म देती रहती है जिनके उपदेशों की पियूष वर्षा से सामाजिक कल्पष का विष शांत हो रहा है। भारतीय संस्कृति की उदारता बहुत कुछ इन्हीं संतों की देन है।

महावीर, गौतम बुद्ध, शंकर, रामानुज, नानक, कबीर, ज्ञानदेव, तुलसी जैसे अनेक नामों की सूची प्रस्तुत की जा सकती है जिन्होंने भारतीय संस्कृति की डगमगाती हुई नैया की पतवारों को थामा और उसे अनुकूल दिशा प्रदान की। भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता उसका सातत्य अथवा अक्षुण्ण प्रवाह है। इस पृथ्वी पर अनेक महान संस्कृतियाँ उपजीं, फली-फूलीं और विनष्ट हो गईं। उनका अब केवल नाममात्र शेष बचा है। किंतु भारतीय संस्कृति समय के थपेड़ों को झेलती हुई आज भी प्रवाहमान है। इस सातत्य का अजस्र स्रोत उसकी नमनीयता है। भारतीय संस्कृति की नमनीयता तथा परिवर्तनशीलता का विश्लेषण करते हुए डा० सी० पी० रामस्वामी अय्यर 'हिंदू धर्म और संस्कृति के मौलिक तत्व' में लिखते हैं :

'भारतीय संस्कृति बिना प्राचीन विचारों को खोए प्रत्येक नवीन विचार को आत्मसात कर सकती है, जिसका अंतिम परिणाम यह होता है कि विभिन्न और कभी-कभी विरोधी सांस्कृतिक प्रतिस्पर्धाएँ, धर्म और भावनाएँ आपस में सम्मिश्रित और समन्वित होकर एक जीवन व्यवस्था में सुग्रथित हो जाती हैं।'[1]

इसी प्रकार लंदन और हेग विश्वविद्यालयों के प्रोफेसर हेल ने भारतीय संस्कृति की नवीनताओं को आत्मसात करने की क्षमता तथा विविधता में एकता की खोज की उन्मुक्त शब्दों में प्रशंसा की है।[2]

वर्तमान समय में भारतीय जीवन और संस्कृति एक संक्रमणशील युग से गुजर रही है। एक ओर वैज्ञानिक भौतिकवादी और औद्योगिक विकास है जो जीवन और संस्कृति के परंपरागत मूल्यों को यदि पूरी तरह नकार नहीं रहा तो उनके सामने प्रश्न चिह्न अवश्य लगा रहा है। दूसरी ओर हमारी समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा है। अतः आशंका इस बात की है कि हम नवीन को बिना स्वीकार किए कहीं प्राचीन को भी न खो बैठें और त्रिशंकु के समान अधर में लटकते बाले बन जाएँ। दूसरी ओर भारतीय संस्कृति और जीवन पद्धति पर अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव भी तेजी से पड़ रहा है। आज का नव शिक्षित युवक धनवान पाश्चात्य देशों की अंधी नकल करने में अथवा साम्यवादी देशों की वर्गसंघर्ष और वर्गघृणा की ओर खिंचकर हिंसा और तोड़-फोड़ की प्रवृत्तियों में उलझ रहा है। उसे न तो अपनी संस्कृति की महान परंपराओं का ज्ञान है और न राष्ट्र के समक्ष उपस्थित चुनौतियों का ही ठीक-ठीक एहसास है। इसलिए नवीन और प्राचीन में विवेकपूर्ण सामंजस्य की जितनी आवश्यकता आज है उतनी कदाचित् प्राचीन युगों में नहीं रही हो। कारण, आज की दुनिया के जीवन की गति इतनी तेज हो गई है,

मूल्य और मान्यताएँ इतने शीघ्र परिवर्तित हो रही है कि उन पर मानव के मार्ग की [illegible] करना कठिन हो गया है। अतः [illegible] आवश्यक है उतना ही अपने आपको पहचानना भी।

भारतीय संस्कृति के निर्णायक घटक

भौगोलिक परिवेश

1. भारत का संक्षिप्त परिचय :

अंग्रेजी शासन से मुक्त होने के साथ (15 अगस्त, 1947 ई.) ही प्राचीन भारत को दो भागों (भारत, पाकिस्तान पश्चिमी, पूर्वी, आजकल बंगला देश) में विभक्त होना पड़ा। राजनैतिक दृष्टि से भारत, पाकिस्तान तथा बंगला देश चाहे तीन अलग-अलग देश क्यों न हों, किंतु इतिहास तथा भूगोल की दृष्टि से तीनों देश एक ही उपमहाद्वीप 'भारतवर्ष' के अंग हैं। इस प्रकार भारत की भौगोलिक सीमा (तीनों देशों सहित) 8°–7° उत्तरी अक्षांस, 61°–96° पूर्वी देशांतर के बीच लगभग 3000 किलोमीटर लंबी और 3000 किलोमीटर चौड़ी है। इस प्रकार क्षेत्रफल में यह भू ग्रेटब्रिटेन से लगभग 15 गुना है।

इस विशाल भूभाग की वृहत्तर भारत के रूप में कल्पना की जाती रही है। वैदिक साहित्य में पृथ्वी सूक्तों एव नदी सूक्तों में आर्य देश की भौगोलिक एकता तथा अखंडता का परिचय मिलता है। पुराणकाल में संकल्प के समय प्रत्येक भारतवासी अपने स्नान या दान के संकल्प वाक्य में देश, काल तथा कर्म का एक साथ योग कर स्वयं को वृहत्तर भारत का एक प्राणी बतला कर गर्व का अनुभव करता था। यथा—स्नान के समय का यह मंत्र—

> गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ।
> नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ।।

महाकवि कालिदास ने शिव की अष्टमूर्तियों की उपासना के प्रति जो अपना विशेष आग्रह दिखाया है उसका प्रमुख कारण है कि कालिदास के हृदय में अखंड भारत का प्रतिबिंब प्रतिक्षण निवास करता था। स्वतंत्र भारत के राष्ट्रगीत में भी यही भौगोलिक एकता प्रदर्शित की गई है। प्राचीन भूगोलवेत्ताओं ने भारतवर्ष को 'चतुः संस्थान-संस्थितम्' कहा है। अर्थात् इसके पूर्व, दक्षिण तथा पश्चिम में महासागर है तथा उत्तर में हिमवर्त पर्वत धनुष के आकार में फैला हुआ है। विष्णु पुराण में इसी तथ्य को इन शब्दों में प्रकट किया गया है—

> उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम् ।
> वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र संततिः ।।

अर्थात् वह देश जो कि समुद्र के उत्तर में तथा हिमालय के दक्षिण में स्थित

है. 'भारत' के नाम से पुकारा जाता है, जहाँ की संतान (वंशज) 'भारती' कहलाती है। आर० सी० मजूमदार के अनुसार—'आध्यात्मिक पंडितों, राजनीतिज्ञों तथा कवियों के मानस में एकता की यह भावना सर्वदा प्रस्तुत थी। उन लोगों ने हिमालय से लेकर समुद्र तक विस्तृत सहस्र योजन भूमि को एक ही सार्वभौम सम्राट् का राज्य होने योग्य लिखा है तथा उन राजाओं का यशोगान किया है जिन्होंने अपने राज्य के उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में सेतुबंध रामेश्वरम तक तथा पूर्व में ब्रह्मपुत्र की तराई से लेकर पश्चिम में सिंधु के सात मुखों के बाहर की भूमि तक फैलाने का प्रयत्न किया है।'

वैदिक काल से लेकर 18वीं सदी तक भारत में अनेक एकराट्, चक्रवर्ती, महाराजाधिराज की उपाधियाँ धारण करने वाले प्रतापी सम्राट् हुए हैं। अश्वमेध तथा दिग्विजय का आयोजन इस दिशा में सफलता प्राप्त करने के लिए होता था। महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य के अनुसार हिमालय से समुद्र तक फैले प्रदेश के अधिकारी को 'चक्रवर्ती' कहा जाता था। दिनकर के अनुसार धर्म की दृष्टि से सारा भारत आरंभ से ही संसार के सभी प्रमुख धर्मों की सम्मिलित भूमि रहा है। प्रत्येक भारतीय चाहे वह हिंदू हो या मुसलमान, सिक्ख हो या ईसाई—विदेशियों की दृष्टि में भारतीय है। देश के इतिहास के प्रत्येक युग में एक न एक भाषा सर्वसाधारण का प्रतिनिधित्व करती हुई भारत को एक राष्ट्र के रूप में बाँधती रही है। इस देश के निवासियों तथा बाहर से आने वाली जातियों के मध्य इस ढंग से मिश्रण हुआ है कि आज उनको बिलकुल अलग-अलग कर सकना अत्यंत कठिन है। अतः नस्ल तथा भाषा की विविधता के होते हुए भी प्रायः संपूर्ण भारत के निवासी एक प्रकार की सामाजिक रचना रखते हैं। इस प्रकार हमारे देश में विविधता तथा विभिन्नताओं के होते हुए भी एक अटूट एकता युगों से चली आ रही है। इस एकता को बनाए रखने वाले उपकरण ये रहे हैं—धर्म-प्रचारक तथा संत, पर्यटक छात्र, महत्त्वाकांक्षी सम्राट्, धार्मिक यात्राएँ, सर्वसामान्य तथा धार्मिक क्रियाकलापों, संस्कारों की भाषा, यातायात के विविध साधन।

भारत के इन सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक इतिहास को देश की भौगोलिक स्थिति ने पर्याप्त मात्रा में प्रभावित किया है। सत्य तो यह है कि भारत के इतिहास के विविध पक्षों को ठीक प्रकार से समझने के लिए भारत की भौगोलिक स्थिति को ठीक प्रकार से समझना उचित ही नहीं, अनिवार्य भी है।

2. भारत की भौगोलिक स्थिति :

भारत के प्राकृतिक मानचित्र पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर निम्नलिखित भौगोलिक स्थिति का परिचय मिलता है :

1. **स्थिति**—यह देश एशिया महाद्वीप के दक्षिण के दो प्रायद्वीपों (अरब, और हिंद-चीन) के मध्य में स्थित है। इसके पश्चिम में अरब प्रायद्वीप तथा पूर्व में हिंद-चीन प्रायद्वीप है।

2. **आकार**—अनंत विशाल आकार वाला यह देश एक छोटा महाद्वीप (उपमहाद्वीप) तक कहा जाता है।

3. **सीमा**—यद्यपि समय-समय पर इस विशाल देश की राजनैतिक सीमाएँ परिवर्तित होती रही हैं, किंतु इनकी सुनिश्चित भौगोलिक या प्राकृतिक सीमाएँ इतिहास के आरंभ काल से आज तक अपरिवर्तित हैं। इसके उत्तर-पूर्व, उत्तर तथा उत्तर पश्चिम में हिमालय की पर्वत-मालाएँ हैं तथा दक्षिण-पूर्व, दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम में समुद्र, (बंगाल की खाड़ी, हिंद महासागर, अरबसागर) हैं जिनमें अनेक द्वीप पुंज हैं।

4. **प्राकृतिक विभाग**—विशाल भारत को प्राकृतिक दृष्टि से प्रमुख पाँच भागों में विभक्त किया जाता है :

(1) उत्तर का पर्वतीय या हिमाचल प्रदेश, (2) उत्तर की नदियों (गंगा, सिंधु तथा इन की सहायक नदियों) का समतल तथा उपजाऊ मैदान, (3) राजस्थान का मरुस्थल (४) विंध्य पर्वतमाला तथा दक्षिण का पठारी प्रदेश, (5) पश्चिमी तथा पूर्वी तटीय मैदान और सागर स्थित द्वीप।

5. **धरातल**—भारत के उपर्युक्त प्राकृतिक विभागों के धरातल में पर्याप्त वैषम्य है। संसार की सर्वोच्च पर्वत-चोटियाँ; विस्तृत, विशाल समतल मैदान; ऊँचा-नीचा पठारी भूभाग तथा अपर बालुकामय भूभाग इस देश में वर्तमान हैं। इन विविध प्रकार के धरातलों में विभिन्न प्रकार की मिट्टियाँ पाई जाती हैं :

नदियों द्वारा लाई गई मिट्टी, काली मिट्टी, पीली मिट्टी, लाल मिट्टी तथा बलुई मिट्टी।

6. **जलवायु**—भारत की जलवायु 'मानसूनी' वर्ग की होते हुए भी पर्याप्त विविधतापूर्ण है। देश के विभिन्न भागों के तापक्रम तथा वर्षा में काफ़ी भिन्नता पाई जाती है। शीत, ऊष्ण तथा शीतोष्ण प्रकार की जलवायु से युक्त इस देश की सामान्यतः गर्म देशों में गणना की जाती है।

7. **वनस्पति तथा खनिज**—जलवायु तथा भूमि की विविधता के आधार पर यहाँ के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार की वनस्पतियाँ (वन, घास, झाड़ियाँ) पाई जाती हैं। देश के विभिन्न भूभागों में विविध प्रकार की खनिज संपदा भरी पड़ी है।

3. भौगोलिक स्थिति का भारतीय जीवन पर प्रभाव :

भारत की भौगोलिक स्थिति ने भारतीय जीवन को विविध रूपों में प्रभावित किया है। भौगोलिक स्थिति की भिन्नता में यहाँ के निवासियों के रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, दर्शन, राजनीति, साहित्य आदि को विशेष रूप से प्रभावित किया है। यहाँ की भौगोलिक विभिन्नताओं ने यहाँ के इतिहास तथा संस्कृति को विशेष मोड़ दिया है। आर० सी० मजूमदार, दत्त तथा राय चौधरी के अनुसार, 'संसार के अन्य देशों की भाँति अधिक अंशों में भारतीय इतिहास का क्रम भौगोलिक स्थिति से निर्धारित

है। इस देश के प्रत्येक प्रादेशिक विभाग, जिसे प्रकृति ने बाँध रखा है, की अपनी अलग-अलग कहानी है। विभिन्न प्रकार की भौगोलिक परिस्थितियों का भारतीय जीवन पर जो अच्छा-बुरा, एकांगी या सर्वांगीण प्रभाव पड़ा है उसे अलग-अलग देखने का प्रयास किया जाएगा।

3. स्थिति, आकार तथा सीमा का प्रभाव :

भारत की मध्यवर्ती स्थिति का प्रभाव उसके अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र पर पड़ा है। प्राचीन काल से ही भारत का पश्चिमी तथा पूर्वी एशिया के देशों (अरब, फारस, अफगानिस्तान, लंका, बर्मा, कम्बोडिया, चीन, तिब्बत आदि) के साथ कूटनीतिक, व्यापारिक तथा सांस्कृतिक संबंध चला आया है। इस देश के विशाल आकार के कारण विभिन्न भागों के सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन में बड़ी भिन्नता रही है। आकार की विशालता ने भारतीयों के खान-पान, वेश-भूषा, बोल-चाल, आचार-विचार, व्यवहार आदि जीवन के विविध क्षेत्रों में काफ़ी वैविध्य उत्पन्न कर दिया है। इस विविधता को एकता में परिणित करनेवाला तत्व भौगोलिक सीमा है। शताब्दियों से एक निश्चित भू-भाग में रहने के कारण विभिन्न जातियों (आग्नेय, वन-जाति, द्रविड़, आर्य, ईरानी, यूनानी, शक, यूची, हूण, मुसलमान, यूरोपीय) तथा विभिन्न धर्मों के होते हुए भी भारतीय वेश-भूषा, आचार-विचार, रीति-रिवाज तथा खान-पान में काफ़ी साम्य है।

2. प्राकृतिक विभागों का प्रभाव :

भारत के प्राकृतिक विभागों की भूमिका प्राचीन भारत के इतिहास के निर्माण में बहुत महत्वपूर्ण रही है। हिमालय का गुणगान भारतीय साहित्य में हिम और शांति के निवास-स्थान के रूप में किया जाता रहा, तो विंध्याचल को बहुत दिनों तक उत्तर तथा दक्षिण के मध्य विभाजन-रेखा के रूप में स्वीकार किया जाता रहा। प्रत्येक प्राकृतिक विभाग का भारतीय जन-जीवन तथा इतिहास पर उसके अनुरूप प्रभाव पड़ता रहा है।

3.2.1 हिमालय प्रदेश :

इस पर्वतीय प्रदेश का भारतीय जीवन के लगभग सभी पक्षों (राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक) पर गहरा प्रभाव पड़ा है। उत्तरी सीमा की 650 कि. मी. लंबी, अति उच्च तथा हिमाच्छादित पर्वतमाला एक सजग प्रबल प्रहरी तथा संरक्षक का कार्य करती रही है। इस पर्वतमाला की अगम तथा दुर्गम ऊँचाइयों ने प्राय: विदेशी आक्रमणकारियों को भारत पर आक्रमण करने के लिए हतोत्साहित किया है। किंतु उत्तर-पश्चिमी भाग के चौड़े पर्वतीय भागों ने भारतवासियों के सम्मुख सीमा की सुरक्षा तथा वाह्‌य आक्रमणों की समस्या को सदैव प्रस्तुत किया है। भारत पर हुए अनेक विदेशी आक्रमणों तथा विदेशी शासन के लिए ये पर्वतीय मार्ग बहुत-कुछ उत्तरदायी कहे जा सकते हैं।

यह प्रदेश समस्त उत्तरी मैदानी भूभाग को उत्तर की शीतल तथा शुष्क हवाओं से सुरक्षा प्रदान करता है। इस प्रदेश की कृपा से मानसूनी हवाएँ देश की सीमा से बाहर नहीं जा पातीं और इस प्रकार वर्षा. वर्षा के पानी से बनी हुई नदियाँ अपने साथ उपजाऊ मिट्टी लाकर समस्त उत्तरी भारत को उर्वर बनाती रहती हैं। इस प्रदेश में पाए जाने वाले प्रचुर खनिज पदार्थ तथा वन-संपदा ने भारत के आर्थिक जीवन को उच्च बनाने में बड़ा योगदान दिया है।

भारतीयों के सामाजिक, दार्शनिक, नैतिक तथा आर्थिक विकास में हिमालय ने विशेष प्रभाव डाला है। हमारे ऋषि, मुनि हिमालय की कंदराओं में आकर चिंतन करते तथा समाधि लगाते रहे और इसके उत्तुंग, निर्मल शिखरों से जीवन में उत्साह ग्रहण करते रहे। इस प्रदेश में अनेक रमणीय, दर्शनीय तथा स्वास्थ्य वर्द्धक स्थान हैं। यथा—मसूरी, नैनीताल, रानीखेत, शिमला, श्रीनगर, शिलौंग आदि। मजूमदार ने इस प्रदेश के महत्व के विषय में इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं।[3]

3.2.2 उत्तरी मैदान :

पंजाब से लेकर बंगाल तक फैले हुए इन उर्वर मैदानों का जितना व्यापक तथा गहरा प्रभाव भारत के इतिहास तथा भारतीय जीवन के विविध पक्षों (राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक) पर पड़ा है, उतना किसी अन्य भौगोलिक परिस्थिति में नहीं। उपजाऊ प्रदेश होने के कारण एक ओर यह भूभाग युगों तक विदेशी आक्रमणकारियों के आकर्षण का केंद्र बना रहा, तो दूसरी ओर यहाँ के लोगों के पास पर्याप्त अवकाश प्राप्त होने के कारण साहित्य, कला, दर्शन के उत्कर्ष को अवसर मिलता रहा है। इसीलिए संसार-प्रसिद्ध विश्वविद्यालय (तक्षशिला, नालंदा) यहाँ स्थापित हो सके। समस्त भारत को प्रभावित करने वाले आर्य ग्रंथ शास्त्र, स्मृति, पुराण तथा बौद्ध और जैन ग्रंथों का अधिकांश इसी भूभाग की देन है। बड़े-बड़े मंदिर, मस्जिद, राजभवन तथा विश्वविख्यात ताज, नगरनाडग इसी भूभाग पर निर्मित हुए। लगभग सभी धार्मिक क्रांतियों या धर्मसुधार के आंदोलनों का प्रचार-प्रसार इसी क्षेत्र से हुआ है।

बड़े-बड़े साम्राज्यों का उत्थान तथा पतन इन्हीं मैदानों में हुआ है। बड़े-बड़े निर्णायक युद्धों (कुरुक्षेत्र, पानीपत, तरावड़ी, प्लासी आदि) का स्थान ये मैदान ही रहे हैं। बड़ी-बड़ी राजधानियों (लाहौर, दिल्ली, आगरा, पाटलिपुत्र) का गौरव इन्हीं मैदानों में चमका है। आर्यों की चतुर्वर्ण-व्यवस्था, चार आश्रम, संयुक्त परिवार प्रथा का प्रादुर्भाव भी यहीं हुआ, साथ ही छूआछूत की भावना का अंकुर भी इन मैदानों में पल्लवित हुआ। सिंचाई की सुविधा के कारण यहाँ के लोगों का मुख्य पेशा कृषि और पशुपालन रहा है। नदियों के जल तथा समतल मैदान के कारण यहाँ यातायात की सुविधा रही है। अतः व्यापार और उद्योग-धंधों की प्रगति होने के कारण यह

प्रदेश धन-धान्य पूर्ण रहा है। भारत को सोने की चिड़िया के रूप में देखनेवाले विदेशियों की निगाहें इन्हीं मैदानों पर टिकती थीं। इस अत्यंत उर्वर प्रदेश के लोगों को जीविकोपार्जन के लिए अधिक संघर्ष नहीं करना पड़ा। अतः वे आरामतलबी तथा विलासी भी रहे हैं।

3.2.3 मरुस्थल :

कच्छ से उत्तर-पूर्व की ओर लगभग 600 कि. मी. लंबे तथा 225 कि. मी. चौड़े क्षेत्र में फैले इस प्रदेश में अरावली की दुर्गम पहाड़ियाँ हैं जिनके कारण बोलन तथा खैबर की ओर से आने वाले आक्रमणकारियों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। इन मरुस्थल विशेषतः अरावली पहाड़ियों को अपना शरणस्थल बना कर राजपूतों ने मध्ययुगीन भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति की रक्षा की थी जिससे हिंदू-संस्कृति अपने मूल रूप में सुरक्षित रह सकी। मरुस्थल के कठिन जीवन ने महाराणा प्रताप तथा उनके वंशजों को इतना वीर, निर्भीक, परिश्रमी तथा दृढ़ किया था कि वे एक लंबे अरसे तक मुगलों का सामना करते रहे। राजपूतों के जातीय गुणों (यथा—शूरता-वीरता, आन-रक्षा, शत्रु को पीठ न दिखाना, दृढ़ता आदि) का विकास इसी भूभाग में हुआ था। मरुस्थल की कठिनाइयों तथा राजपूतों की बहादुरी के कारण मुसलमान इस भूभाग पर सरलतापूर्वक अपना अधिकार न कर सके।

3.2.4 पठारी प्रदेश :

त्रिभुजाकार इस भू-खंड को विंध्याचल तथा सतपुड़ा-पर्वत श्रेणियों ने गंगा के मैदान से अलग कर रखा है। पर्वतमाला, दंडकारण्य तथा महाकांत नामक विशाल सघन वनों से आच्छन्न इसकी उत्तरी सीमा सहस्रों वर्षों तक अगम रही और इस कारण उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के मध्य सांस्कृतिक समागम प्राचीनकाल में अधिक नहीं हो सका था। पूर्वी घाट तथा पश्चिमी घाट से घिरा हिमालय से भी पुराना यह भूभाग वर्षा के लिए तरसता रहता है। गर्म जलवायु में बसे यहाँ के लोगों को सीमित साधनों के सहारे जीविका के लिए बड़ा कठिन परिश्रम करना पड़ता है। इस प्रदेश की भौगोलिक परि-स्थितियों का प्रभाव भारत के राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक इतिहास पर काफ़ी गहरा पड़ा है। उत्तरी भारत से युगों तक पृथक् रहने के कारण इस भूभाग में एक ऐसी सभ्यता-संस्कृति (द्रविड) का विकास होता रहा जो उत्तरी भारत की सभ्यता-संस्कृति (आर्य) से बहुत-सी बातों में भिन्न थी। इस प्रदेश में स्वतंत्रता प्राप्ति पूर्व तक छोटे-छोटे राज्य विद्यमान रहे जिन्होंने अपने स्वतंत्र अस्तित्व को बनाए रखने का सदैव प्रयत्न किया। दक्षिण की भौगोलिक स्थिति के परिणामस्वरूप उत्तरी भारत से बहुत दिनों तक विलग रहने के कारण इस भूभाग के जातीय तत्व, व्यवसाय, भाषाएँ, खान-पान, वेशभूषा, सामाजिक रीति-रिवाज, उत्सव, त्योहार, धार्मिक भावनाएँ आदि उत्तर भारत से भिन्न रहीं।

पठारी प्रदेश होने के कारण यहाँ की भूमि अनुर्वर तथा कृषि के अयोग्य है। जीविकोपार्जन के लिए कठिन परिश्रम करने के कारण यहाँ के लोग परिश्रमशील तथा कर्मठ स्वभाव के हैं। समुद्र के निकट के लोग प्राचीन काल से विदेशों के साथ व्यापार करते रहे हैं। इस भू-भाग में उत्तर भारत की अपेक्षा जातीय मिश्रण भी बहुत कम हुआ है।

3.2.5 तटीय मैदानी प्रदेश :

पश्चिमी तथा पूर्वी घाट और समुद्र के मध्य का भू-भाग तटीय मैदानी प्रदेश है जहाँ पर्याप्त वर्षा होती है। यह भूभाग काफ़ी उपजाऊ है, अतः घनी आबादी है। पश्चिमी तटीय प्रदेश का उत्तरी भाग कोंकण तथा दक्षिणी भाग मालाबार या केरल कहलाता है। मसालों की उपज के कारण प्राचीन काल से विदेशों के लोग यहाँ से व्यापार करने के लिए लालायित रहे हैं। अतः यह भाग विभिन्न जातियों, धर्मों, सभ्यताओं और संस्कृतियों का संगम-स्थल बन गया है। यूरोपवासी समस्त भारत में फैलने से पूर्व सबसे पहले इसी तटीय प्रदेश में आकर बसे थे। इस प्रदेश के बंदरगाहों के माध्यम से भारत के अन्य देशों को राजनैतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक संबंध स्थापित हुए। चीन, जावा, सुमात्रा, कंबोडिया आदि को यहाँ से व्यापारी ही नहीं गए, बल्कि अनेक बौद्ध भिक्षु भी गए। उन्होंने विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार किया।

3.2.6 सागर तथा द्वीप :

भारत के तीन ओर स्थित समुद्र ने शताब्दियों तक भारत को बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित रखा। सागरस्थित द्वीपों को निर्वासित राजकुमार आदि ने अपना शरण-स्थल बनाया तथा अपनी राज-संस्थाएँ स्थापित की थीं। द्वीपों की उपज के व्यापारिक महत्व के कारण दक्षिण भारत के लोगों की जल-यात्रा तथा सामूहिक व्यापार में रुचि बढ़ी। सागरों तथा द्वीपों के कारण भारत का विदेशों से जो व्यापारिक तथा सांस्कृतिक संबंध स्थापित हुआ उसके परिणामस्वरूप ही बृहत्तर भारत का स्वरूप सामने आया।

3.3 धरातल, जलवायु, वनस्पति तथा खनिज पदार्थ :

समतल मैदानों, मरुस्थल, पठारी तथा पहाड़ी भूभाग का देश के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन पर काफ़ी गहरा प्रभाव पड़ा है। लोगों के खान-पान, जीवन-स्तर परि-वहन/यातायात के साधनों, परिश्रमशीलता आदि में जो भिन्नता दिखाई देती है उसका एक कारण धरातल की भिन्नता भी है। मैदानों के लोग कम परिश्रमी, विलासप्रिय, साहित्य-कला प्रेमी अधिक हैं तो मरुस्थलों, पठारों तथा पहाड़ों के लोग अधिक कर्मठ, साहसी तथा संतोषी हैं। देश के जिस भूभाग की जैसी मिट्टी है, वहाँ की उपज भी वैसी ही है और वहाँ के लोगों के खान-पान की वैसी ही आदत बन चुकी है।

देश की मानसूनी जलवायु ने यहाँ के किसान को अपने हाथ की कठपुतली बनाकर उसे भाग्यवादी बनने के लिए विवश कर दिया है। अनावृष्टि, अतिवृष्टि, अल्पवृष्टि,

उच्च तापक्रम, निम्न तापक्रम, तुषारापात आदि तत्व उपज को पर्याप्त प्रभावित करते रहे हैं जिससे लोगों के खान-पान, रहन-सहन, श्रमशीलता में पर्याप्त अंतर पाया जाता है। देश की औसत जलवायु गर्म होने के कारण अधिकांश लोगों में प्रायः शारीरिक दुर्बलता, आलस्य तथा आरामतलबी रहती है।

बड़े-बड़े वनों के भूभागों में लकड़ी का व्यवसाय तथा लोहे और कोयले की खानों के क्षेत्रों में लोहे के कारखाने हैं। सोना, चाँदी, अभ्रक तथा अन्य खनिज पदार्थों के क्षेत्रों में तत्संबंधी उद्योग धंधे होते हैं। मात्रा में अधिक तथा गुणों में कम भारतीय जीव-संपदा का भी भारतीयों के जीवन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।

पड़ोसी देशों की स्थिति का भी भारत के राजनैतिक तथा सांस्कृतिक जीवन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। उत्तर-पश्चिम के लड़ाकू, किंतु निर्धन देशों के कारण भारत को सदैव उनके आक्रमणों का सामना करना पड़ा है, जबकि उत्तर-पूर्व तथा उत्तर में स्थित देशों के साथ भारत के सांस्कृतिक तथा व्यापारिक संबंध काफ़ी मधुर रहे हैं।

4. समाहारात्मक प्रभाव :

इस संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत की भौगोलिक परिस्थितियाँ उसके राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक आदि जीवन के विविध पहलुओं को युग-युगों से प्रभावित करती रही हैं और भारतीय जीवन का जो समग्र रूप हमें आज देखने को मिलता है वह भौगोलिक परिस्थितियों का परिणाम है। भारतीय संस्कृति के निर्णायक घटक के रूप में भौगोलिक परिवेश का जो समाहारात्मक प्रभाव भारतीय जीवन पर पड़ा है उसका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है :

बीसवीं शताब्दी से पूर्व तक यहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों के कारण राजनैतिक पृथकत्व की भावना पनपती रही। गहरी सरिताओं, विशाल मरुस्थल तथा दुर्गम सघन वन से घिरी ऊँची-नीची पर्वतमालाओं ने भूमि का जो विभाजन किया उसने देश को छोटी-छोटी राजनैतिक तथा सामाजिक इकाइयों में बाँट दिया। जिस भू-भाग में आवागमन के साधनों का जितना अधिक अभाव रहा उस क्षेत्र में उतनी ही अधिक पृथकता की भावना को पनपने का अवसर मिलता रहा। मानसूनी जलवायु ने यहाँ के निवासियों में भाग्यवादिता तथा दार्शनिकता की भावना का ऐसा अंकुर जमाया है जो आज के वैज्ञानिक युग में भी नहीं सूख सका है। विशाल भूभाग, स्वच्छ महाकाश तथा नक्षत्रों से परिपूर्ण नभमंडल भारतवासियों में स्वर्ग और उसके परे के बारे में ज्ञान प्राप्त करने की उत्सुकता को बढ़ावा देते रहे हैं। जीव, आत्मा तथा परमात्मा के अस्तित्व, स्वरूप तथा रहस्य संबंधी जटिल विषय पर चिंतन-मनन करने के लिए यहाँ की उर्वरा भूमि लोगों को अवसर प्रदान करती रही है।

भारत की भौगोलिक परिस्थितियों जहाँ के मूल निवासियों में एकत्व की भावना को बढ़ावा देती रहीं तो वे परिस्थितियाँ ही विविध जातीय विदेशी आक्रमणकारियों को भी बुलावा देती रही हैं। उत्तर-पश्चिम के दर्रे सब युगों में शांतिमय यातायात तथा उग्र आक्रमणों को बढ़ावा देते रहे हैं। अंग्रेजों तथा यूरोप की अन्य जातियों ने भारतीय समुद्रतट के द्वारा भारत में प्रवेश किया। इस सबका परिणाम आज हम सबके सामने है। अर्थात् आर्य, हिंदू, मुस्लिम, यूरोपीय सभ्यता का जैसा सुंदर तथा कलात्मक समन्वय भारत में देखने को मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

देश के विशाल आकार ने यहाँ यूनान के समान "नगर राज्यों" का जन्म नहीं होने दिया। अतः यहाँ प्रायः प्रादेशिक राज्यों का उद्भव होता रहा। यद्यपि भूगर्भशास्त्र के अनुसार भारत का दक्षिणी प्रदेश उत्तरी भारत के प्रदेश से प्राचीन है, किंतु दक्षिण का राजनैतिक इतिहास उतना प्राचीन नहीं है। उत्तरी भारत के गंगा-सिंधु का मैदान अपनी प्राकृतिक दशा के कारण भारतीय इतिहास में प्रमुख भूमिका अदा करता रहा है। देश की सामान्य भाषा इसी क्षेत्र की भाषाएँ (संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिंदी) रही हैं। इस क्षेत्र के धार्मिक आंदोलनों, धार्मिक साहित्य, कला आदि ने समस्त भारत को प्रभावित किया है। स्वतंत्रता आंदोलन में भी इस भूभाग का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। भारतीय जलवायु ने भारतीयों में सहिष्णुता और सरलता से किसी भी भिन्नता (धार्मिक, रीति-रिवाज, खान-पान, पहनावा, फैशन आदि) को ग्रहण करने की शक्ति भर दी है। भारतीयों में शांति-प्रियता तथा उदार विचारधारा का प्रभाव भी यहाँ की जलवायु का परिणाम है।

प्राकृतिक, सामाजिक, भाषागत, रीति-रिवाज तथा धर्म संबंधी इतनी पृथकता के होते हुए भी भारत को एक राष्ट्र तथा एक इकाई के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है। भारत की एकता में विविधताओं को स्वीकार करते हुए ही आज हम सामाजिक संस्कृति का विकास कर पाए हैं। वी. स्मिथ ने इसी एकता को स्वीकार करते हुए लिखा है—"भारत में वेश, वर्ण, वेशभूषा तथा रीति-रिवाज संबंधी विभिन्नताओं में भी एक अखंड सार्वभौमिक एकता है।"

भारतीय संस्कृति का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

भारतीय संस्कृति का उत्स प्राग् ऐतिहासिक काल के उस निविड़ अंधकार में छिपा हुआ है जिसका वास्तविक स्वरूप कुछ अनुमानों के सहारे टटोला भर जा सकता है, अटकलें लगाई जा सकती हैं, किंतु स्पष्ट रूप से व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। यही बात इस संस्कृति की प्राचीनता के बारे में भी कही जा सकती है। भारतीय संस्कृति का विकास आज से कितनी सहस्त्राब्दियों पूर्व हुआ था, वेदों की रचना के पूर्व भारतीय संस्कृति कितनी संक्रांतियों से गुज़री थी, इस का भी कोई लेखा-जोखा नहीं मिलता। अब तक की खुदाइयों में मिले भग्नावशेषों के साक्ष्य के आधार पर केवल इतना कहा जा सकता है कि इस पृथ्वी के अन्य मानव समुदायों के समान भारत का आदि मानव भी अरण्य संस्कृति से अपने सामाजिक जीवन के विकास की यात्रा प्रारंभ करता है। उसे भी पाषाण युग और धातु युगों के मध्य से अपनी मंज़िलें पूरी करनी पड़ीं। उसने भी क्रमश: पशुपालन, पशुचारण युग के संधिकाल में कृषि संस्कृति में प्रवेश किया और कृषि संस्कृति के पाश्चात् व्यापार-उद्योग संस्कृति में प्रवेश करके उदरपूर्ति की चिंताओं से मुक्ति पाई जो किसी भी महान संस्कृति की स्थापना की पहली और महत्वपूर्ण शर्त है।

समाज शास्त्रियों और इतिहास वेत्ताओं ने यह भी सिद्ध किया है कि जिस युग में भारत के मूल निवासी अरण्य सभ्यता से गुज़र रहे थे उसी युग में भारत में बाहर के प्रजाति समूहों ने प्रवेश किया। मूल निवासी और नवागंतुक आपस में टकराए, लड़े-भिड़े, किंतु भारत की सौम्य जलवायु, उर्वरा भूमि और जीवनयापन के अपेक्षाकृत सुगम साधनों के परिणामस्वरूप घुलमिल कर एक हो गए। अत: अनादि काल से इस सुरम्य भूभाग में जिस सामाजिक, सांस्कृतिक चेतना का विकास हुआ उसमें सहिष्णुता, समन्वय और उदारता के अणु-परमाणु सक्रिय थे। भारत में कौन-सा प्रजाति समुदाय पहले आया, द्रविड और आर्यों का आगमन कब और किन दिशाओं से हुआ, अथवा द्रविड और आर्य बाहर से आए थे अथवा इसी देश के मूल निवासी थे—इस विषय में भी कोई निर्भ्रांत निर्णय नहीं हो सका है। किंतु इतना निश्चित है कि इस भूभाग में समय-समय पर विभिन्न जातियों की लहरें आती रही हैं। अत: भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता भिन्नता में समन्वय के द्वारा एकता की स्थापना का प्रयास हम भारतीय संस्कृति के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रारंभ से पाते हैं। यह वह विशेषता है

जिसने इस संस्कृति को विघटनकारी वैदेशिक शक्तियों के आक्रमणों में जीवित रखा तथा इसी विशेषता ने सांस्कृतिक धारा प्रवाह को अक्षुण्ण रखा। भारतीय जीवन में ऊपरी स्तर पर जो विभिन्नताएँ दिखलाई पड़ती है उनसे अधिक महत्वपूर्ण वह एकता है जो उसके आंतरिक और गहरे स्तर में छिपी हुई है।

भारतीय संस्कृति के विकास की विश्वसनीय सामग्री हमें वैदिक साहित्य में मिलती है। ऋग्वेद की ऋचाओं में ऐसे प्रमाण मिलते है कि कृषि-व्यवस्था के विकास के पूर्व आर्य समुदाय किसी ऋषि के निर्देशन अथवा नेतृत्व में एक स्थान से दूसरे स्थान पर परिव्रजन किया करते थे। ये परिव्रजन गो आदि पालतू जानवरों के लिए चरागाहों की तलाश में अथवा भोजन की खोज में किए जाते रहे होंगे। इस परिव्रजन में वे उन लोगों के संपर्क में भी आते रहे जिनकी संस्कृति और जीवन पद्धति उनसे भिन्न थी। वैदिक साहित्य में इनके लिए 'दास' तथा 'दस्यु' शब्दों का प्रयोग किया गया है। किंतु परि-व्रजनशील आर्य समुदायों की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि उन्होंने बहुत थोड़े समय में उनका अपनी जीवन पद्धति में विलय कर लिया। विलय प्रक्रिया में तीन बातें प्रमुख थीं। पहली यह कि अंतर्विवाह पद्धति से मूल निवासियों का आर्य पद्धति में प्रतिष्ठापन। दूसरी बात अनार्यों का आत्मीकरण और तीसरी बात उनके विश्वासों, विचारों का प्रच्छनन प्रक्रिया के द्वारा स्वीकरण। तीनों बातों का परिणाम हुआ सांस्कृतिक चेतना का विकास तथा जीवन पद्धति का पुनः निर्माण। आर्यों ने अनार्यों के सामाजिक, धार्मिक विश्वासों को स्वीकार किया अवश्य, किंतु नया रूप देकर। प्रतिष्ठापन, आत्मीकरण, तथा परिष्कार की प्रक्रियाओं के द्वारा सांस्कृतिक समन्वय का प्रमाण हमें महाभारत काल में भी मिलता है। महाभारत के रचयिता कृष्ण द्वैपायन तथा महात्मा विदुर आर्य और अनार्य दंपत्ति की संतान थे। शांतनु और सत्यवती का विवाह भी आर्य और आर्येत्तर संस्कृतियों के समागम और सम्मिश्रण का सुंदर उदाहरण है। इसी प्रकार भीम का नागालैंड की राजकुमारी हिडिंबा से विवाह, अर्जुन का नाग-कन्या उलूपी का पाणिग्रहण यह सूचित करता है कि आर्य-संस्कृति कोई बद्ध समाज नहीं था। आर्यों को अपनी संस्कृति पर गर्व था, किंतु अपने से इतर संस्कृतियों के प्रति कोई हीनता का भाव नहीं था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ऐसे प्रमाण भी मिलते हैं कि आर्य संस्कृति में आर्येत्तर प्रजाति समूहों के मिलाने से नई उपजातियों का निर्माण हुआ जिन्हें 'अपकृष्ट' जाति समूह कहा गया। 'निषाद' जाति जिसने आर्य-समाज में मिलना बहुत देर में स्वीकार किया, सम्मिश्रण के अपवाद का उदाहरण है।

प्रजातियों के अंतः वैवाहिक संबंधों के उदाहरण पुराण साहित्य में भी मिलते हैं। इसी प्रकार धार्मिक विश्वासों, पूजा पद्धतियों के विकास में भी आर्य और आर्येत्तर जातियों का समान योगदान है। आर्यों की यह पद्धति थी कि वे आर्येतर प्रजातियों के

सांस्कृतिक विश्वासों को अपनाते समय उनका परिष्कार और उदात्तीकरण अवश्य करते थे। विश्वास किया जाता है कि कृष्ण भी आर्येत्तर जाति के देवता थे। किंतु इस प्रजाति ने जब आर्य-संस्कृति में अपने आपको सम्मिलित किया तो आर्यों ने कृष्ण के स्वरूप को एक नया रूप प्रदान किया। आर्यों के वैदिक देवता इंद्र की कृष्ण द्वारा अप्रतिष्ठा तथा उसके स्थान पर गोधन की पूजा का आख्यान उस टकराहट के सूचक हैं जो सम्मिलन के पूर्व आर्य और यादव समुदायों के सांस्कृतिक विश्वासों में हुई होगी, किंतु आर्यों की स्वीकृति के पश्चात् कृष्ण विष्णु के पूर्णावतार के रूप में स्वीकृत किए गए। इसी प्रकार से गणेश, स्कंद तथा दुर्गा के विषय में भी यह विश्वास किया जाता है कि वे आर्येतर समुदायों के देवता थे, किंतु परस्पर आदान-प्रदान की प्रक्रिया में गणेश विघ्नेश्वर से विघ्न विनायक और सिद्धिदाता के रूप में प्रतिष्ठित हुए, स्कंद देव-सेनानी के रूप में तथा दुर्गा भवानी के रूप में। इस प्रकार आर्य और आर्येतर समुदायों के सांस्कृतिक विश्वासों के समन्वय की प्रक्रिया भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण लक्षण रहा है और आज जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं वह इस देश के निवासियों की संयुक्त धरोहर है। किंतु विभिन्न समुदाय एक बृहद् भारतीय परिवार में इस प्रकार घुल मिल गए हैं कि अब आर्य और आर्येतर शब्द केवल ऐतिहासिक महत्व के शब्द बन कर रह गए हैं।

दक्षिणापथ में वैदिक महर्षि अगस्त्य का प्रव्रजन एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक घटना है। विश्वास किया जाता है कि अगस्त्य का आश्रम विंध्य के दक्षिण में स्थित था। यह आश्रम उत्तरापथ और दक्षिणापथ के सांस्कृतिक समन्वय का स्थल भी बना। तमिल भाषियों में महर्षि अगस्त्य के प्रति उतनी ही श्रद्धा की भावना है जितनी उत्तरी भारत में। तमिलभाषियों का विश्वास है कि महर्षि अगस्त्य ने उनकी भाषा और साहित्य के उन्ननयन में महत्वपूर्ण योग दिया है। तमिल भाषा का प्रथम व्याकरण महर्षि अगस्त्य के द्वारा प्रणीत बतलाया जाता है। आर्य भाषा संस्कृत और द्रविड भाषाओं का पारस्परिक आदान-प्रदान, उत्तरापथ और दक्षिणापथ की सांस्कृतियों का समन्वय और पारस्परिक आदान-प्रदान का श्रेय भी अगस्त्य मुनि को दिया जाता है। बाद को दक्षिण और उत्तर का सांस्कृतिक आदान-प्रदान निरंतर चलता रहा और आज जिसे हम सामाजिक भारतीय संस्कृति कहते हैं उसके निर्माण और विकास में दोनों समुदायों का समान योगदान है। कहा जाता है कि शैव दर्शन और शिवपूजा-पद्धति के विकास में दाक्षिणात्य संस्कृति का महत्वपूर्ण योगदान है। शिवपूजा के चिह्न मोहनजोदारो की खुदाइयों में भी प्राप्त हुए हैं।

सूर्योपासना के विषय में भी यह विश्वास किया जाता है कि भारत में सूर्य-पूजा का प्रारंभ सक और आर्य-संस्कृति के समन्वय के परिणामस्वरूप हुआ है। सक द्वीप (फ़ारस) का उल्लेख बृहद् संहिता और अवेस्ता दोनों में मिलता है। इस प्रकार

जब-जब बाहर से सांस्कृतिक समुदायों का आगमन हुआ, भारतीय संस्कृति ने उन्हें अपनाने का प्रयत्न किया। नवागन्तुकों को किस प्रकार आर्य-समाज में सम्मिलित किया जाता था, उसका एक सुंदर उदाहरण हमें सामवेद में प्राप्त होता है। सामवेद में व्रात्यस्तोम यज्ञ का उल्लेख है जिससे व्रात्यों को सामूहिक रूप से आर्य-समाज में दीक्षित किया जाता था।

भारत वर्ष का पूर्व और पश्चिमी देशों से व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंध अति प्राचीन काल से चला रहा है। फ़ारस और भारतीय सभ्यताओं में पर्याप्त समानताएं मिली है जिनके आधार पर यह निश्चित किया गया है कि जिन आर्यों ने भारत में प्रवेश किया उनमें और फ़ारस के आर्यों में प्रजातीय समानता थी। यूनानी सभ्यता और संस्कृति में भी प्राचीन भारत के निकट का संबंध था। सिकंदर के आक्रमण के पश्चात् यह संपर्क और भी बढ़ा। संपर्क के द्वारा ज्ञान, विज्ञान, ललित कलाएं और सांस्कृतिक विश्वासों का आदान-प्रदान हुआ। इसी प्रकार प्राचीन काल से मिश्र के साथ भी भारत का घनिष्ठ संबंध था। भारतीय ज्योतिष और भूगोल के विकास में यूनान और मिश्र दोनों का प्रभाव स्वीकार किया जाता है। सांस्कृतिक आदान-प्रदान के परिणामस्वरूप भारतीय संस्कृति नवीन विचारों को स्वीकार करने और अपनी जीवन पद्धति में परिवर्तन करने के लिए सदा सन्नद्ध रही।

वैदिक कर्मकांड, पुरोहितवाद तथा पशुहिंसा के विरुद्ध जब करुणावतार महात्मा बुद्ध और जीवदया की प्रतिमूर्ति तीर्थंकर महावीर ने क्रांति का झंडा उठाया तो हिंदू धर्म ने उनके प्रति आक्रोश व्यक्त न करके उन्हें अवतारों में स्थान दिया तथा अपना पुनः निर्माण किया। बुद्ध और महावीर ने सदाचार और इंद्रियदमन पर जो बल दिया था वह भारतीय संस्कृति में पहले से जीवन के मूल्यों के रूप में स्वीकृत था। अतः वैष्णव धर्म का जो नया आवेग हमको मध्यकाल में परिलक्षित होता है उसमें जैनियों की जीव-दया और बुद्ध की करुणा को स्वीकार कर लिया गया था। इस कारण ही वह लोक में आग की तरह फैल गया। वैदिक देवताओं का स्थान पौराणिक देवताओं ने ग्रहण किया और राम-कृष्ण के लोकपावन चरित्र जनमानस में भक्ति की नई तरंगें जागृत करने लगे। इस संदेहवादी आधुनिक युग में भी भक्ति का उन्मेष लोक-मानस पर अपना अक्षुण्ण अधिकार जमाए हुए है।

इसी प्रकार आधुनिक युग में व्यापारिक सभ्यता के अग्रदूत पाश्चात्य खासकर अंग्रेजों की व्यापारिक कंपनियों ने धीरे-धीरे राजनैतिक सत्ता को स्वाधिकार में करके पाश्चात्य संस्कृति को भारत की आत्मा पर लादना शुरू किया, तो 19 वीं शताब्दी में पुनर्जागरण की एक नई लहर आसेतु हिमालय तक फैलने लगी। इस पुनर्जागरण की सब से बड़ी विशेषता यह थी कि इसमें नए विचारों के आत्मीकरण और प्राचीन विश्वासों के पुनर्स्थापन की प्रक्रिया साथ-साथ चलती थी। जीवन के नए मूल्य खोजे गए, किंतु

परंपरागत मूल्यों का तिरस्कार नहीं किया गया। नवीन मूल्यों को प्राचीन आईने में देखना और अर्वाचीन को प्राचीन के साथ समन्वय करके उसे स्वीकार करना इस नवजागृति का प्रमुख लक्षण था। राजा राम मोहन राय का ब्राह्मोसमाज, न्याय मूर्ति राना डे का प्रार्थना समाज तथा स्वामी दयानंद सरस्वती का आर्य समाज समाज की युगानुरूप पुनः रचना की महत्वपूर्ण संस्थाएं साबित हुईं। इसी प्रकार डा. एनीबेसेन्ट के थियोसोफिक आंदोलन का समाज की पुनः रचना में महत्वपूर्ण योगदान था। रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि अरविंद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी ने भी हिंदू संस्कृति को मध्यकालीन रूढ़िग्रस्त अवस्था से निकाला और युगानुरूप पुनः रचना में महत्वपूर्ण योगदान किया। इससे यह सिद्ध होता है कि भारतीय जीवन-दर्शन में जड़ता, गत्यावरोध को कोई स्थान नहीं रहा। यही कारण है कि उसकी अविच्छिन्नता और सातत्य बना हुआ है।

प्राचीनतम काल से लेकर इस पुनर्जागरण तक के सांस्कृतिक–सामाजिक विकास तथा महत्वपूर्ण परिवर्तनों पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेने से भारतीय संस्कृति और वर्तमान सामाजिक जीवन को समझने में सहायता मिलेगी।

भारतीय संस्कृति का आदिम युग

हिंदू पुराणों में महाजलप्लावन एक युगांतरकारी घटना के रूप में वर्णित है। इस विप्लव में सब कुछ नष्ट हो गया, केवल मुट्ठीभर ऋषि शेष बचे जिन्होंने मानव-संस्कृति का विकास किया। किंतु महाजलप्लावन एक नहीं हुआ, अनेक हुए हैं तथा एक स्थान पर न होकर अनेक स्थानों पर हुए हैं, क्योंकि जलप्लावन की कथाएं मध्य एशिया, हिब्रू, इब्रानी, बेबीलोनिया, सुमेरिया आदि मध्य एशिया के भू-भागों के अतिरिक्त मिश्र, ग्रीक, दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका आदि सुदूरवर्ती देशों के प्राचीन लोक-साहित्य में प्रचलित हैं। इस महाप्रलय की घटना से यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारी पृथ्वी की उम्र बहुत बड़ी है और इस मानव-संस्कृति की अनेक फसलें उगी हैं, फली-फूली हैं और विनष्ट हुई हैं। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि इस पृथ्वी पर मानव नामधारी जीव का विकास किसी एक स्थल पर नहीं हुआ, अपितु मानव का बीज अनादि काल से विभिन्न महाप्रलयों के पश्चात बच रहा है और इस बीज से मानव-संस्कृति की नवीन फसलें उगी हैं। हम जिस मानव-संस्कृति के आदिम युग का अनुमानित लेखा-जोखा प्रस्तुत करने जा रहे हैं वह वर्तमान चतुर्युगी के 27 वें वैवस्वतमनु के त्रेता युग से प्रारंभ होता है। वैवस्तमनु ने त्रेतायुग के आरंभ में महाजलप्लावन में अपनी नौका को सुरक्षित रखा था उनके साथ सप्तर्षि मंडल भी सुरक्षित बच सका था। मनु वर्तमान संस्कृति के प्रथम प्रजापति सिद्ध हुए। उन्होंने वर्तमान भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा की।

यह कहानी आज से दस लाख वर्ष पुरानी होनी चाहिए और भारतीय संस्कृति और सामाजिक जीवन का जो लेखा-जोखा वैदिक [illegible] जाता है वह केवल कुछ सहस्राब्दियों का है। फिर भी मानव की कल्पना अपनी पराजय स्वीकार नहीं करती। वह अतीत के निविड़ तम में प्रवेश करना चाहती है और उस अँधेरे में यदि कुछ चमकीले कण भी मिल जाते हैं तो उन्हीं को आधार बना कर उस पर अपनी कल्पना के महल बनाने शुरू कर देती है। ये महल तिलिस्मी किलों से कम मनोरंजक नहीं होते।

यह मान लिये जाने पर कि वर्तमान भारतीय संस्कृति का विकास आज से हजारों वर्ष पूर्व अंतिम जलप्लावन के पश्चात् हुआ है, प्रश्न यह रह जाता है कि इस संस्कृति का उत्स स्थान सप्तसिंधु के उत्तरी मैदान को माना जाए अथवा दक्षिण के पठारों को। इस विषय में भारत का भूगोल हमारी सहायता करता है। भारत के मध्यभाग में स्थित विंध्य, जिसने शताब्दियों तक उत्तरापथ और दक्षिणापथ के मानव-समूहों को पृथक्-पृथक् सांस्कृतिक विकास का अवसर प्रदान किया, हिमालय की तुलना में अधिक प्राचीन है। दक्षिणी पठारों की चट्टानें संसार की प्राचीनतम चट्टानें हैं जिनकी एक-एक पर्त पर जलप्लावनों के चिह्न अंकित हैं। ये चट्टानें करोड़ों वर्ष पुरानी हैं। इन चट्टानों के निर्माण-काल का अभी ठीक-ठीक अनुमान तो नहीं लग पाया, किंतु भू-विज्ञानी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि दक्षिणी पर्वत माला पुराणों में वर्णित वह सुमेरु है जिस पर आज से दस लाख वर्ष पूर्व एक समुन्नत मानव-सभ्यता निवास करती थी तथा महा जलप्लावन ने उस समुन्नत सभ्यता का विनाश कर दिया था। अतः हमें मानना चाहिए कि भारतीय संस्कृति के विकास का मूल उत्स दक्षिण के पठारी भाग हैं और उन पठारों के घोर कांतारों में निवास करने वाली जन-जातियाँ वे आदिम जातियाँ हैं जिन्हें भारत का मूल मानव-समुदाय कहा जा सकता है।

दक्षिणी पठारों के मूल निवासी गोंडवान क्षेत्र के गोंड जैसी जातियाँ हैं जो आज भी भारत के मूल निवासी कहलाने में गर्व का अनुभव करती हैं। इन जन-जातियों की एक आदिम विशेषता यह है कि ये अपनी प्रजातीय शुद्धता को सुरक्षित रखने की दृष्टि से आज भी सभ्य कहे जाने वाले समाज से दूर निवास करती हैं। संभव है: आदिम युग में ये जातियाँ दूर-दूर तक फैली हों। किंतु कृषि-युग में जब जंगलों को काट कर कृषि योग्य भूमि निकाली जाने लगी तो ये प्रजाति-समूह सिमिट-सिकुड़ कर विंध्य के जंगलों में निवास करने लगे। गोंड तथा बैगा जातियाँ अपनी उत्पत्ति नैसर्गिक मानती हैं और भारतीय वाङ्मय में जो स्वायंभुव मनु की कल्पना है वह इस उत्पत्ति से बहुत अधिक मेल खाती है। इसी प्रकार वेद-विख्यात भृगु ऋषि की उत्पत्ति भी नैसर्गिक मानी जाती है।

दक्षिणी पठारों में पाषाणों के वे आयुध भी मिले हैं जिनके सहारे पूर्व पाषाण

युग, पाषाणयुग, तथा उत्तर पाषाणयुग की कल्पना की गई है। अतः अन्य संस्कृतियों की भाँति भारतीय संस्कृति का विकास भी उन सोपानों से हुआ है जिनमें होकर विश्व की प्रत्येक मानव-सभ्यता को गुज़रना पड़ा है। इन सोपानों का क्रमबद्ध इतिहास अभी तक प्रस्तुत नहीं किया जा सका है, क्योंकि अभी तक इस पृथ्वी की आयु का ही ठीक-ठीक अनुमान नहीं लग पाया है और न उसमें पनपने वाले जैवी जीवन के इतिहास का ही, जिसका एक भाग मानव-सभ्यता है।

हमने अभी कहा कि भृगु की नैसर्गिक उत्पत्ति और वैसा जैसी जातियों की उत्पत्ति के विश्वास में बहुत कुछ समानता है। यदि हम यह मानें कि भृगु ही एक मात्र वैदिक ऋषि नहीं हैं, वे केवल अनेक में से एक हैं और साथ ही हम यह स्वीकार करें कि भृगु इन जन-जातियों के मनीषी पूर्व पुरुष हैं, तो यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि भारतीय संस्कृति के विकास में इन जन-जातियों का महत्वपूर्ण योगदान है। अथर्ववेद में बहुत से ऐसे मंत्र संकलित हैं जिन्हें ऋषि भृगु के माने जाते हैं। इन मंत्रों के द्वारा विभिन्न व्याधियों के उपचार का विधान है। भारत की जन-जातियों की एक मौलिक विशेषता यह भी है कि वे मंत्र-तंत्र के द्वारा व्याधियों के उपचार में आज भी विश्वास करती हैं।

अब यह प्रश्न विचाराधीन रह जाता है कि भारत का आदिम समाज पितृ-सत्तामूलक था अथवा मातृसत्तामूलक। जन-जातियों में आज भी समाज का गठन मातृसत्तामूलक है। विद्वानों का मत है कि पितृसत्तात्मक समाज की स्थापना विवाह-संस्था के प्रचार के बाद की चीज़ है। प्रत्येक मानव-समूह की संस्कृति का विकास मातृसत्तात्मक समाज के द्वारा हुआ है जिसमें माता ही परिवार का केंद्र रहती थी तथा पिता का अनुमान लगाना प्रायः कठिन रहता था। वन्य जातियों तथा दक्षिण की कुछ अन्य जातियों में मातृसत्तात्मक समाज आज भी विद्यमान है। इससे अनुमान लगता है कि आदिम युग की सामाजिक रचना भी मातृसत्तात्मक रही होगी। प्राचीन साहित्य में अनेक अप्रसिद्ध नाम भी मातृसत्तात्मक मिलते हैं। जैसे—दिति और अदिति नामक स्त्री वाचक नामों से दैत्य तथा आदित्य।

आदिम समाज का रहन-सहन भी बहुत कुछ वैसा ही रहा होगा जैसा आज भी सभ्य समाज से दूर वन में बसनेवाली जातियों का है, अर्थात् आदिम मानव प्रकृति-प्रेमी था। उसे अपने बाहुबल से अपनी रक्षा और भोजन संग्रह करना पड़ता था। कृषि से वह अनभिज्ञ था। जंगली पशुओं का शिकार तथा कंदमूल उसके भोज्य पदार्थ थे। वह भवन-निर्माण भी नहीं सीख पाया था। अतः गिरि-कंदराओं अथवा वृक्षों के नीचे निवास करता था। वह आग जलाना नहीं जानता था तथा पशु-पालन भी नहीं करता था। आदिम समाज पूर्ण साम्यवादी था। समाज के किसी भी सदस्य के पास कोई चल अथवा अचल संपत्ति नहीं थी। न कोई लड़ाई झगड़ा था और न किसी प्रकार की

प्रतिस्पर्धा ही। आज की वन्य जातियों के समान आदिम मानव को झूठ बोलना भी नहीं आता था। वह पाप और पुण्य दोनों को ही नहीं जानता था, क्योंकि नैतिक मूल्यों की स्थापना नहीं हुई थी।

आदिम समाज में क्या किसी प्रकार का धार्मिक भाव था? क्या वह किसी उच्चतर सत्ता की पूजा-उपासना करता था? इस विषय में अभी तक जो प्रमाण मिले हैं उनसे प्रकट होता है कि वह उच्चतर सत्ता की नारी के रूप में पूजा करता था। 'देवता' शब्द प्रारंभ में स्त्री वाचक ही था। मातृसत्तात्मक समाज में वैसी कल्पना सहज भी थी। उस समाज में कोई वर्ग-भेद भी नहीं था। समाज के सभी व्यक्ति एक ही वर्ण के थे।

वस्तुतः कृतज्ञता की भावना आज के मनुष्य से उस आदिम मानव में अधिक थी। अतः वे प्राकृतिक शक्तियाँ जो उसके जीवन में सहायता करती थीं, उनके प्रति उसकी कृतज्ञता की भावना विकसित हुई और वही पूजा की भावना में परिणत हो गई। उदाहरण के लिए वह माता की गोद में से निकलकर पृथ्वी की गोद में खेलता था, बड़ा होने पर भूमि पर ही सोता था, भूमि से ही फल-फूल ग्रहण करता था। अतः माता से स्थानांतरित होकर पृथ्वी के प्रति उसकी 'देवता' की भावना विकसित हुई और धीरे-धीरे सूर्य (सविता) के प्रति भी वह श्रद्धावान बन गया। धीरे-धीरे उसकी पूजा की भावना का विस्तार हुआ। उसके मन में कुछ भय के कारण और कुछ आकस्मिक प्राकृतिक प्रकोपों के कारण, जिनके आकस्मिक आक्रमण का वह कोई कारण नहीं सोच पाता था; एक अज्ञात शक्ति के अस्तित्व में विश्वास उत्पन्न हुआ और व्यापकता के आधार पर उसे 'ब्रह्म' कहने लगा तथा ब्रह्म की सत्ता में विश्वास करने वालों को 'ब्राह्मण' कहा जाने लगा। आदिम युग के सब मानव ब्राह्मण ही थे। उनका केवल एक वर्ण था। इसका प्रमाण हमें महाभारत की इस उक्ति में भी मिलता है कि प्रारंभ में सब ब्राह्मण ही थे। कर्मों के विभाजन के पश्चात् अन्य वर्णों की स्थापना हुई।

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्राह्मणा पूर्वसृष्टा हि कर्मभि वर्णगता:॥ —महाभारत, 86/10

आदिम मानव जिन वृक्षों के नीचे विश्राम करता था तथा जिन पर चढ़ कर वन्य हिंसक पशुओं से अपनी रक्षा करता था अथवा जिनके मधुर फल चखता था, उनके प्रति भी वह श्रद्धा की भावना रखता था। पीपल, बरगद आदि वृक्षों की पूजा आदिम समाज में प्रचलित थी।

धीरे-धीरे इस आदिम सभ्यता का विकास हुआ। समझ लीजिए कि आदिम मानव पाषाण युग में प्रवेश कर गया, जहाँ उसने शिकार तथा आत्मरक्षा के लिए पाषाण के औज़ार और अस्त्र बनाना सीख लिया। अब वह स्वाधिकृत सब पशुओं का वध नहीं करता था। उसे आग बनाना आ चुका था जिस पर वह मांस पकाने लगा था। वह

अग्नि के प्रति बहुत अधिक उपकृत अनुभव करता था। आग उसका अन्न पकाती थी, प्रकाश देती थी तथा शीत निवारण करती थी। वह पके हुए मांस से कुछ भाग निकाल कर अग्नि देव को अर्पित कर देता था। आगे चल कर जब उसे कृषि करना आ गया तो नई फ़सल मिलने पर वह आग जला कर उत्सव मनाने लगा और फ़सल का कुछ अन्न अग्नि देव को अर्पित करने लगा। यज्ञों की प्रथा का विकास हमें इसी प्रकार के रीत्याचारों में मिलता है। अब कुछ जानवर उसके स्वामित्व में आ गए थे। गाय को वह दूध पीने के लिए पालने लगा था। भेड़ और बकरी का पालन भी वह सीख गया था। जब उसके पास पशु-संपत्ति बढ़ी तब चरागाहों की चिंता हुई और वह नए-नए चरागाहों की तलाश में एक स्थान से दूसरे स्थान में विचरण करने लगा।

इस विचरण में उसे वन्य अन्न भी मिलने लगे, जैसे—धान, जौ, उर्द, ज्वार। इसे वह कूट-पीस कर आग पर सेंकने लगा। वह दिन भी दूर नहीं था जब उसने खेती करना भी सीख लिया। आगे चलकर हम जिस वैदिक युग का अध्ययन करेंगे वह तब से प्रारंभ होता है जब पशुपालन और कृषि दोनों से मानव परिचित हो चुका था।

पशुपालन, पशुरक्षण और कृषि के आरंभिक विकास ने सामाजिक संरचना में एक क्रांति उपस्थित कर दी। नारी के स्थान पर समाज में पुरुष की सत्ता प्रधान होने लगी। 'गोत्र' शब्द जिसका अर्थ गौ की रक्षा करने वाला है, पितृसत्तात्मक समाज की सूचना देता है। एक गोत्र के सदस्यों को हिंसक पशुओं और दस्युओं से अपने गो-समूह की रक्षा के लिए रात को आग जला कर जागरण करना पड़ता था। इसे 'गोष्ठी' कहा जाता था। रात्रि का समय व्यतीत करने के लिए कथा-कहानी तथा सामुदायिक समस्याओं पर विचार-विमर्श भी हुआ करता था। अतः इन गोष्ठियों को प्रारंभिक मौखिक साहित्य का उत्स और भारतीय गणतंत्र की प्रारंभिक शालाएँ भी माना जा सकता है।

गणों की संरचना कुछ गोत्रों से मिलकर होती थी। पंचजना, नाग, वानर, असुर, गरुड़, गंधर्व, किन्नर, यक्ष आदि नाम विभिन्न गणों की कुछ विशेषताओं तथा कुछ पशु-पक्षियों के प्रति पूजा की भावनाओं के आधार पर रखे गए थे। जब गणतंत्रात्मक समाज की स्थापना हुई तब उनका प्रमुख अर्थात् गणपति भी सम्मान पाने लगा। गणपति के ऊपर संपूर्ण गण की रक्षा का भार था और उसका निवास गणी ~ गढ़ी रक्षा प्रदान करने का प्रमुख केंद्र था।

समाज के विकास के साथ-साथ पितृसत्तात्मक समाज की संरचना बलवती होती गई। संतान पिता के नाम से जानी जाने लगी और कुमारियों को स्वयंवर द्वारा अपना पति चुनने का अधिकार मिल गया। यहाँ से हम लगभग संस्कृति के उस युग में प्रवेश करने लगते हैं, जिसमें वेदों की रचना हुई थी। यद्यपि वेद अभी निर्माण-काल

में थे. उनका वर्गीकरण और व्यवस्थापन नहीं हुआ था; फिर भी ऋग्वेद में वर्णित समाज का प्रारंभिक रूप यही था। इसका प्रमाण हमें वैदिक साहित्य में मिलता है।

गणतंत्रों का विकास अब राजतंत्रों में होने लगा था। अतः ब्राह्मण के अतिरिक्त अब लड़ाकू वीरों का वर्गीकरण क्षत्रिय नामक एक भिन्न वर्ग में किया जाने लगा था तथा कृषि और पशु-पालन का भार संभालने वाला वैश्य वर्ग (वर्ण) भी संगठित होने लगा था। पशुओं का अपहरण करने वाले दस्युओं को पराजित कर के उन्हें दास बनाया जाने लगा था। व्यापार का प्रचलन अभी नहीं हुआ था। गाँवों और नगरों की स्थापना अब होने लगी थी। पशुओं में गाय, बैल, बकरी, भेड़, अश्व, कुत्ता आदि पालतू हो चुके थे। मिट्टी के बर्तनों का आविष्कार हो चुका था, जिनमें जल, दूध, दही और घी जैसे तरल पदार्थ रखे जाने लगे थे।

हम इस युग का नाम उत्तर पाषाण युग रख सकते हैं। धातुओं का आविष्कार इस युग में होने लगा था तथा बढ़ई, सुनार, चर्मकार आदि शिल्पी समाज के अभिन्न और सम्मानित सदस्य समझे जाने लगे थे। ब्राह्मण और अब्राह्मण का भेद अब बढ़ गया था। ब्राह्मणों को सांस्कृतिक सुरक्षा और सांस्कृतिक समृद्धि का भार सौंपा जाने लगा था। यज्ञों का प्रचलन बढ़ने से और उनका विधान ब्राह्मणों को ही सौंपे जाने के परिणामस्वरूप समाज में उनका सर्वोपरि स्थान हो गया था।

स्त्रियों का इस समाज में सम्मानपूर्ण स्थान था, यद्यपि उनकी स्वतंत्रता पर अब नियंत्रण लगाया जाने लगा था। गा-बजाकर सामाजिक मनोरंजन प्रदान करने वाली नारियों को वारांगना कहा जाता था।

आदिम समाज की भाषा क्या रही होगी, इसका कोई प्रमाण तो उपलब्ध नहीं है, क्योंकि लिपि का विकास बहुत बाद में हुआ है। फिर भी भाषा के पंडितों की कल्पना है कि आदिम युग की भाषा का शब्द कोश बहुत सीमित रहा होगा। उसमें मूल असंयुक्त स्वर रहे होंगे तथा अल्पप्राण व्यंजनों से मिलकर शब्दों की संरचना रही होगी। संभव है: अंतस्थ व्यंजन य,र,ल और व भी भारतीय आदिम भाषा में रहे हों। संबंधवाची शब्दों का विकास भारतीय भाषाओं में इन्हीं स्वर और व्यंजनों के योग से हुआ है। उदाहरण के लिए—अम्मा > अम्बा, न न > नाना, त त > ताता, द द > दादा। आदिम जाति की गोंडवानी बोली में नाना और ताता का अर्थ लाने वाला (फल मूल आदि) होता है। उक्त शब्दों का भारतीय भाषाओं में व्यापक योग मिलता है। प्राचीनतम भाषा कोश में कदाचित् देववाची शब्दों का अभाव था। अम्मा की सर्वप्रथम महती देवता के रूप में कल्पना हुई। अम्मा, अम्माल, अल्ल, अल्ला जैसे शब्द कालान्तर में देववाची बन गए। इस युग में वर > वरा > वराह > वराहु शब्द देववाची अर्थ की सूचना देने लगे थे। इनका प्रयोग शक्तिशाली महाप्राणवान, लोकोद्धारक आधिदैविक

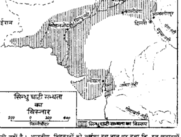
शक्तियों के लिए किया जाने लगा था। सूर्य, चंद्र, वायु, जल आदि के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता था। इसकी सूचना हमें वैदिक वाङमय से भी मिलती है।[4]

वर से ही बड़ा शब्द का विकास हुआ है तथा आज भी इस शब्द से "श्रेष्ठ" अर्थ निष्पन्न होता है। इसी प्रकार नरायण > नारायण शब्द प्रारंभ में जल में निवास करने वाले देवता की सूचना देता था। आगे चलकर वराह और नारायण का विष्णु रूप में परिव्यवस्थान हो गया।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति अपने आदिम रूप से आज तक अक्षुण्ण रूप में विकसित होती हुई प्रवहमान है। और यह सातत्य ही इस संस्कृति की मूल विशेषता है। आदिम संस्कृति और वैदिक संस्कृति के बीच में किसी प्रकार का अंतराल नहीं है। अतः दोनों का संधिस्थल खोजना निष्फल प्रयास होगा।

सिंधु घाटी की सभ्यता

1925 ई. के लगभग पुरातत्ववेत्ताओं को सिंधु घाटी की उपत्यकाओं में कुछ मुद्राएँ मिलीं जो ऐतिहासिक महत्व की थीं। मोहेंजोदाड़ो (मुर्दों का टीला) और हड़प्पा नामक स्थानों पर योजनाबद्ध रूप से खुदाई की गई। खुदाई के परिणामों ने सारे विश्व को अचंभे में डाल दिया। अब तक पाश्चात्य विद्वानों का मत था कि भारतीय सभ्यता—विशेषकर के नागरिक सभ्यता ई. पू. 1500 से 2000 से अधिक



पुरानी नहीं है। भारतीय विद्वानों को अचंभा इस बात पर हुआ कि इन खुदाइयों में जो नगर उत्क्रमित हुए उनका उल्लेख किसी भी प्राचीन ग्रंथ में नहीं है। खुदाइयों से दो नगरों के भग्नावशेष प्राप्त हुए जो 2 किलोमीटर के क्षेत्र में वर्गाकार तथा आयताकार रूप में बसाए गए थे। अनुमान किया जाता है कि जब इन नगरों की सभ्यता अपने चरम उत्कर्ष पर रही होगी तब इनका निर्माण किया गया होगा। यह नगर ई. पू.

3000 से कम प्राचीन नहीं है। इन नगरों के मकान कई मंजिलों के बड़े-बड़े और भली भांति पकी हुई ईंटों से मज़बूत बने हुए थे। इनमें बढ़िया स्नान घर और शौचालय की व्यवस्था थी। इन मकानों से जो बरतन-भांडे मिले हैं वे भी मजबूत और तेज चाक पर ढले हुए हैं। इन खुदाइयों में सोने-चांदी, जवाहरात तथा अन्य नष्ट संपत्ति के प्रमाण भी मिले हैं। इमारतों की बनावट प्राय: आयताकार 200 × 400 गज क्षेत्र की है। इनके सामने चौड़ी सड़कें और गलियां हैं। सड़कों के दोनों किनारों पर नालियां हैं। इस प्रकार सिंधु घाटी के नगरों की निर्माण-कला सचमुच आश्चर्यकारी है। समकोण पर मिलती हुई सीधी सड़कों से सटी हुई वर्षा के जल निकास की योजना तथा नालियों को स्वच्छ रखने के लिए मल-कुंडों की व्यवस्था को देखकर भारत के आधुनिक नागरिकों को शर्मिंदा होना पड़ सकता है। स्वच्छता की ऐसी योजना अधिकांश आधुनिक कस्बों में नहीं मिलेगी।

इन नगरों में विशाल अन्न भंडारागार मिले हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि किसानों का अनाज नगर में आकर सार्वजनिक वितरण के काम आता रहा होगा। अथवा इन नगरों से विदेशों को अन्न का व्यापार किया जाता रहा होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि सिंधु-सभ्यता में खेती इतनी समुन्नत रही होगी कि किसान अपने उपयोग से अधिक अन्न पैदा करते थे और हड़प्पा-मोहेंजोदाड़ो जैसे नगरों को भेजते थे।

सिंधु घाटी की संस्कृति कांस्य युग की समझी जाती है। हड़प्पा और मोहेंजोदाड़ो में जो औजार मिले हैं वे कांसे के हैं। ये मजबूत भी हैं और कारगर भी। तांबे की खनिज मिट्टी कदाचित् राजस्थान से प्राप्त होती थी। ऐसा अनुमान किया जाता है कि 3000 ई. पू. में ईरान की सभ्यता भी उतनी ही समृद्ध थी तथा फ़ारस की खाड़ी के समुद्री मार्ग से भारत के साथ उसका व्यापार चलता था। सिंधु के भग्नावशेषों से प्राप्त और ईरान में प्राप्त कुछ गोल मोहरों में काफ़ी समानताएं हैं जो उक्त संबंध की पुष्टि करती हैं। सिंधु घाटी निवासी तांबे के अतिरिक्त हाथी दांत



सिंधु घाटी की मुहर

की बनी हुई वस्तुओं का व्यापार भी करते थे। ईराक की खुदाइयों से प्राप्त भारतीय मुद्राएं तथा हाथीदांत की बनी हुई वस्तुएं उपलब्ध हुई हैं। व्यापार का मार्ग समुद्र था। इससे यह सिद्ध होता है कि आज से 5000 वर्ष पूर्व भारत का नाविक-संचार काफ़ी मजबूत था। मोहेंजोदाड़ो की खुदाई से प्राप्त एक मोहर पर एक विशाल जहाज का चित्र है जिसमें पाल, पतवार और चप्पू को स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। इससे भी उस युग की नाविक शक्ति की पुष्टि होती है। इन मोहरों पर विभिन्न पशुओं की आकृतियाँ भी अंकित हैं। जैसे—गैंडा, हाथी, मेढ़ा तथा पानी में रहने वाले भैंसे।

सिंधु घाटी की सभ्यता की ठीक-ठीक और विश्वसनीय व्याख्या उपलब्ध होने के मार्ग में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि उसके अभिलेखों की लिपि अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है। मोहरों पर तथा बरतनों पर जो अभिलेख अंकित हैं, यदि उन्हें पढ़ा जा सका होता, तो उन देवी-देवताओं के नामों और उनके विरद की भी कुछ जानकारी प्राप्त होती जो आकृतियों के साथ अंकित हैं। साथ ही उस काल के नामों की भी व्याख्या संभव होती। सिंधु घाटी में पुरातत्व का कार्य तो व्यापक हुआ, किंतु प्राप्त अभिलेखों में से अभी तक कोई पढ़ा नहीं जा सका है। इसलिए हम नहीं कह सकते कि इन नगर-वासियों का सामाजिक, सांस्कृतिक ढाँचा क्या था? वे भारत के ही मूल निवासी थे अथवा विदेश से आकर यहाँ बसे थे। हम यह भी नहीं कह सकते कि ये नगर किस प्राकृतिक अथवा मानवीय प्रकोप से नष्ट हुए। किंतु जैसा पहले कहा जा चुका है कि भारत एक अति प्राचीन देश है। इसके प्रागैतिहासिक काल में न मालूम कितनी संस्कृतियों की फ़सलें उपजीं, फली फूलीं और उजड़ गईं। जलप्लावनों का जो उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में मिलता है वह इसी प्रकार के विनाशों का प्रतीक है। हम यह नहीं कह सकते कि वैदिक काल से लेकर आज तक हम जिस सांस्कृतिक परंपरा का अध्ययन कर रहे हैं वह सिंधु घाटी की सभ्यता से उसका कोई सूत्र जुड़ता है अथवा नहीं। यह केवल अनुमान का विषय है कि उस समय मध्य एशिया से जो कबीले आए उन्होंने इन नगरों को नष्ट कर दिया। ये कबीले अपने को आर्य कहने वाले उन लोगों के थे जो उस समय बर्बर थे तथा सामाजिक-आर्थिक विकास की दृष्टि से पशु चारण स्थिति में थे। बाद में इन्हीं कबीलों ने महान आर्य संस्कृति का विकास किया। कारण कुछ भी रहा हो। यह निश्चित है कि इस देश की सांस्कृतिक परंपराएँ अतीत के गर्भ में छिपी हुई हैं जिनका ठीक-ठीक लेखा-जोखा अभी तक नहीं हो सका है।

सिंधु घाटी की सभ्यता की कुछ विशेषताएं

1. **अपरिवर्तनशीलता**—मोहेंजोदाड़ो और हड़प्पा की खुदाइयों से जो बर्तन, औजार तथा अन्य वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं उनमें प्राय: एकरूपता मिलती है। इसका अर्थ यह

हुआ कि एक स्तर पर पहुँच कर यह सभ्यता स्थिरता अथवा गतिहीनता की स्थिति में जकड़ गई थी और कदाचित् यह जड़ता इस सभ्यता के विनाश का भी कारण बनी हो।

2. **प्रतिरक्षणशीलता का अभाव**—इन खुदाइयों से जो अस्त्रशस्त्र के अवशेष प्राप्त हुए हैं वे घटिया तथा कमजोर किस्म के हैं। भाले पट्टी के बिना और पतले हैं। उनसे यदि वार किया जाए तो उनकी नोक प्रथम आघात में ही मुड़ जाएगी। तलवारें बिलकुल नहीं मिलीं। मजबूत चाकू और कुठार अवश्य मिले हैं। किंतु ये औजार हैं, आयुध नहीं। इसी प्रकार धनुषबाण भी दूर तक घात करने की क्षमता रखने वाले प्रतीत नहीं होते। लोगों पर शासन करने वाली जो भी सत्ता उस जमाने में रही हो उसमें बल प्रयोग और प्रतिरक्षाशीलता दुर्बल रही होगी। इन नगरों में कहीं भी मजबूत दुर्ग के कोई निशान नहीं मिले। इससे भी विदित होता है कि सिंधुघाटी वासी अपनी प्रतिरक्षा के प्रति असावधान थे। कोई आश्चर्य नहीं कि किसी नवागंतुक बर्बर कबीले ने इन्हें पराजित करके तितर-बितर कर दिया हो।

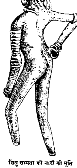


सिंधु सभ्यता के बर्तन की अनुकृति

3. **सार्वजनिक जीवन**—मोहेंजोदाड़ो में जिस प्रकार प्रतिरक्षात्मक व्यवस्था के लिए विशाल दुर्ग नहीं मिले उसी प्रकार ऐसे विशाल भवन भी नहीं मिले जो राजदरबार अथवा किसी सार्वजनिक सभा भवन का आभास दे सकें। कुछ सार्वजनिक स्नानागार अवश्य मिले हैं जिनका उपयोग कदाचित पूजा-अनुष्ठान के अवसर पर किया जाता रहा होगा। कई मंजिलों वाली इमारतें इस खुदाई में अवश्य उपलब्ध हुई हैं जो कदाचित् धनिक व्यापारी वर्ग की रही होंगी। ऐसी कई मंजिलोंवाली तथा अनेक प्रकोष्ठों वाली मजबूत एक इमारत के भग्नावशेष मिले हैं। खुले आँगन में 63 × 21 फुट विस्तार का 8 फुट गहरा एक तालाब है। इसमें ईंटें बहुत सफाई से चिकनी की गई हैं। तालाब के दोनों ओर पानी तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ हैं। सीढ़ियाँ मजबूत लकड़ी के स्लीपर्स की हैं। तालाब के पानी को साफ़ करने के लिए नाली की व्यवस्था है तथा तालाब को भरने के लिए पास के प्रकोष्ठ में एक कुआँ है। यह स्नानागार अवश्य ही सार्वजनिक स्नान के लिए बना होगा, क्योंकि नगर के प्रत्येक मकान के साथ स्नानघर

की व्यवस्था है। इससे हम इस सभ्यता की स्वच्छता की भावना तथा सौंदर्यप्रियता का अनुमान लगा सकते हैं। इनका सार्वजनिक जीवन सुखमय तथा आमोद-प्रमोद युक्त था।

4. **धार्मिक स्थिति**—मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा की खुदाइओं में मिट्टी की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं जिनसे यह अनुमान होता है कि इस सभ्यता में धर्म का वह प्रारंभिक रूप विकसित हो चुका था जिसमें मातृसत्ता को एक सार्वभौम शक्ति के रूप में पूजा जाता था। मातृदेवी की उपासना आदिम सभ्यता का एक प्रमुख लक्षण है। अभी तक सिंधु घाटी की खुदाई में **कोई** मंदिर अथवा सार्वजनिक पूजा-स्थल नहीं **मिला। इससे प्रमाणित** होता है कि मातृदेवी की पूजा एक पारिवारिक आचार रहा होगा।



सिंधु सभ्यता की नारी की मूर्ति

नारी मूर्तियाँ कटि प्रदेश के ऊपर प्रायः नग्न हैं। गले में हार तथा सिर पर पंखे के आकार का कोई आभूषण धारण किए हैं। इनके दोनों ओर प्याले की आकृति के पात्र भी मिले हैं जिनमें शायद धूप-दीप जलाया जाता होगा। देवी के रूप में मातृ-सत्ता की उपासना भारत के अधिकांश परिवारों में आज भी प्रचलित है।

पुरुष देवताओं में एक मुहर पर तीन मुँहवाली एक नग्न आकृति चौकी पर पद्मासन लगाकर बैठी हुई है। इसके चारों ओर हाथी, बैल तथा चौकी के नीचे हिरण अंकित हैं। यह मूर्ति शिव के पशुपति रूप की समझी जाती है तथा ध्यान मुद्रा से प्रकट होता है कि सिंधुघाटी वासी योगाचार से सुपरिचित थे। कुछ पाषाण शंकु अथवा बेलन के आकार के भी मिले हैं।

विद्वानों का अनुमान है कि शिव लिंग पूजा का यह प्रारंभिक चरण था। मुहरों पर अंकित पीपल और नीम के वृक्षों से यह अनुमान होता है कि उस समय किसी-न-किसी रूप में इन वृक्षों की पूजा होती रही होगी। मिट्टी के तावीज़ पर एक पुरुष आकृति ढोल बजाकर नृत्य करती हुई दिखाई गई है। इससे उस सभ्यता की संगीत-नृत्यप्रियता का अनुमान होता है। यह कहना कठिन है कि नृत्य-संगीत पूजा-अर्चना

का एक अंग था अथवा आमोद-प्रमोद का। नर्तकी की काँस्य मूर्ति भी इन खुदाइयों में उपलब्ध हुई है और विद्वान लोग इसे देवदासी का प्रतीक मानते हैं।

5. खान-पान—सिंधु घाटी की खुदाई में मटर, तिल और गेहूँ के दाने पाए गए हैं। अन्न के अतिरिक्त बैल, भेड़, सूअर, मुर्गी, घड़ियाल तथा मछलियों की हड्डियाँ के ढेर भी घरों तथा गलियारों में मिले हैं। इससे इस सभ्यता के खानपान का कुछ अनुमान लगता है। खाने-पीने के बर्तन प्रायः मिट्टी के बनाए जाते थे। मसाले कूटने-पीसने के लिए बहुत से सिल बट्टे मिले हैं। इसी प्रकार रोटी बेलने के बेलन आदि भी मिले हैं। इन सब उपकरणों से प्रतीत होता है कि वे लोग पाक शास्त्र में काफी निपुण रहे होंगे। और व्यंजनों की संख्या भी काफी रही होगी। सिंधु घाटी के लोग स्वादिष्ट भोजन करने के आदी थे।

6. आमोद-प्रमोद—सिंधु घाटी की खुदाइयों में खिलौने प्रचुर मात्रा में मिले हैं। ये खिलौने मिट्टी तथा हाथी दाँत के बने हुए हैं। मिट्टी की बैलगाड़ी मिट्टी के झुनझुने और पशु पक्षी बहुत संख्या में मिले हैं। इससे प्रतीत होता है कि उस युग में बालक खिलौनों के बहुत शौकीन रहे होंगे। हाथी-दाँत के बने हुए पासे यह सिद्ध करते हैं कि पासे से खेले जाने वाले चौपड़ जैसे खेल उस युग के आमोद-प्रमोद के प्रमुख साधन थे। शायद जुआ खेलने का भी रिवाज था।

7. वस्त्र और वेशभूषा—सूती वस्त्रों का निर्माण विश्व भर में उस समय तक नहीं हो पाया था। कपास की खेती में भारत प्रारंभ से अग्रणी रहा है। सूत की कताई के बढ़िया उपकरण खुदाइयों से प्राप्त हुए हैं। इससे प्रतीत होता है कि उस समय सूती वस्त्र धारण करने का आम रिवाज था। कताई-बुनाई घरेलू धंधा था। स्त्रियाँ इस उद्योग का प्रमुख रूप से संचालन करती थी। मोहेंजोदड़ो की अधिकांश मूर्तियाँ कोपीन अथवा आधा लहंगा पहने हुए चित्रित है। पुरुष मूर्तियाँ शाल ओढ़े हुए अंकित की गई है इससे प्रकट होता है कि शाल धारण करने का उस समय आम रिवाज था। पुरुषों के बाल लम्बे चित्रित किए गए हैं। जिनमें मांग बीच से निकाली गई है। स्त्रियाँ बेणी अथवा जूड़ा बाँधे हुए चित्रित की गई है। पुरुषों के चेहरे पर हल्की दाढ़ी-मूँछ अंकित है। स्त्रियों में आभूषणप्रियता उस समय भी विद्यमान थी। वे सोने, चाँदी, तांबे के आभूषणों के साथ गुरियों को धारण करती थीं। कानों में बालियाँ तथा नाक में नथ पहनने का भी आम रिवाज था। इसी प्रकार नारियों की कलाइयों पर चूड़ियाँ तथा कंगन विद्यमान हैं। कटि में मणि-मेखला भी पहनी जाती थी। पुरुष हार, अंगद और अंगूठियाँ पहनते थे। स्त्रियों की शृंगारप्रियता का प्रमाण खुदाई से निकले सिंगारदानों, दवदानों तथा ऐसी छोटी चमकीली डिबियों से लगता है जिनमें काजल, सिंदूर, महावर, आदि रूपसज्जा के उपकरणों से लगता है। शीशे का आविष्कार तब तक नहीं हुआ था इसलिए काँसे के चमकीले दर्पण प्रयोग में आते थे।

8. **कला कौशल**—सिंधु सभ्यता की प्रमुख कलाएं कलापूर्ण हैं। मिट्टी की मुहरों के द्वारा इस कला की उत्कृष्टता का आभास मिलता है। मुहरों पर जानवरों के चित्र तथा कुछ लिपि चिह्न भी अंकित हैं। हाथी दांत की कारीगरी के सुन्दर अवशेष मिले हैं। प्रस्तर मूर्तियों और मिट्टी के बर्तनों पर भी सुन्दर चित्रकारी अंकित है। बर्तन चाक पर बनाए जाते थे और ईंधन से पकाए जाते थे। पके हुए बर्तनों पर गेरु और हल्के रंग से रंगीन चित्र बनाए जाते थे। बिल्लौर को पीस उसका लेप करके चिकने बर्तन भी बनाए जाते थे।

9. **उद्योग धंधे**—सिंधु सभ्यता का सबसे बड़ा उद्योग कृषि था। हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त विशाल अन्नागार से यह अनुमान लगाना सहज है कि इस युग में बड़े पैमाने पर पंजाब में अन्न का उत्पादन होता था। इस अन्नागार के पास आटा पीसने की अखलनुमा चक्कियां तथा मजदूरों के छोटे-छोटे घरों के अवशेष भी मिले हैं। इससे प्रकट होता है कि ईसा के 5000 पूर्व भारत में सामूहिक उद्योग स्थापित हो चुके थे किन्तु अभी तक यह प्रमाणित नहीं हो सका कि समाज का आर्थिक आधार पर स्तरीकरण हो चुका था अथवा नहीं अर्थात् वर्ण-व्यवस्था का सूत्रपात हुआ था अथवा नहीं।

इस प्रकार सिंधु घाटी की सभ्यता एक पर्याप्त समुन्नत सभ्यता प्रमाणित होती है। इस सभ्यता की बहुत-सी बातें भारत के जन-जीवन में अब तक व्याप्त हैं।

वैदिक संस्कृति

1.1 भारतवर्ष का इतिहास बहुत प्रसिद्ध है। इस इतिहास का संपूर्ण ज्ञान हमें प्राप्त नहीं हो सका है। हमारे देश की स्थिति आज से दस या बीस हज़ार वर्ष पूर्व क्या थी, उस समय की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था किस प्रकार की थी, विद्वान् इन प्रश्नों का सही उत्तर देने में असमर्थ हैं। ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में कोई बात निश्चयात्मक ढंग से कहना संभव नहीं है। पुराणों में इतिहास की पर्याप्त सामग्री मिलती है। उसका वैज्ञानिक अध्ययन करके प्राचीन भारत के इतिहास का एक चित्र प्रस्तुत किया जा सकता है। इस दृष्टि से विद्वान पुराणों का अध्ययन करने लगे हैं। अतः भारत की संस्कृति के आदि काल का बहुत अंश अभी तक प्रकाश में नहीं आया है।

1.2 भारतीय संस्कृति का आरंभ वेदों से भी पूर्व हो चुका था। वेदों में ही इस के पुष्ट प्रमाण मिलते हैं। आर्य तथा आर्येतर संस्कृति के संघर्ष और समन्वय का चित्र वेदों में मिलता है। मोहेंजोदाड़ो और हड़प्पा के उत्खननों से एक अति-प्राचीन संस्कृति के भग्नावशेष उपलब्ध हुए हैं।[1] इस समय के लोगों ने सुंदर नगरों का निर्माण किया था। विशाल स्नानागार बनाए थे। मालूम होता है कि वे सभ्यता के विकास में काफ़ी आगे बढ़ चुके थे[2]। उनके कुछ अभिलेख भी प्राप्त हुए हैं। इन अभिलेखों की लिपि को पढ़ने के प्रयास में विद्वानों को अभी तक पूर्ण सफलता नहीं मिली है। यदि इस लिपि का रहस्य खुलेगा तो हमारे प्राचीन इतिहास पर और अधिक प्रकाश पड़ेगा।

1.3 आज तक उपलब्ध सामग्री के आधार पर हम यही मान कर चलते हैं कि वेदों से ही हमारी संस्कृति का इतिहास भी प्रारंभ होता है। वेदों की रचना कब हुई थी, यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है। कुछ आस्तिक लोगों का विश्वास है कि वेद अनादि या अपौरुषेय हैं, किसी ने उनकी रचना नहीं की। भारत के नैयायिकों ने कहा कि वेदों को ईश्वर ने बनाया। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में कहा गया है कि विराट् पुरुष से वेदों की उत्पत्ति हुई[3]। कुछ भारतीय विद्वान् वेदों की रचना का काल ई. पू. दस हज़ार मानते हैं। योरप के विद्वानों में भी इस विषय पर जबर्दस्त मतभेद है। लेकिन सब विद्वान् मानते हैं कि वेद मानव जाति का सर्व प्रथम साहित्य है। वह कम से कम आज से चार हज़ार वर्ष प्राचीन है। उस प्राचीन काल के भारत को जानने के लिए वेद ही सर्वश्रेष्ठ

प्रमाण है। प्राचीन भारत का सामाजिक तथा सांस्कृतिक इतिहास वेदों में सुरक्षित है। वेद हिंदू-जाति का पवित्र ग्रंथ तो है ही, किंतु इतिहास की दृष्टि से भी उनका विशेष महत्त्व है।

1.4 वेद चार हैं—ऋक्, यजु, साम और अथर्वन्। ऋग्वेद इनमें सबसे प्राचीन है। यह छंदों में लिखा गया है। ऋग्वेद में दस मंडल (खंड) हैं और छंदों की संख्या दस हज़ार से अधिक है। ये सब कुछ छंद एक ही समय नहीं बने थे। अनेक ऋषियों ने समय-समय पर कुछ ऋचाएँ बनाई थीं। इन मंत्रद्रष्टा ऋषियों में लोपामुद्रा, श्रद्धा आदि कई स्त्रियों के नाम भी आए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में स्त्रियाँ विद्या के क्षेत्र में पुरुषों के बराबर ही अग्रणी स्थान लेती थीं।

यजुर्वेद गद्य में लिखा गया है। यज्ञ-याग आदि का इसमें विशेष वर्णन है। संस्कृत भाषा का सरल गद्य इसी समय विकसित हो रहा था। 'अग्नीनिद्वय' के नाम से इसके ग्रंथ विस्तार का परिचय प्राप्त होता है। प्रश्न, अनुवाक आदि में यह वेद विभाजित है।

सामवेद संगीत प्रधान है। ऋग्वेद के लगभग एक हज़ार मंत्र साम वेद में पाए जाते हैं। सिर्फ थोड़े से मंत्र ही इस वेद के अपने हैं। पंतजलि का कहना है कि सामवेद की एक सहस्र शाखाएं हैं[4]। वर्तमान काल में सिर्फ दो शाखाएँ जीवित पाई जाती हैं। ऋक्, यजु और साम को 'त्रयी' कहते हैं। इन तीनों वेदों को अत्यंत पवित्र मानते हैं।

चौथा अथर्ववेद परवर्ती काल की रचना है। इसमें कई प्रकार के विषयों का वर्णन किया गया है। मारण, उच्चाटन आदि अभिचार की क्रियाएँ भी इसमें वर्णित हैं। ये चारों वेद हमारी संस्कृति के मूल आधार हैं।

वेदों में 'मंत्र' का स्थान सर्वप्रथम है। मंत्रों की व्याख्या के लिए 'ब्राह्मण' ग्रंथ लिखे गए जिनमें शतपथ ब्राह्मण, कौतकी ब्राह्मण आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें कुछ भाग गंभीर चिंतन तथा उपासना के कार्य के लिए हैं। ऐसे चिंतनप्रधान साहित्य को 'आरण्यक' का नाम दिया गया। जिस ग्रंथ में तत्वज्ञान की चर्चा विस्तार से की जाती है उसे 'उपनिषद्' कहते हैं। उपनिषदें वेद के अंतिम अंश हैं। अतः उन्हें 'वेदांत' भी कहते हैं।

वेदों का सही अर्थ जानने के लिए कुछ सहायक शास्त्रों की आवश्यकता है। इन्हें 'वेदांग' कहते हैं। वेदांग छह हैं—(1) शिक्षा (2) व्याकरण (3) छंद (4) निरुक्त (5) ज्योतिष (6) कल्प। रोचक बात यह है कि शिक्षा, व्याकरण, छंद और निरुक्त भाषा विज्ञान की शाखाएँ हैं। इनके अच्छे ज्ञान के बिना वेदों का अर्थ समझना असंभव है।

2.1 वेद में तत्कालीन समाज का सुंदर चित्रण किया गया है। आर्य, दस्यु, देव, दानव आदि का उल्लेख हुआ है। भारत का समाज तब भी अनेक प्रकार की जातियों

का एक समन्वित रूप था। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' उस समाज का आदर्श था। धीरे-धीरे समस्त भारतवर्ष में वैदिक सभ्यता का प्रचार हुआ।

2.2 समाज की रचना का आधार था वर्ण। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में पहली बार वर्णों का उल्लेख आया है[5]। स्मरण रहे कि वर्ण जन्म पर आधारित नहीं था। सत्यकाम जाबाल को—उसके पिता का गोत्र का पता न लगने पर भी—ब्राह्मण मानकर गुरुकुल में प्रवेश दिया गया। छांदोग्य उपनिषद् में उसकी कथा वर्णित है। रामायण में महर्षि विश्वामित्र की कथा आती है, जो पहले क्षत्रिय थे और तपस्या करके ब्रह्मर्षि बन गए। गीता में श्रीं कृष्ण का कहना है कि मैंने गुण और कर्म के आधार पर चार वर्णों की सृष्टि की। परवर्ती काल में भारत में जाति (caste) व्यवस्था प्रचलित हो गई। वेदों में कहीं इसका प्रामाणिक आधार नहीं है।

2.3 वैदिक काल में राजनीतिक जीवन कैसा था, राजा और प्रजा का संबंध कैसा था; वेदों में इसका अच्छा वर्णन है। कई राजा शासन करते थे। उनमें परस्पर युद्ध भी होते थे। राज तंत्र की (monarchy) पद्धति काम कर रही थी। कई राजा तत्वज्ञानी भी होते थे। अजातशत्रु, जनक आदि ऐसे ज्ञानी राजाओं की प्रशंसा उपनिषदों में की गई है।

2.4 लेकिन भारत के कुछ राज्यों में गणतंत्र (republic) की शासन-पद्धति प्रचलित थी[6]। वैदिक साहित्य में गणराज्य का कई बार उल्लेख हुआ है। गण का अर्थ है समूह। कुछ लोगों का एक 'वर्ग' शासक को चुनता था। मतदान का अधिकार इस 'वर्ग' के लोगों को ही मिला था। फिर भी इसे आधुनिक प्रजातंत्र (democracy) का प्रारंभिक रूप कह सकते हैं।

2.5 गणराज्यों में शासक का चुनाव होता था। शासन के कार्य में उसको सलाह देने के लिए राज्य के कुछ प्रतिभाशाली पुरुष चुने जाते थे। उनकी 'सभा' बनती थी। इसको 'सदस्' भी कहते थे। सभा का एक अध्यक्ष (speaker) होता था। यजुर्वेद का एक मंत्र देखिए—

"ओं नमः सदसे। नमः सदसस्पतये। ये च सभ्याः समासदः।
तानिन्द्रियावतः कुरु। सर्वमायुरुपासताम्।"

सभा की तरह एक और संस्था थी, जिसका नाम था 'समिति'[7]। ये आज के प्रजातंत्र में प्रचलित 'लोक सभा' और 'राज्य सभा' के समान दो सदन प्रतीत होते हैं। इतना तो निश्चित है कि वैदिक काल में भारत के कुछ राज्यों में गणतंत्रात्मक शासन-पद्धति प्रचलित थी। ब्रिटिश पार्लिमेंट को 'पार्लिमेंट की जननी' (Mother of Parliaments) कहा जाता है। असली जननी तो वेद के मंत्रों में छिपी हुई है, उसे प्रकाश में लाकर सत्य की स्थापना करनी है।

3.1 मीमांसा शास्त्र का कहना है कि वेद ही धर्म का मूल प्रमाण है। वेद-

विहित कर्म को ही 'धर्म' कहते हैं— (मीमांसा सूत्र)। वेदों में विविध यज्ञों का विधान किया गया है। यह आदेश दिया गया है कि सच बोलो, धर्म का आचरण करो, माता, पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा करो। यही धर्म है। वेद निषिद्ध कर्म को 'अधर्म' या 'पाप' कहते हैं। धर्म का ही दूसरा नाम है 'पुण्य'। 'मनु का कहना है कि हम धर्म की रक्षा करें तो धर्म हमारी रक्षा करता है—'धर्मो रक्षति रक्षितः।'

3.2 कर्म आत्मा के संस्कार के लिए आवश्यक है। कर्तव्य कर्म का पालन करना अनिवार्य है। कुछ लोग कर्म को निरर्थक रूढ़ि (ritual) मानकर कर्मकांड की निंदा करते हैं। लेकिन रूढ़ि और कर्म में भेद है। आत्मोन्नति के लिए कर्म करना ही चाहिए। यज्ञ, दान, तपस्या, सेवा आदि 'कर्म' व्यक्ति और समाज की रक्षा के लिए आवश्यक हैं। कर्म को रूढ़िवाद से मुक्त करके वेदोक्त रूप में ग्रहण करना चाहिए। वेद के कर्मकांड की व्याख्या करने के लिए महर्षि जैमिनि ने 'मीमांसा' दर्शन की स्थापना की।

3.3 कर्म के साथ ही वेदों में तत्वज्ञान की भी विस्तार से चर्चा की गई है। कर्म और ज्ञान प्रतिद्वंद्वी नहीं हैं। इन दोनों में कोई विरोध नहीं है। कर्म के बिना शुष्क ज्ञान मूर्खता का नाम है। अतः कर्म और ज्ञान का समुच्चय ही अपेक्षित है। ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

3.4 कर्म का सिद्धांत मानता है कि हम अपने कर्म से ही अपनी उन्नति कर सकते हैं। कर्मवाद का अर्थ यह नहीं है कि हम भाग्य के भरोसे निष्क्रिय बैठे रहें। हमारा वर्तमान अच्छा हो या बुरा—हमारे अतीत का फल है। जो हमने पहले किया, उसका फल आज मिल रहा है। इसी प्रकार हमारा भविष्य आज के हमारे कर्मों के आधार पर बनेगा। सो इसमें कहीं निराशा या भाग्यवाद की बात नहीं आती। वेद का संदेश है कि मानव स्वयं अपने भाग्य का विधाता है, वह परावलंबी नहीं है।

3.5 कर्मवाद की चरम परिणति है कर्ता तथा भोक्ता के रूप में अविनाशी आत्मा की स्थापना। यह शरीर आत्मा नहीं है। शरीर का जन्म होता है, विकास होता है और अंत में नाश होता है। 'इदं भस्मान्तं शरीरम्।' तब कर्म का फल किसे मिलेगा? इसलिए मानना पड़ता है कि शरीर का स्वामी एक नित्य चेतन है, जिसका नाम है 'आत्मा'। यह आत्मा एक देह को छोड़ कर दूसरी देह में प्रवेश करती है तो उसे 'पुनर्जन्म' कहते हैं। पुनर्जन्म का अर्थ है देहांतर में प्रवेश करना। गीता में कहा गया है कि जिस प्रकार मनुष्य कपड़े बदलता है उसी प्रकार आत्मा शरीरों को बदलती है।[8] आत्मा का जन्म या मरण नहीं होता।

3.6 आत्मा को अपने कर्म का फल भोगना पड़ता है। पाप का फल भोगने का स्थान है 'नरक'। पुण्य का फल भोगने का स्थान है 'स्वर्ग'। स्वर्ग और नरक दोनों

ही अनित्य हैं। कर्म का फल भोगने के बाद आत्मा को पुनः इसी भूलोक या कर्म-भूमि में आना पड़ता है। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति।' कर्मभूमि में जीवित रहते समय पुनः हम कर्म करते हैं। जीवन का अंत होने के बाद उन कर्मों का फल भोगने के लिए फिर स्वर्ग या नरक में जाते हैं। इस प्रकार आने-जाने का, जन्म-मृत्यु का सिलसिला चलता ही रहता है। संस्कृत में इसी आवागमन के चक्कर को 'संसरण' 'संसृति' या 'संसार' कहते हैं।

3.7 हम अनादि काल से इस संसार चक्र में पड़कर घूम रहे हैं। इससे छुटकारा पाने का क्या उपाय है? जन्म-मरण की निरंतर समस्या से बचने के लिए क्या करना चाहिए? स्वाभाविक रूप से ऐसी जिज्ञासा उठती है। भारत के प्राचीन मनीषियों ने कहा कि आत्मा को वासना के कल्मष से मुक्त करने का पहला साधन है 'कर्म' का अनुष्ठान। फल की कामना से रहित होकर कर्तव्य की भावना से कर्म करना चाहिए। गीता में इसी को 'कर्मयोग' कहा गया है। यह कर्म क्या है, इसका कौन सा स्वरूप है, कितने प्रकार हैं, अनुष्ठान की विधि कैसी है, कर्म का देवता क्या है, फल की सिद्धि कैसे होती है—इस तरह के कई सवाल उठते हैं। कर्म का सांगोपांग शास्त्रीय विवेचन करने के लिए एक दर्शन (System of philosophy) की स्थापना हुई। इसी को 'मीमांसा' कहते हैं। 'मीमांसा' शब्द का अर्थ है तर्कपूर्ण विचार। इस शास्त्र के प्रवर्तक थे महर्षि जैमिनी। उनके मीमांसा सूत्र बारह अध्यायों में विभक्त हैं। इसे वेदांत से पृथक् करने के लिए 'पूर्व मीमांसा' अथवा 'कर्म मीमांसा' कहते हैं। मीमांसा शास्त्र के विकास में कुमारिल भट्ट, प्रभाकर आदि महान आचार्यों का योगदान उल्लेखनीय है। मीमांसा पर संस्कृत में हजारों ग्रंथ लिखे गए हैं।

4.1 कर्म का अंतिम लक्ष्य है 'मोक्ष'। मानव जीवन में चार पदार्थ वांछनीय हैं। इनका नाम है 'पुरुषार्थ'। ये चार पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें मोक्ष ही सबसे बड़ा है।

मोक्ष का अर्थ है बंधन से छुटकारा पाना। पाप-पुण्य कर्म के दो रूप हैं। इस कर्म से मुक्त होकर शाश्वत आनंद का उपभोग करना ही मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ आत्मा का नाश नहीं है। आत्मस्वरूप का साक्षात्कार, अविद्या या माया का उच्छेद, कर्म और पुनर्जन्म से निवृत्ति और अनंत आनंद की उपलब्धि मोक्ष का अर्थ है।

4.2 मोक्ष प्राप्ति के साधन हैं कर्म, ज्ञान, भक्ति और प्रपत्ति। भक्ति का अर्थ है भगवान् से प्रेम करना। प्रपत्ति का अर्थ है भगवान् की शरण में जाना। श्वेताश्वतर में इस शब्द का प्रयोग हुआ है—'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।' इन सब साधनों में परस्पर संबंध है। इनके आधार पर मोक्ष के लिए साधना करने का विधान है।

4.3 आरण्यकों तथा उपनिषदों में आत्म स्वरूप के यथार्थ ज्ञान के लिए कई तरह के उपदेश दिए जाते हैं। श्वेतकेतु, सत्यकाम, जाबाल, सनत्कुमार, याज्ञवल्क्य, अजातशत्रु आदि कई ज्ञानी पुरुषों की चर्चा, संवाद, प्रश्नोत्तर आदि का वर्णन किया

गया है। उपनिषदों की संस्कृत भाषा सरल है। सरल शब्दों में गंभीर विषयों की मार्मिक व्याख्या की गई है। ईशावास्य, छांदोग्य, तैत्तिरीय, कठ, बृहदारण्यक आदि कुछ उपनिषदें प्रमुख हैं। इनमें बृहदारण्यक अत्यंत विस्तृत ग्रंथ है। उपनिषदों पर शंकराचार्य आदि प्रसिद्ध आचार्यों ने भाष्य लिखे हैं।

4.4 वेदों में अग्नि, वायु, वरुण, रुद्र आदि कई देवताओं की स्तुति की गई है। अनेक देवी-देवताओं को मानना 'बहुदेववाद' है। इसलिए कुछ लोग कहते हैं कि वैदिक काल में एक ईश्वर की कल्पना नहीं थी। वैदिक आर्य तैंतीस करोड़ देवताओं की पूजा करते थे। लेकिन यह कथन भ्रमपूर्ण है। ऋग्वेद में ही सर्वप्रथम कहा गया है कि अग्नि, यम, इंद्र, वायु आदि भिन्न-भिन्न देवता एक ही सर्वशक्तिमान् ईश्वर के विविध नाम और रूप हैं—'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति।' पुरुष सूक्त में कहा गया है कि वायु, चंद्र आदि देवता ईश्वर के अंगों से उत्पन्न हुए हैं।[9] उपनिषदों की घोषणा है कि ईश्वर एक ही है, दूसरा नहीं है—"एक मेवाद्वितीयम्।' 'एकः शास्ता न द्वतीयोस्ति शास्ता।' इस प्रकार ऐकेश्वरवाद की स्थापना वैदिक युग में ही हो चुकी थी।

4.5 उपनिषदों में विभिन्न विचार धाराएँ उपलब्ध होती हैं। कहीं कहा गया है कि जीव और ब्रह्म में भेद नहीं है—'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।' (छांदोग्य) कहीं तो अनेक जीवों का तथा उनकी रक्षा करने वाले ईश्वर का उल्लेख है—'नित्यो नित्यानां चेतनः चेतनानाम्, एको बहूनां यो विदधाति कामान्।' ऐसे वाक्यों के आधार पर विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों का जन्म हुआ। जीव-ब्रह्म का अभेद 'अद्वैत' कहलाता है। जीव और ईश्वर को दो भिन्न तत्व मानना 'द्वैत' है। शंकराचार्य 'अद्वैत' के महान आचार्य हुए। उनका जन्म स्थान केरल था। कर्णाटक में 'द्वैत' के भाष्यकार मध्वाचार्य पैदा हुए। इन दोनों के मध्यकाल में तमिलनाडु में रामानुजाचार्य हुए। उन्होंने 'विशिष्टाद्वैत' का प्रचार किया। ये तीनों आचार्य दक्षिण के थे। परवर्ती काल में वल्लभाचार्य, चैतन्य, निंबार्क आदि अन्य कई आचार्यों ने अपने मौलिक योगदान से भारतीय दर्शन का विकास किया।

4.6 महर्षि वेद व्यास ने वेदांतों या उपनिषदों की व्याख्या करने के लिए 'ब्रह्मसूत्र' लिखे। इससे 'ब्रह्ममीमांसा' दर्शन का सूत्रपात हुआ। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता को 'प्रस्थानत्रयी' कहते हैं। व्यास के ब्रह्म सूत्रों पर शंकर, रामानुज, मध्व आदि सभी प्रमुख आचार्यों ने भाष्य लिखे हैं। इसी प्रकार गीता पर भी व्याख्या लिखी है। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता, उनके भाष्य आदि ये सब ग्रंथ ब्रह्मीमांसा या आत्मज्ञान के साहित्य के अंग हैं। यह साहित्य भारत की आध्यात्मिक संपत्ति है और विश्व को भारत की बहुमूल्य देन है।

4.7 परवर्ती भारतीय साहित्य और संस्कृति पर द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत,

ही अनित्य हैं। कर्म का फल भोगने के बाद आत्मा को पुनः इसी भूलोक या कर्म-भूमि में आना पड़ता है। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति।' कर्मभूमि में जीवित रहते समय पुनः हम कर्म करते हैं। जीवन का अंत होने के बाद उन कर्मों का फल भोगने के लिए फिर स्वर्ग या नरक में जाते हैं। इस प्रकार आने-जाने का, जन्म-मृत्यु का सिलसिला चलता ही रहता है। संस्कृत में इसी आवागमन के चक्कर को 'संसरण' 'संसृति' या 'संसार' कहते हैं।

3.7 हम अनादि काल से इस संसार चक्र में पड़कर घूम रहे हैं। इससे छुटकारा पाने का क्या उपाय है? जन्म-मरण की निरंतर समस्या से बचने के लिए क्या करना चाहिए? स्वाभाविक रूप से ऐसी जिज्ञासा उठती है। भारत के प्राचीन मनीषियों ने कहा कि आत्मा को वासना के कलुष से मुक्त करने का पहला साधन है 'कर्म' का अनुष्ठान। फल की कामना से रहित होकर कर्तव्य की भावना से कर्म करना चाहिए। गीता में इसी को 'कर्मयोग' कहा गया है। यह कर्म क्या है, इसका कौन सा स्वरूप है, कितने प्रकार हैं, अनुष्ठान की विधि कैसी है, कर्म का देवता क्या है, फल की सिद्धि कैसे होती है—इस तरह के कई सवाल उठते हैं। कर्म का सांगोपांग शास्त्रीय विवेचन करने के लिए एक दर्शन (System of philosophy) की स्थापना हुई। इसी को 'मीमांसा' कहते हैं। 'मीमांसा' शब्द का अर्थ है तर्कपूर्ण विचार। इस शास्त्र के प्रवर्तक थे महर्षि जैमिनी। उनके मीमांसा सूत्र बारह अध्यायों में विभक्त हैं। इसे वेदांत से पृथक् करने के लिए 'पूर्व मीमांसा' अथवा 'कर्म मीमांसा' कहते हैं। मीमांसा शास्त्र के विकास में कुमारिल भट्ट, प्रभाकर आदि महान आचार्यों का योगदान उल्लेखनीय है। मीमांसा पर संस्कृत में हजारों ग्रंथ लिखे गए हैं।

4.1 कर्म का अंतिम लक्ष्य है 'मोक्ष'। मानव जीवन में चार पदार्थ वांछनीय हैं; इनका नाम है 'पुरुषार्थ'। ये चार पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें मोक्ष ही सबसे बड़ा है।

मोक्ष का अर्थ है बंधन से छुटकारा पाना। पाप-पुण्य कर्म के दो रूप हैं। इस कर्म से मुक्त होकर शाश्वत आनंद का उपभोग करना ही मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ आत्मा का नाश नहीं है। आत्मस्वरूप का साक्षात्कार, अविद्या या माया का उच्छेद, कर्म और पुनर्जन्म से निवृत्ति और अनंत आनंद की उपलब्धि मोक्ष का अर्थ है।

4.2 मोक्ष प्राप्ति के साधन हैं कर्म, ज्ञान, भक्ति और प्रपत्ति। भक्ति का अर्थ है भगवान् से प्रेम करना। प्रपत्ति का अर्थ है भगवान् की शरण में जाना। श्वेताश्वतर में इस शब्द का प्रयोग हुआ है—'मुमुक्षु र्वै शरणमहं प्रपद्ये।' इन सब साधनों में परस्पर संबंध है। इनके आधार पर मोक्ष के लिए साधना करने का विधान है।

4.3 आरण्यकों तथा उपनिषदों में आत्म स्वरूप के यथार्थ ज्ञान के लिए कई तरह के उपदेश दिए जाते हैं। श्वेतकेतु, सत्यकाम, जाबाल, सनत्कुमार, याज्ञवल्क्य, अजातशत्रु आदि कई ज्ञानी पुरुषों की चर्चा, संवाद, प्रश्नोत्तर आदि का वर्णन किया

शुद्धाद्वैत, भेदाभेदवाद आदि विचारधाराओं का प्रत्यक्ष तथा परोक्ष—दोनों रूपों से प्रभाव पड़ा है। सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, माया-अविद्या, ज्ञान और भक्ति आदि का मूल स्रोत यही है। हिंदी का भक्ति साहित्य पूर्ण रूप से इस विचारधारा से प्रभावित है। कर्म, स्वर्ग, नरक, मोक्ष, पुनर्जन्म आदि के विचारों से हमारा सांस्कृतिक जीवन आज भी ओतप्रोत है। इतिहास में कई संस्कृतियों का आविर्भाव हुआ। कालांतर में उनकी जीवनी शक्ति क्षीण हो गई, किंतु भारतीय संस्कृति सहिष्णुता और समन्वय के आधार पर आज भी स्वस्थ और सशक्त है और हमारा विश्वास है कि अनंतकाल तक रहेगी।

वेद-वाणी

–एक ही परम तत्व की विद्वान् कवियों ने अनेक प्रकार से कल्पना की है।
(ऋक्. 10/114/5)

–मनुष्य अपना ध्येय श्रम और तप से ही पा सकता है। (ऋक्. 5/44/8)

–हम नए से भी नए और ऊँचे से भी ऊँचे जीवन की ओर बढ़ते चलें।
(ऋक्. 10/59/1)

–प्रसन्न मन से हम उदीयमान सूर्य का नित दर्शन करें। (ऋक्. 6/52/5)

–सारा जगत हमें व्याधियों से बचाकर आह्लाद देने वाला बन जाए।
(यजु. 16/4)

–सही रास्ते पर वही नेता ले जाता है जो विद्वान् होता है। (ऋक्. 5/46/1)

–जो मित्र का सहायक नहीं वह मित्र नहीं हो सकता। (ऋक्. 10/117/4)

–अकेला खाने वाला पाप खाने वाला होता है। (ऋक्. 10/117/6)

–जनता को जागरूक नेता ही बचा सकता है। (साम. उ. 3/1/6)

–भूमि मेरी माता है, मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ। (अथर्व. 12/1/12)

–परजाय हमारे पास न आए। अपयश हमें प्राप्त न हो और ऐसे दूषित कर्मों से हम दूर रहें जो दुर्वेष बढ़ाने वाले हैं। (अथर्व. 1/20/1)

–विश्व भावन ब्राह्मण ब्रह्म तेज से युक्त हों। राजागण शूरवीर, धनुर्धर, नीरोग और महारथी हों। (यजु. 22/12)

–गौएँ दुधारू हों, बैल भार ढोने में समर्थ हों, घोड़े शीघ्रगामी हों, नारियाँ शोभामयी हों, यजमान की संतति वीर हो। आवश्यकता के अनुसार वर्षा हो, वनस्पतियाँ फलती रहें। हमारा योग क्षेम हो।

–हममें न तो कोई बड़ा है और न कोई किसी से छोटा है।
हम आपस में सब भाई-भाई हैं।
हम सब मिलकर प्रयत्न करते हैं (ऋक्. 5/59/6)

–हमारी वाणी मधुर हो और उसमें बल हो। (ऋक्. 21/2)

–जो भी हमें आँख से, मन से, चित्त से और संकल्प से अपना दास बनाना चाहता है अग्नि देव ! तू उसे नष्ट कर दे। (अथर्व. 5/6/10)

–हे सोमदेव ! हमारी आपस में फूट न हो। (अथर्व. 1/20)

–जब वह (राजा) प्रजा के अनुकूल चलता है तभी सभा, समिति और सेना उ अनुकूल होती है। तभी उसके कोष का संवर्धन होता है।

उपनिषद् वाक्य

–जगत में जो कुछ भी कमनीय है उसे ईश्वर से आच्छादित समझ कर भोग क चाहिए। पराए धन का लालच नहीं करना चाहिए।

–मनुष्य कर्म-मार्ग में निरत रहते हुए 100 वर्ष तक जीने की इच्छा करे। क अतिरिक्त उसके लिए कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

–जो केवल अविद्या (भौतिक विज्ञान) की उपासना करते हैं। वे अंधकार मे पहुंचते हैं। किंतु जो केवल विद्या (अध्यात्म विज्ञान) में रत हैं वे उससे घोर नरक में पड़ते हैं।

–जो विद्या और अविद्या दोनों का (जीवन के लिए उपयोगी समझ कर) अनुस करते हैं वे अविद्या के सहारे (भौतिक जीवन को सफल बनाकर) मृत्यु को कर जाते हैं और विद्या के सहारे अमृत (आत्म सुख) का रसास्वादन करते

–श्रेय (परमार्थ) का मार्ग भिन्न है और प्रेय (स्वार्थ) का मार्ग भिन्न है। श्रेय प्रेय समय-समय पर दोनों ही मनुष्य को बाँधते हैं। जो प्रेय का वरण क है वह अपने (जीवन के) लक्ष्य से पतित हो जाता है। किंतु जो श्रेय का करता है वह कल्याण को प्राप्त करता है।

–श्रेय और प्रेय की भावनाएँ मानव बुद्धि के समक्ष मिले-जुले रूप में उप होती हैं। मंद बुद्धि के मनुष्य सुख चैन का जीवन बिताने के लिए प्रेय का करता है। जो धीर (लालच पर विजय प्राप्त कर सकने वाले) हैं वे प्रेय के पर श्रेय का वरण करते हैं।

–यह आत्मा न तो प्रवचनों से और न तर्क-वितर्क अथवा ग्रंथों के अध्यय प्राप्त होती है। जो लोग अपने जीवन को आत्म-दर्शन के लिए समर्पित क हैं, आत्मज्ञान उन्हीं का वरण करता है। आत्मा अपना स्वरूप उनके स्वयं उद्घाटित कर देती है।

–उठो, जागो, श्रेष्ठ पुरुषों के पास जाकर आत्मज्ञान प्राप्त करो। यह तलवार की धारा के समान पैनी है। इस पर एक-एक पग सँभल-सँभल रखना पड़ता है।

–सत्य की जय होती है, असत्य की नहीं।

सत्य का मार्ग ही देवों तक (कल्याण की ओर) ले जाने वाला है।

ऋषि-महर्षि सत्य के मार्ग पर चलकर ही उस परम धाम तक पहुँचे हैं, जिससे आगे और कोई गंतव्य नहीं है।

—जैसे बहनेवाली नदियाँ समुद्र को प्राप्त करके नाम रूप से मुक्त हो जाती हैं, उसी प्रकार यह जीव परमात्मा को प्राप्त कर अपने नाम रूप से मुक्त हो जाता है।

—उसे परात्पर का अनुभव कर लेने पर हृदय की सारी गुत्थियाँ खुल जाती हैं, समस्त संशय समाप्त हो जाते हैं और संपूर्ण कर्मों का क्षय हो जाता है।

दीक्षांत उपदेश

तुम सत्य बोलना। धर्म का आचरण करना। अपने अध्ययन के प्रति प्रमाद मत करना। (गुरुकुल में प्राप्त ज्ञान का आजीवन संवर्धन करना)।

आचार्य को (शक्त्यानुसार) दक्षिणा देकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना। संतान की परंपरा का उच्छेद न करना।

स्वाध्याय और प्रवचन के द्वारा अपने ज्ञान का विकास करना। देव और पितरों के प्रति तुम्हारा जो कर्तव्य है उसका निर्वाह करना।

माता देव तुल्य है। पिता देव तुल्य है। आचार्य देव तुल्य है। अतिथि देव तुल्य है। इनकी सेवा-सुश्रुषा आजीवन करना।

जो कर्म अनिंदित हैं उन्हें करना, दूसरों (निंदित कर्मों) को नहीं। हमारे जो सदाचार हैं उन्हीं की उपासना करना दूसरों की नहीं। हमारे श्रेष्ठ विद्वान् जहाँ विराजमान हों उनकी संगोष्ठियों में बैठकर उनके प्रवचनों को ध्यानपूर्वक सुनना और उनका यथेष्ट आदर करना।

दान श्रद्धा से करना। अश्रद्धा के साथ दान न करना। प्रसन्नतापूर्वक दान करना। नम्रतापूर्वक दान करना। दान भय से न करना। सम्मानपूर्वक दान करना।

यदि कभी तुम्हें कर्तव्याकर्तव्य के विषय में कोई शंका उत्पन्न हो तो विचारवान तपस्वी और कर्तव्यपरायण शांत और सरल स्वभाव के विद्वानों के पास जाकर उस शंका का समाधान कर लेना और परिस्थिति विशेष में वे जैसा आचरण करते हों वैसा तुम भी करना।

यही आदेश है। यही उपदेश है। यही वेद है और उपनिषदों का सार है। यही शिक्षा है। इसके अनुसार ही जीवन में आचरण करना।

—अन्न की निंदा (बर्बादी) नहीं करनी चाहिए।

अन्न का त्याग नहीं करना चाहिए।

अन्न की उपज बढ़ानी चाहिए।
किसी भी अतिथि को घर से (भूखा) नहीं लौटाना चाहिए।
यह व्रत है। इसका पालन करना चाहिए।
—जो भूमा व्यापक और महान है वही सुख रूप है।
अल्प में सुख नहीं है। भूमा को जानने का प्रयत्न करना चाहिए।
—जैसे तिलों में तेल और दही में घृत है।
जैसे स्रोतों में जल और लकड़ियों में आग है।
वैसे ही हमारी आत्मा में वह परमात्मा है।
सत्य और तप के द्वारा जो इसका अनुसंधान करता है उसको वह अपने भीतर ही प्राप्त हो जाता है।
—वही एक देव जगत का स्रष्टा है। वही महान आत्मा है।
वही सदा ही जनमन में स्थित है।
वह देव श्रद्धा, बुद्धि और चिंतन-मनन से प्राप्त होता है।
जो उसका अनुभव कर लेते हैं वे अमृत पद प्राप्त कर लेते हैं।
—सब प्राणियों के अंतस् में छिपी हुई आत्मा एक ही है।
वह सबमें व्याप्त है और सब प्राणियों की अंतरात्मा है।
वह हमारे सब कर्मों की अध्यक्ष है।
वह सब प्राणियों में बसी हुई है।
वह सब कुछ देखती रहती है।
वह चैतन्य तथा केवल है।
वह सत, रज, तम गुणों से परे है।
(मूल के लिए देखिए—परिशिष्ट)

आस्तिक षड्दर्शन

आस्तिक का अभिप्राय है—(1) पुनर्जन्म में विश्वास, (2) वेदों में विश्वास और (3) ईश्वर में विश्वास। दर्शन का अभिधेय अर्थ है देखना। किंतु शास्त्र में इसका अर्थ होता है अस्तित्व के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना। अतः दर्शन का मुख्य विषय है—जगज्जीवन के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना। यह गोचर विश्व क्या है, इसकी उत्पत्ति कैसे हुई, इसका उद्देश्य क्या है, इसका रचयिता कौन है, मानव-जीवन का लक्ष्य क्या है आदि गंभीर प्रश्नों का उत्तर विभिन्न दर्शन-शास्त्र अपने-अपने सिद्धांतों के अनुसार देते हैं।

भारतीय दर्शन का क्रमबद्ध इतिहास वैदिक काल से मिलता है। इसका विकास चार चरणों में हुआ है :

(1) दार्शनिक मतवादों का उद्भवकाल—600 ई. पू. तक।

(2) सूत्रकाल—600 ई. पू. से ईसा की पहली शताब्दी।
(3) भाष्यकाल—पहली शताब्दी से 15 वीं शताब्दी तक।
(4) वृत्तिकाल—16 वीं शताब्दी से अब तक।

उपनिषदों में प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों के विचार बीज रूप में मिले हैं। इन विचारों को आधार मानकर बहुत से दार्शनिक संप्रदाय उभरे, किंतु उनमें छह संप्रदाय **विशेष** रूप से उभरे। इसलिए इन्हें आस्तिक षड्दर्शन कहा जाता है। इन छह दर्शनों में से दो-दो मिलकर एक युग्म बनाते हैं। इस प्रकार निम्नलिखित तीन प्रमुख आस्तिक दर्शन माने जाते हैं :

(1) न्याय-वैशेषिक, (2) सांख्ययोग तथा (3) पूर्व और उत्तर मीमांसा। भारतीय संस्कृति को समझने के लिए इनका सामान्य परिचय आवश्यक है।

न्याय दर्शन—न्याय दर्शन का संबंध तार्किक ढंग से सोचने तथा समझने की शास्त्रीय पद्धति से है। न्याय शास्त्र के प्रवर्तक महर्षि गौतम माने जाते हैं। न्याय शास्त्र के अनुसार प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, हेत्वाभास, वितंडा, छल, जाति और निग्रह-स्थान—इन 16 पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है। न्याय शास्त्र यह मानता है कि वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्रमाण द्वारा होता है। प्रमाण चार प्रकार के होते हैं :

(1) प्रत्यक्ष प्रमाण (2) अनुमान प्रमाण (3) उपमान प्रमाण और (4) शब्द प्रमाण अथवा वेदों का प्रमाण।

प्रमेय का अर्थ है जानने योग्य। प्रमाणों के द्वारा प्रमेय का ज्ञान होता है। प्रमेय 12 हैं—आत्मा, शरीर, इंद्रियाँ, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग। न्याय दर्शन की अमूल्य देन है सोचने, समझने की एक व्यवस्थित प्रणाली। वैशेषिक दर्शन में प्रमेयों की विस्तृत चर्चा की गई है। इसलिए न्याय और वैशेषिक मिल कर एक दार्शनिक संप्रदाय बनाते हैं।

वैशेषिक दर्शन—वैशेषिक के प्रवर्तक महर्षि कणाद हैं। कणाद विश्व में 9 द्रव्यों की सत्ता स्वीकार करते हैं—(1) पृथ्वी (2) जल (3) तेज (4) वायु (5) आकाश (6) काल (7) दिशा (8) आत्मा और (9) मन। इनमें से पहले चार परमाणु अवस्था में नित्य और स्थूल अवस्था में अनित्य माने गए हैं। अंतिम चार नित्य और सर्वव्यापक माने गए हैं। मन को ऐसा विशेष द्रव्य माना गया है जो नित्य है, किंतु व्यापक नहीं है। वैशेषिक दर्शन का परमाणुवाद एक ऐसा सिद्धांत है जहाँ तक आधुनिक विज्ञान अब पहुँच रहा है। किंतु भारतीय दार्शनिकों ने परमाणुओं के स्वरूप का पता ईसा के जन्म से शताब्दियों पूर्व लगा लिया था।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार परमाणु स्वयं नित्य एवं अक्षर है। परमाणुओं की नानाविध योजनाओं से सृष्टि बनती है और पदार्थों का विकास होता है। प्रलय के

पश्चात् जब जीवों के कर्मफल भोग का समय आता है तब ईश्वर के मन में सृष्टि रचना का संकल्प उत्पन्न होता है। ईश्वर की इच्छा से परमाणुओं में गति या क्षोभ उत्पन्न करती है और वे परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया के द्वारा सृष्टि का निर्माण करते हैं। वैशेषिक के अनुसार धर्म की व्याख्या 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः' अर्थात् जिसके द्वारा व्यक्ति को अथवा मानव समुदाय की उन्नति हो तथा जिसमें उसका श्रेष्ठतम कल्याण हो वह धर्म है। पृथ्वी के मानव ने विभिन्न भूभागों में अपने ऐतिहासिक और भौगोलिक परिस्थिति में अपने स्वभाव और अनुकूल जिन-जिन धर्मों का विकास किया है उन सबका समाहार वैशेषिक की इस मान्यता में हो जाता है।

सांख्य दर्शन—सांख्य दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कपिल माने जाते हैं। सांख्य के अनुसार तत्व 25 हैं। इन 25 तत्वों का यथार्थ ज्ञान अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्धि के लिए आवश्यक है। 25 तत्वों में से पुरुष और प्रकृति ये दो मूल पदार्थ हैं। पुरुष का कोई उपभेद नहीं है, किंतु प्रकृति के 23 भेद हैं। इन तेईस भेदों में पंच महाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) पंचतन्मात्राएँ (रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द) पंच-कर्मेंद्रियाँ, (हाथ, पाँव, रसना, गुदा और उपस्थ) पंच ज्ञानेंद्रियाँ (चक्षु, श्रोत, नासिका, वाक् तथा त्वचा) तथा तीन अंतःकरण—बुद्धि, मन और अहंकार सम्मिलित हैं।

सत्व, रज और तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। यही जगत की उत्पत्ति का मूल कारण है। इसे अव्यक्त रूप होने के कारण अव्यक्त तथा प्रधान कारण होने के कारण प्रधान भी कहते हैं।

त्रिगुणात्मक प्रकृति अव्यक्तावस्था में अपरिमित, स्वतंत्र, नित्य, सर्वव्यापक, निष्क्रिय, निराश्रित, अलिंग विवेकहीन और अचेतन है, किंतु व्यक्त दशा में वह क्रियाशील है। अव्यक्त दशा में तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं अतः एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं करते, किंतु व्यक्तावस्था में वे क्रियाशील रहते हैं।

पुरुष चैतन्यरूप, किंतु निष्क्रिय है। त्रिगुणातीत होने के परिणामस्वरूप उसमें किसी प्रकार का विकार संभव नहीं है। पुरुष नित्य, सर्वव्यापी, निष्क्रिय, अवयवहीन, स्वतंत्र और कार्य-कारण से रहित है। वह जगत का द्रष्टा अथवा साक्षी मात्र है। सृष्टि का विकास पुरुष और प्रकृति के संयोग से होता है। इस संयोग से प्रकृति में पहला विकार बुद्धि तत्व उत्पन्न होता है। बुद्धि के ही संयोग से पुरुष अपने को कर्ता-भोक्ता समझने लगता है। जिस समय पुरुष को वस्तुस्थिति का ज्ञान हो जाता है, वह मुक्त हो जाता है। सांख्य दर्शन के गुणात्मक सिद्धांत को थोड़े बहुत हेरफेर के साथ परवर्ती सभी दार्शनिक संप्रदायों ने स्वीकार किया है।

योग दर्शन—योग दर्शन अत्यंत प्राचीन दर्शन है। वस्तुतः यह दर्शन न होकर मनोविज्ञान है। आधुनिक समय में दुनिया का ध्यान योग की ओर आकृष्ट हो रहा है।

अनेक प्रकार की मानसिक और शारीरिक व्याधियों से छुटकारा पाने में यौगिक क्रियाएँ कारगर सिद्ध हो रही हैं। योग का अर्थ है चित्त के प्रवाह(वृत्तियों) का निरोध। योग दर्शन के प्रवर्तक महर्षि पतंजलि माने जाते हैं। किंतु योग के विचार वेदों और उपनिषदों में यत्रतत्र बिखरे हुए हैं। पंतजलि ने विचारों के आधार पर योग-सूत्रों की रचना की है।

योग के आठ अंग हैं—(1) यम (2) नियम (3) आसन (4) प्राणायाम (5) प्रत्याहार (6) धारणा (7) ध्यान और (8) समाधि। यम के अंतर्गत कुछ मानसिक अनुशासन—जैसे सत्य, अहिंसा, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करना) सम्मिलित हैं। नियम के अंतर्गत कुछ मानसिक तथा शारीरिक क्रियाएँ सम्मिलित हैं, जैसे—शौच (शरीर और चित्त को निर्मल रखने की क्रियाएँ) संतोष, तप, स्वाध्याय। ईश्वर की भक्ति भी योग-मार्ग में सम्मिलित है। आसन शरीर की सुविधाजनक स्थिति है जिसमें प्राणायाम और ध्यान किया जा सके। प्राणायाम में श्वास-प्रश्वास की क्रिया को नियोजित किया जाता है। प्रत्याहार में इंद्रियों का संयम सम्मिलित है। ध्यान, धारणा और समाधि का संबंध चित्त वृत्ति की एकाग्रता से है। ध्यान की अवस्था में चित्त एक ही विषय पर केंद्रीभूत हो जाता है तथा समाधि की अवस्था में चित्त का एक प्रकार से विलय अथवा लोप हो जाता है तथा साधक को आत्मप्रकाश का अनुभव होने लगता है। इसी अवस्था को कैवल्य अथवा मोक्ष की प्राप्ति कहा जाता है।

योग का प्रभाव विश्व व्यापक है। सभी धर्मों और साधना पद्धतियों में योग की किसी न किसी रूप में स्वीकृति है। हिंदी साहित्य के आदि काल में हम जिन सिद्धों तथा गोरखपंथी योगियों का नाम सुनते हैं वे सब यौगिक सिद्धियों में विश्वास करने वाले थे। जैन और बौद्ध धर्म में भी योग का बड़ा महत्व है।

हठयोग—मध्य युग के हम जिन योगियों और नाथ पंथियों तथा बौद्ध साधकों की चर्चा सुनते हैं उनका योग-मार्ग नाड़ी-विज्ञान पर आधारित है। नाथपंथियों और सिद्धों की वाणी में हमें हिंदी का प्रारंभिक विकास भी मिलता है। नाथ पंथी योगी योग-मार्ग का प्रथम आचार्य भगवान शिव को मानते हैं। उनकी गुरु-शिष्य परंपरा इस प्रकार है—आदिनाथ (शिवावतार) → मत्स्येन्द्रनाथ (मछंदरनाथ) → गोरक्षनाथ (गोरखनाथ 11-12 वीं शती) → गाहिनीनाथ → निवृत्तिनाथ → ज्ञाननाथ (महाराष्ट्र 13वीं शती) → हलीकपाव या जालंदरनाथ (हाड़िपा) तथा अन्य सिद्ध। राजा भरथरी (भर्तृहरि) इन्हीं जालंदरनाथ के शिष्य कहे जाते हैं। 84 सिद्धों में अधिकांश साधक निम्न वर्णों के थे। इनमें ब्राह्मण धर्म तथा वैदिक आचार और वर्णाश्रम मर्यादा के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया परिलक्षित होती है। आगे चलकर इनकी प्रतिध्वनि हमें कबीर में भी सुनाई देती है। इन योगियों के विषय में अनेक चमत्कारपूर्ण कहानियाँ प्रचलित हैं। इनकी वानियाँ संध्या भाषा में उलटबासियों की शैली में मिलती हैं

जिनका अर्थ बैठाना कठिन है। सिद्धों की प्रतीक पद्धति दुरूह है। हिंदी भाषी क्षेत्र में वैष्णव भक्ति के प्रादुर्भाव के पूर्व, जिसने इनका उद[illegible] किया, उन सिद्धों और नाथपंथियों का प्रभाव था।

नाथ पंथियों की नाड़ी साधना महाकुंडलिनी साधना पर आधारित थी। इनका विश्वास था कि महाकुंडलिनी नामक शक्ति ब्रह्मांड में परिव्याप्त है। यह शक्ति ही ब्रह्मांड की धारणा शक्ति है। इसका व्यष्टि रूप हमें जीवों में परिलक्षित होता है। मनुष्य कुंडलिनी शक्ति और प्राण-शक्ति को लेकर मातृ-कुक्षि में प्रवेश करता है। जीव की तीन अवस्थाएँ—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—कुंडलिनी शक्ति की सुप्तावस्थाएँ हैं। इन अवस्थाओं में यह शक्ति केवल शरीर धारण का कार्य करती है। कुंडलिनी शक्ति के साथ नाथ पंथियों ने नाड़ी-संस्थान और चक्र संस्थान की भी कल्पना की है।

हठयोग में चक्रों की कल्पना बड़ी विचित्र है। चक्रों का निर्माण नाड़ियों के संस्थान द्वारा होता है। प्रत्येक चक्र किसी न किसी प्रकार की शक्ति का केंद्र है। इनका विचित्र आकार कल्पित किया गया है। नाड़ी चक्रों का संक्षेप में उल्लेख कर देना असंगत न होगा—

पीठ में स्थित मेरुदंड जो सीधे जाकर पायु और उपस्थ के मध्यभाग में लगता है वहीं एक स्वयं भूलिंग की कल्पना की गई है। यह स्वयंभूलिंग एक त्रिकोण चक्र में अवस्थित है। इसी चक्र का नाम मूलाधार चक्र है। कुछ ग्रंथों में इसका नाम अग्नि चक्र कहा गया है तथा मूलाधार चक्र की स्थिति इसके ऊपर मानी गई है। इसी त्रिकोण में स्थित स्वयं भू लिंग को साढ़े तीन वलयों या वृत्तों में लपेटे सर्पाकार कुंडलिनी शक्ति अवस्थित है। इसके ऊपर षट् चक्रों की शृंखला इस प्रकार है—

मूलाधार चक्र, (चार दलों का कमलाकार)—स्वाधिष्ठान चक्र (नाभि के पास छह कमल पंखड़ियों के आकार का)—मणिपुर चक्र (नाभि और कंठ के बीच में दस कमल दलों का)—अनाहत चक्र (कंठ के पास 12 दलों का)—विशुद्ध चक्र (कंठ के ऊपर 16 दलों का)—आज्ञा चक्र (भ्रू मध्य के दो दलों का)। कुंडलिनी नामक शक्ति प्राणायाम की प्रक्रिया से एक-एक करके उक्त चक्रों का वेधन करती हुई ऊर्ध्वारोहण करती है। इन चक्रों का वेधन करने के पश्चात कुंडलिनी शक्ति जैसे ही सहस्रार चक्र अथवा शून्य चक्र में प्रवेश करती है, योगी अजर अमर हो जाता है।

हठयोग में यों तो नाड़ी तंत्र का बड़ा जटिल और विस्तृत उल्लेख है, किंतु योग साधन में सुषुम्ना नाड़ी का विशेष महत्व माना गया है। सुषुम्ना नाड़ी इड़ा और पिंगला नामक नाड़ियों के मध्य में स्थित है। मेरु दंड में दाहिनी ओर पिंगला तथा बाईं ओर इड़ा नाड़ियाँ हैं, जिनसे प्राणी प्रणयन क्रिया करता है। सुषुम्ना शून्य नाड़ी है। यह नाड़ी कुंडलिनी के ऊर्ध्वारोहण का मार्ग है। योगी नाना प्रकार की प्राणिक क्रियाओं के द्वारा कुंडलिनी को उद्बुद्ध करके ऊर्ध्व मुख करता है।

हठयोग में आसन और मुद्राओं के साथ-साथ षटकर्म का भी विधान है। षटकर्म में धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति नामक क्रियाएँ नाड़ी-संस्थान की शुद्धता के लिए की जाती हैं। प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान और समाधि की स्थिति हठयोग और पातंजलि योग में समान हैं।

मध्ययुगीन साधना पद्धति में उपर्युक्त हठयोग का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। आधुनिक युग में भी योग के प्रति विश्व की रुचि बढ़ रही है।

पूर्व मीमांसा—पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा का संबंध वैदिक साहित्य से हैं वेदों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। कर्मकांड तथा ज्ञानकांड। पूर्व मीमांसा का संबंध कर्म कांड से है। उत्तर मीमांसा का संबंध ज्ञान काण्ड से है। पूर्व मीमांसा का लक्ष्य धर्म का साधन करना है। उत्तर मीमांसा का लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है। अतः मनुष्य जीवन की समग्रता की दृष्टि से दोनों का समान महत्व है। पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा दोनों के प्रवर्तक महर्षि जैमिनी हैं। कर्मकांड में यज्ञादि का विधान है। पूर्व मीमांसा इस विधान की व्याख्या करता है। उत्तर मीमांसा में ज्ञान का विधान है। उपनिषद् ज्ञान के मूल स्रोत हैं। अतः उत्तर मीमांसा में उपनिषदों द्वारा प्रतिपाद्य ज्ञान की चर्चा की गई है।

पूर्व मीमांसा के अनुसार वैदिक मंत्र अपौरुषेय तथा स्वतःप्रमाण हैं। सृष्टि आदि और अनंत है। उसका केवल रूप परिवर्तन होता है। ईश्वर सृष्टि का रचयिता नहीं है। पूर्व मीमांसा यज्ञादि कर्मों के द्वारा स्वर्ग-प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य मानती है। मोक्ष में उसका विश्वास नहीं है। पूर्व मीमांसा के अनुसार वेदविहित कर्मों में प्रवृत्ति ही धर्म है।

उत्तर मीमांसा—उत्तर मीमांसा का दूसरा नाम वेदांत है। वैदिक साहित्य के अंतिम भाग उपनिषद् हैं जिनमें आत्म-विज्ञान की चर्चा की गई है। इसलिए वेदांत का अभिप्राय औपनिषद् ज्ञान से है। उपनिषदों के बहुत से मंत्र एक अद्वैत आत्मसत्ता अथवा ब्रह्म को सत्य मानते हैं। इसलिए शंकर द्वारा प्रतिपाद्य अद्वैतवाद के लिए वेदांत शब्द रूढ़ हो गया है। वेदांत के अनुसार ब्रह्म से माया के संयोग से विश्व का सृजन-पालन-संहार होता है। माया नामक उपाधि से युक्त ब्रह्म का नाम ईश्वर है तथा माया नामक उपाधि के कारण ही शुद्ध मुक्तात्मा का नाम जीव है। अतः ब्रह्म और ईश्वर अथवा ब्रह्म और जीव में कोई तात्विक अंतर नहीं है। माया की व्याख्या शंकर ने नहीं की। उसे सद्-असद् विलक्षण तथा अनिर्वचनीय कहा है। वेदांत संन्यास मार्ग पर बल देता है तथा आत्म-चिंतन के द्वारा मोक्ष प्राप्ति को जीवन का एकमात्र लक्ष्य मानता है। भारतीय चिंतन पर वेदांत का गहरा प्रभाव है। मध्यकालीन निर्गुणवादी संतों ने वेदांत का व्यापक रूप से अनुसरण किया है।

महाकाव्य कालीन भारतीय संस्कृति

रामायण और महाभारत भारतीय संस्कृति को विवित करने वाले महाकाव्य हैं। रामायण और महाभारत की गणना इतिहास में की गई है। अतः इन्हें ऐतिहासिक महाकाव्य कहा जा सकता है। रामायण में वर्णित राम-रावण युद्ध कब हुआ? महाभारत का कौरव-पांडवों का युद्ध ईसा के जन्म के कितने हज़ार वर्ष पूर्व हुआ, इस विषय में भारतीय विचारधारा और पाश्चात्य विचारधारा में गंभीर मतभेद है। पाश्चात्य विचारक रामायण और महाभारत की घटनाओं को बुद्ध के जन्म के पहले की मानते हैं। घटनाओं की प्राचीनता के विषय में काफ़ी मतभेद है। भारतीय विचारधारा रामायण को त्रेतायुग के अंत की घटना तथा महाभारत को द्वापर के अंत की घटना मानते हैं, किंतु पाश्चात्य विचारक चतुर्युगी के सिद्धांत में विश्वास नहीं करते। वे भाषा के साक्ष्य पर रामायण और महाभारत को अधिक प्राचीन नहीं मानते। किंतु रामायण और महाभारत के छंद शताब्दियों तक गायकों और चारणों के द्वारा मौखिक रूप से गाए जाते रहे, प्रत्येक पीढ़ी अपने समय की भाषा में उन्हें रूपांतरित करती रही, साथ ही अपनी कल्पना का रंग चढ़ा कर तथा नए-नए आख्यानों को जोड़ कर इनके रूप में नवीनता लाती रही। वर्तमान समय में हमें रामायण और महाभारत का जो प्रामाणिक रूप उपलब्ध है वह गुप्त काल से अधिक प्राचीन नहीं है। इसलिए भाषायी साक्ष्य तथा कुछ कथानकों के आधार पर इन महाकाव्यों पर कोई निर्णय लेना अधिक संगत प्रतीत नहीं होता।

वैदिक युग को हम यदि भारतीय संस्कृति का सतयुग मानें तो रामायण उस संस्कृति के विकास के द्वितीय चरण की घटना है तथा महाभारत तृतीय चरण की संस्कृति का चौथा चरण तब से आरंभ माना जाना चाहिए जब से भारत पर बर्बर जातियों के आक्रमण प्रारंभ होते हैं और समाज में वर्ण-संकरता के कारण सांस्कृतिक ह्रास की समस्या उत्पन्न हो उठती है।

रामायण महाकाव्य

कहा जाता है कि वाल्मीकि ऋषि राम के समकालिक थे और रामायण की रचना रामराज्य में ही हुई थी। साथ ही यह भी स्वीकार किया जाता है कि वाल्मीकि ने जिस रामायण की रचना की थी वह अयोध्या के राज्य-विप्लव से ले कर रावण वध तक सीमित थी। बाल और उत्तर कांडों की रचना बाद में हुई।

अयोध्या से 9 मील दूर एक तमसा नामक छोटी सी सरिता के तट पर वाल्मीकि का आश्रम था। प्रभात की मंगलमयी वेला में ऋषि तमसा में स्नान करने जा रहे थे कि अचानक उनका ध्यान एक करुण दृश्य की ओर खिंच गया। किसी बहेलिए ने क्रौंच-मिथुन में से नर-पक्षी को बाण से वेध दिया था। पक्षी पृथ्वी पर पड़ा हुआ छटपटा रहा था और मादा क्रौंच उसके वियोग में करुण क्रंदन कर रही थी। सहसा ऋषि के मुँह से ये शब्द निकल पड़े :

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समा ।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काम मोहितम् ॥

अर्थात्—'हे निषाद ! शताब्दियों तक तुम्हें सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त न हो। तुमने स्नेह में पगे हुए क्रौंच जोड़े में से एक का वध कर डाला।' ऋषि के करुणाप्लावित हृदय से शाप तो अनायास निकल पड़ा, किंतु शाप के शब्दों में एक विशेषता थी। उसमें आठ-आठ मात्रा के चार सम चरण थे और वह वीणा पर गाए जाने लायक था। ऋषि को शब्दों की श्लोकबद्धता पर आश्चर्य हुआ। अभी तक इस प्रकार के छंद (अनुष्टुप छंद) में काव्य रचना नहीं हुई थी। जिन गायत्री आदि छंदों में देवताओं की महिमा का गायन होता था, यह छंद उनसे भिन्न था। ऋषि को अपनी वाणी की श्लोकात्मकता पर स्वयं आश्चर्य हुआ। इसी संदर्भ में वाल्मीकि-नारद संवाद तथा ब्रह्मा-वाल्मीकि संवाद महत्वपूर्ण हैं। नारद प्रबंध काव्य के योग्य नायक के गुणों की प्रशंसा करते हैं तथा ब्रह्मा उसी नायक पर चरित काव्य लिखने की आज्ञा देते हैं। ये नायक दशरथ के पुत्र राम हैं।

महाकाव्य की रचना के लिए उपयुक्त नायक का अनुसंधान करने के उद्देश्य से वाल्मीकि ने नारद से पूछा—

'इस समय इस संसार में गुणवान, वीर्यवान, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवादी और दृढ़ प्रतिज्ञ कौन है ? मुझे तो ऐसा व्यक्तित्व बतलाइए जो सदाचारी हो, प्राणिमात्र का हित साधक हो, विद्वान् और सामर्थ्यशाली होने के साथ प्रिय दर्शन हो, जो परायी निंदा न करता हो, जो कांतिमान हो, साथ ही संग्राम में कुपित होने पर जिससे देवता भी डरते हों। महर्षे ! मुझे बड़ी उत्सुकता है और आप (भ्रमणशील होने के फलस्वरूप) ऐसे पुरुष को जानने में समर्थ हैं।'

नारदजी ने प्रसन्नता पूर्वक उत्तर दिया—'इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न एक ऐसे पुरुष हैं और वे संसार में राम के नाम से विख्यात हैं। वे बुद्धिमान, नीतिज्ञ, शोभायमान तथा शत्रुसंहारक हैं। उनके कंधे मोटे और भुजाएँ बड़ी-बड़ी हैं। ग्रीवा शंख के समान और ठोढ़ी मांसल है। उनकी छाती चौड़ी तथा धनुष बड़ा है। उनका मस्तक सुंदर और ललाट विशाल है। उनका शरीर मध्यम तथा सुडौल है और देह का रंग चिकना है। वे बड़े प्रतापी हैं। उनका वक्षःस्थल भरा हुआ है, आँखें बड़ी-बड़ी हैं। वे शोभायमान और शुभ लक्षणों से संपन्न हैं। राम धर्म के ज्ञाता, सत्यप्रतिज्ञ तथा प्रजा के हित

साधन में लगे रहने वाले हैं। वे यशस्वी, ज्ञानी, पवित्र, जितेंद्रिय और मन को एकाग्र रखने वाले हैं। राम प्रजापति के समान पालक, श्रीसंपन्न, [illegible] और जीवों तथा धर्म के रक्षक हैं। राम धनुर्वेद में प्रवीण हैं। राम अच्छे विचार और उदार हृदय वाले हैं। श्री राम बातचीत करने में चतुर और लोकप्रिय हैं।

जैसे नदियाँ समुद्र में मिलती हैं, उसी प्रकार साधु पुरुष सदा राम से मिलते रहते हैं। वे गंभीरता में समुद्र और धैर्य में हिमालय के समान हैं। वे विष्णु के समान पराक्रमी और उनका दर्शन चंद्रमा के समान प्रिय है। राम क्रोध में कालाग्नि और क्षमा में पृथ्वी के समान हैं। वे त्याग में कुबेर और सत्य में धर्मराज के समान हैं।

नारद ने वाल्मीकि को राम का उपर्युक्त परिचय दिया और उनके जीवनवृत्त की मोटी-मोटी घटनाओं को भी सुनाया। नारद ने बतलाया कि राम के सद्गुणों से प्रसन्न होकर दशरथ उन्हें युवराज पद देना चाहते थे, किंतु राम की विमाता कैकेयी ने बीच में पड़कर दो वर माँगे, जिनमें से एक में राम का वन-गमन और दूसरे में उसके पुत्र भरत को युवराज पद देने की याचना थी। राजा दशरथ वरपूर्ति के लिए प्रतिज्ञाबद्ध थे। इसलिए धर्मबंधन में बँधकर उन्होंने अपने प्यारे पुत्र को वनवास दे दिया। राम ने पिता की आज्ञा का पालन किया। सुमित्रा के पुत्र लक्ष्मण ने और सीता ने राम का साथ दिया। शृंगवेरपुर जो निषाद्राज गुह की राजधानी थी, पहुँचकर राम ने राजकीय रथ लौटा दिया। वे वहाँ से चलकर ऋषि भरद्वाज के आश्रम पर पहुँचे और उनकी आज्ञा से चित्रकूट पर्वत पर निवास करने लगे। राम के वियोग को दशरथ सहन न कर सके और वे स्वर्ग सिधार गए। उनके स्वर्गवास के पश्चात् वसिष्ठ ने भरत को राज्य देना चाहा, किंतु भरत उस राज्य को स्वीकार न कर सके। भरत ने चित्रकूट के लिए प्रस्थान किया। भरत ने राम से अनुरोध किया—'धर्मज्ञ, आप ही राजा हैं।' किंतु राम ने पिता के आदेश का पालन करते हुए राज्य की अभिलाषा न की और उन्हें अपनी खड़ाऊँ देकर अयोध्या वापस कर दिया।

भरत के अयोध्या लौटने के पश्चात् राम ने चित्रकूट का परित्याग किया और वे दंडकारण्य में प्रवेश कर गए। मार्ग में उन्होंने विराध नामक राक्षस का वध किया और शरभंग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदि मुनियों के दर्शन किए। ऋषि मुनियों के अनुरोध पर राम ने नरभक्षी राक्षसों के विनाश का वचन दिया। दंडकारण्य में ही रहते हुए राम ने रावण की बहन सूर्पनखा को, जो जनस्थान में रह रही थी, कुरूप कर दिया। सूर्पनखा कुटिल आचरण वाली राक्षसी थी। सूर्पनखा के अपमान का बदला लेने के लिए खरदूषण और त्रिशिरा नामक राक्षस-नायकों ने चौदह हजार सैनिकों को साथ ले कर राम पर आक्रमण किया। राम ने उन सबका अकेले ही संहार कर डाला।

तदनंतर रावण ने सीता के अपहरण की योजना बनाई। मारीच नामक राक्षस को साथ ले कर वह पंचवटी पहुँचा। मायावी मारीच की सहायता से उसने दोनों राज-

कुमारों को आश्रम से दूर हटा दिया और स्वयं सीता का अपहरण कर लिया। उसने मार्ग में विघ्न डालने वाले जटायु का वध कर दिया। जटायु के द्वारा सीता के अपहरणकर्ता का पता लगा। उन्होंने उसका दाह-संस्कार किया। सीतान्वेषण में उन्हें विकृत आकृति का कबंध नामक राक्षस मिला, जिसको मारकर उन्होंने दफ़ना दिया। तत्पश्चात् वे शबरी के आश्रम पर गए। उसका आतिथ्य स्वीकार करके वे पंपा नामक सरोवर पर पहुँचे। फिर वे पंपा के तट पर हनुमान से मिले और हनुमान के कहने पर उन्होंने सुग्रीव से मित्रता की। राम ने सुग्रीव को सीता के अपहरण का वृत्तांत सुनाया तथा सुग्रीव ने अपने बड़े भाई बालि के अत्याचारों का वर्णन किया। सुग्रीव ने बालि के पराक्रम का भी राम के समक्ष वर्णन किया। राम ने अपने बाहुबल का परिचय दिया। सुग्रीव ने राम और लक्ष्मण के साथ किष्किंधा की गुहा की ओर प्रस्थान किया। राम ने बालि का वध किया और किष्किंधा का राज्य सुग्रीव को सौंप दिया।

सुग्रीव ने अपने सेवकों को चारों दिशाओं में सीता का पता लगाने को भेजा। तत्पश्चात् संपाति के द्वारा सीता का पता दिए जाने पर हनुमान लंबी छलांग मार कर शत योजन विस्तार वाले समुद्र को पार कर लंकापुरी पहुँचे। वहाँ रावणपालित लंकापुरी में अशोक वृक्ष के नीचे उन्होंने चिंतामग्न अवस्था में सीता को देखा। तब उन विदेहनंदिनी को अपनी पहचान बतलाकर राम का संदेश सुनाया। हनुमान ने अशोक वाटिका के वृक्ष तोड़ डाले। फिर पाँच सेनापतियों और सात मंत्रि-कुमारों की हत्या करने के साथ-साथ हनुमान ने रावण के पुत्र अक्षय कुमार को भी मार डाला। इसके बाद वे पकड़े गए। तत्पश्चात् लंका को जलाकर वे सकुशल लौटकर अपने दल से आ मिले। उन्होंने राम के समीप आ कर निवेदन किया—'मैंने सीता को देखा है।'

इसके पश्चात् सुग्रीव के साथ राम ने सागर के तट पर जाकर अपने बाणों से समुद्र को क्षुब्ध कर दिया। तब समुद्र मानव रूप धारण करके राम के शरणागत हुआ और राम को सेतु-निर्माण का परामर्श दिया। पुल का निर्माण होने पर राम ने सेना के साथ लंका में प्रवेश किया और रावण का वध किया। राम ने अग्निपरीक्षा लेकर सीता को स्वीकार किया। लंका का राज्य विभीषण को दे कर राम अयोध्या लौट आए। राम का राज्याभिषेक हुआ।

वाल्मीकि नारद संवाद में हमें रामायण के कथानक का मूल रूप मिलता है। यदि हम यह मान लें कि नारद ने राम के व्यक्तित्व और चरित्र की जो समीक्षा की है वह लोकविश्रुत थी। अर्थात् तत्कालीन समाज में लोककथा के रूप में प्रचलित थी तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वाल्मीकि ने उस कथा को केवल महाकाव्य का रूप प्रदान किया है। आर्य-संस्कृति ने जीवन के जिन गुणों को आदर्श रूप में स्वीकार किया था उन सबका रामत्व में समाहार करके वाल्मीकि ने एक धर्म-विग्रह का निर्माण किया जो उस समय से ले कर आज तक अपनी गरिमा में अद्वितीय है। रामायण तत्कालीन संस्कृति को केवल

चित्रित करने वाली ही नहीं है, अपितु संस्कृति का आदर्श रूप प्रस्तुत करने वाली भी है। इसका परिणाम यह हुआ कि केवल भारत वर्ष में ही नहीं, भारत के बाहर भी जिन-जिन देशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ, वहाँ रामायण भी गई और उन देशों ने अपनी संस्कृति के परिवेश में रामायण को स्वीकार किया। रामायण का प्रभाव विश्व व्यापक है। वह मानव-संस्कृति के विकास के लिए प्रकाश-स्तंभ है।

राम का दक्षिण दिशा की ओर अभियान उत्तरापथ और दक्षिणापथ की संस्कृतियों का अटूट सेतु सिद्ध हुआ जिसमें कोल, किरात, निषाद आदि आर्येतर जातियों के समन्वय का प्रयास स्पष्ट था। उस अभियान में देश की उन आदिम जातियों ने भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया जो पशु-पक्षियों (गृद्ध, वानर, भालू) के चिह्न धारण करती थी तथा उन्हीं को अपने पूर्व पुरुषों के रूप में स्वीकार करती थीं। वस्तुतः आर्य-संस्कृति के प्रचार-प्रसार में अगस्त्य जैसे ऋषियों की मनीषा और राम जैसे राजपुरुषों के लोकोत्तर चरित्रों का महत्वपूर्ण योगदान है। इतिहास में हमें इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं, जहाँ कंबोज जैसे द्वीपों में भारतीय मनीषी गए और वहाँ बस कर उन वन्य जातियों में आर्य-संस्कृति का प्रचार किया जिन्होंने शरीर ढकना तक नहीं सीखा था।

वाल्मीकि रामायण के प्रारंभ में इस बात का उल्लेख है कि वाल्मीकि ने महाकाव्य की रचना कर के सबसे पहले इसे लव और कुश को सिखाया जो ऋषियों के समागम के समय उसे गा-गाकर सुनाते थे। इस उल्लेख से यह अनुमान लगाना कठिन नहीं कि प्राचीन काल में लोक गायकों की ऐसी प्रथा थी जो लोकप्रिय आख्यानों को घर-घर घूम-घूम कर सुनाते थे। यह प्रथा संपूर्ण देश में आज भी प्रचलित है। अतः इस बात की पूरी संभावना है कि लोक रुचि ने इस आदि काव्य में अपनी कल्पना का भी योगदान किया हो और आज जिस अति मानवीय अथवा आधिदैविक रूप में राम का आख्यानक मिलता है वह ठीक वैसा न रहा हो। लोक-कल्पना अतिरंजना में विश्वास करती है और राजकुमार राम तथा लंकेश रावण इन दोनों के रूपाकार, बल-विक्रम के चित्रण में अतिरंजना का समावेश हो गया हो। भारतीय चिंतन में जिस समय अवतारवाद का प्रचलन हुआ उस समय राम को अवतारी रूप प्रदान कर देना सहज था, किंतु संस्कृति के उन्नयन की दृष्टि से राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप ने मानव हृदय को जितना प्रभावित किया है उसकी तुलना में उनके आधिदैविक रूप ने नहीं।

रामायण के प्रणयन में वाल्मीकि की दृष्टि मानव-स्वभाव की सीमाओं पर नहीं धर्म पर है। वे मनुष्य की दुर्बलताओं पर बल नहीं देते, अपितु उसकी सबलताओं की सीमाओं को निर्धारित करते हैं। राम के जीवन में परीक्षा के अनेक अवसर आते हैं, किंतु एवरेस्ट शिखर के समान समुन्नत और प्रशांत महासागर के समान गंभीर

व्यक्तित्व की अपरिमेयता इस बात में है कि उसके मन में धर्म के विरुद्ध कोई संकल्प तक नहीं उठता। युवराज-पद पर आसीन होने की घड़ी में जब उन्हें विमाता कैकेयी के उकसाने पर पिता दशरथ के द्वारा चौदह वर्ष का राज्य से निष्कासन मिलता है तो उनके मन में कैकेयी अथवा पिता के विरुद्ध कोई विचार तक उत्पन्न नहीं होता। वाल्मीकि मानव-स्वभाव की सीमाओं से परिचित हैं। वे लक्ष्मण के उत्तेजनापूर्ण उद्गारों में उन्हें अभिव्यक्त करते हैं। माता कौशल्या के समक्ष अपने आंतरिक मनोभावों को प्रकट करते हुए लक्ष्मण कहते हैं :

'देवि ! मुझे राम का वन जाना उचित प्रतीत नहीं होता। बूढ़े राजा विषयांध हो गए हैं, अन्यथा राम के समान देवकल्प पुत्र को कौन ऐसा पिता है जो वनवास की आज्ञा दे। जब तक वनगमन का समाचार प्रजा में फैलने न पाए तभी तक शासन-तंत्र को अपने अधिकार में कर लेना चाहिए। किसकी शक्ति है जो मेरे सामने आए ? आज अयोध्या को मैं अपने बाणों से सुनसान बना दूंगा। भरत का कोई साथी मेरे सामने आए अथवा यदि स्वयं पिता कैकेयी का साथ दें तो उनका भी वध कर देना चाहिए। धर्म से विपथ शासन का आज अंत कर देना चाहिए।'

किंतु राम का उत्तर था—'लक्ष्मण, मैं अपने प्रति तुम्हारे स्नेह को जानता हूँ, किंतु इस अनार्य बुद्धि को दूर करो।'

इसी प्रकार राम को राज्य सँभालने के लिए राजी करने के लिए अयोध्या की प्रजा के साथ भरत जब चित्रकूट के समीप आते हैं तो अयोध्या की चतुरंगिणी सेना को लक्ष्मण दूर से देखकर बौखला उठते हैं, किंतु राम के हृदय में भरत के विरुद्ध कोई संकल्प तक नहीं उठता। लक्ष्मण क्रुद्ध सर्प के समान फुंफकारने लगते हैं—'कैकेयी का पुत्र भरत सेना लेकर आया है। वह अपने राज्य को निष्कंटक करना चाहता है। किंतु लक्ष्मण के जीवित रहते उसका मनोरथ सिद्ध नहीं होगा। भरत का वध करने में कोई पाप नहीं होगा। मैं कैकेयी को उसके समर्थकों के साथ मार डालूंगा। सेना के साथ भरत को मार कर आज मैं अपने धनुष के ऋण से मुक्त हो जाऊँगा।' किंतु राम—? लक्ष्मण के चांचल्यपूर्ण उद्गारों को सुनकर राम का हृदय भरत के प्यार से आप्लावित हो उठता है। वे भाव-विह्वल हो उठते हैं, किंतु अपने शांत और मधुर शब्दों में लक्ष्मण को शांत करते हुए कहते हैं—'लक्ष्मण, भरत को मार कर मुझे अयोध्या का राज्य तो क्या इंद्रासन भी स्वीकार नहीं। भरत के बिना मेरे लिए जीवन का जो भी सुख हो उसे अग्नि जला डाले। मेरे विचार से तो भरत मेरे वनवास से कातर हो कर मुझ से मिलने आया है। वह कैकेयी से रुष्ट हो कर तथा पिता को प्रसन्नता प्रदान करता हुआ मुझे राज्य देने आया है। भरत से हमारा अहित नहीं होगा। तुमने भी आज तक पहले कभी भरत के विषय में कोई बात नहीं सोची, अब ऐसी शंका क्यों करते हो ? तुम भरत के प्रति ऐसे कठोर और अप्रिय वचन मत कहो। यदि राज्य के लिए तुम ऐसा

कहते हो तो भरत के आने पर मैं उससे कहूँगा कि अयोध्या का राज्य वह तुमको दे दे। मेरी बात सुनकर उत्तर में भरत केवल 'हाँ' ही कहेगा।'

राम की बात को सुनकर लक्ष्मण लज्जा के कारण अपने आप में सिकुड़ गए।

वस्तुतः रामत्व धर्म की इतनी ऊँची पराकाष्ठा है, जिसे प्रलोभनों और उत्तेजनाओं के ज्वार हिला नहीं सकते। राम के जीवन का एक-एक क्षण धर्म की एक सीमा रेखा है, एक-एक शब्द धर्म की परिभाषा है, राम का पूरा आचरण भारतीय संस्कृति की चरम सीमा है। यहाँ उन सबका विस्तार करने का स्थान नहीं है।

ब्रह्मा के शब्दों में इस महाकाव्य की सफलता के प्रति जो शुभ कामना प्रकट की गई है उसको उद्धृत करके मैं समाप्त करता हूँ।

यावत् स्थास्यति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति ॥

(इस महीतल पर जब तक पर्वत स्थित हैं और नदियां प्रवहमान हैं तब तक रामायण की यह कथा लोक में प्रचलित रहेगी।)

और इस आर्ष वाक्य के साथ उतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि जिस मानव-समाज में इस महाकाव्य का आदरपूर्वक पठन-पाठन और उसके आदर्शों के अनुकरण का प्रयास होगा वह इस महीतल पर अमर रहेगा।

महाभारत

महाभारत वैदिक संस्कृति के तृतीय चरण की घटना है। इस भीषण युद्ध के परिणामस्वरूप भारत इतना जर्जर हो गया था कि समाज के अधःपतन को अधिक दिनों तक नहीं रोका जा सकता था। कहा जाता है कि पांडवों के उत्तराधिकारी परीक्षित के राज्य-काल में ही कलियुग का आगमन हो चुका था। अनार्य बर्बर जातियों के देश पर आक्रमण होने लगे थे। भारत की वन्य जातियाँ, जो आर्य राजाओं के पराक्रम के परिणामस्वरूप मुँह छिपाए रहती थीं, वे अब दुस्साहसिक कार्य करने लगी थीं। अर्जुन जब द्वारिका से यादव पत्नियों के साथ हस्तिनापुर को लौट रहा था तो मार्ग में उसके क़ाफ़िले को वन्य जातियों ने लूट लिया और अर्जुन अपना गांडीव धनुष तक नहीं खींच पाया। यह घटना महाभारत के युद्ध के पश्चात् की है। इसी प्रकार पांडवों के पौत्र और परीक्षित के पुत्र जनमेजय को नाग जाति के विनाश के लिए भीषण अभियान चलाना पड़ा था जिसे 'नाग-यज्ञ' के नाम से जाना जाता है। महाभारत युद्ध वस्तुतः कुरु-पांचाल जनपद का पारिवारिक कलह था, किंतु दोनों पक्षों में से किसी एक का पक्ष लेकर इस भीषण नर संहार में भारत ही नहीं, एशिया के अन्य राजाओं ने भी भाग लिया था। महाभारत का अठारह दिन का युद्ध कितना भीषण था कि युद्ध में पांडवों की जीत अवश्य हुई, किंतु रक्त से सने साम्राज्य का वे अधिक दिनों तक उपभोग न कर

सके और आत्मग्लानि से पीड़ित होकर उन्हें हिमालय की बर्फ में गलकर अपना शरीर छोड़ना पड़ा।

महाभारत एक इतिहास है, किंतु उस अर्थ में वह इतिहास नहीं है जिस अर्थ में वह आजकल समझा जाता है। इतिहास के विषय में प्राचीन परिभाषा यह है कि 'पूर्व वृत्त पर आश्रित धर्मार्थकाम मोक्षादि पुरुषार्थों की उपलब्धि कराने वाले उपदेशों से युक्त कथा इतिहास कहलाती है।[1] अपने मूल रूप में महाभारत एक छोटा-सा 'जय काव्य' था। किंतु धर्मार्थादि के समन्वित होने पर इसका नाम 'भारत संहिता' पड़ा। शताब्दियों तक यह आख्यानक चारणों को जिह्वाग्र रहा। इसमें नए-नए आख्यानक जुड़ते रहे और इसका अंतिम संस्करण 'महाभारत' के रूप में पुनर्रचित हुआ।

हिंदू संस्कृति में इसका आदर पंचम वेद के रूप में होता है। भारत जैसे विशाल देश में हिंदुओं के सामाजिक संगठन, जातीय आदर्श, धर्म, नीति और आचार-विचार के परिष्कार में महाभारत का महत्वपूर्ण स्थान है। इसके विभिन्न कथानक विभिन्न भाषाओं तथा लोक गीतों में गाँव-गाँव में, घर-घर में गाए जाते हैं। भारत की कदाचित् ही ऐसी कोई भाषा हो, जिसमें महाभारत के आधार पर साहित्य का निर्माण न हुआ हो। महाभारत के विषय में यह उक्ति प्रसिद्ध है कि धर्मादिक पुरुषार्थचतुष्ट्य से संबंधित शायद ही ऐसा कोई विषय हो जिसकी चर्चा महाभारत में न की गई हो। जो भारत महाभारत में नहीं है वह भारत (देश) में नहीं है।[2] यह विशाल ग्रंथ 18 पर्वों में विभक्त है तथा इसकी श्लोक संख्या एक लाख के लगभग है।

रामायण और महाभारत दोनों ही भारतीय संस्कृति के प्रकाश स्तंभ हैं, किंतु महाभारत प्राचीन संस्कृति का विश्वकोश है। रामायण और महाभारत की रचना के पीछे एक ही उद्देश्य है—'सत्यमेव जयते।' अर्थात् धर्म की मर्यादा का अतिक्रमण करने वाले व्यक्ति अथवा समूह का पराभव होता है। धर्म की मर्यादा का पालन करने से ही विजय प्राप्त होती है। रावण और कौरव की पराजय तथा राम और पांडवों की विजय अधर्म पर धर्म की विजय है। रामायण में जिस प्रकार राम का व्यक्तित्व लोकोत्तर है उसी प्रकार महाभारत में कृष्ण का चरित्र भी लोकोत्तर है। राम और कृष्ण का युग्म भारतीय जनता की श्रद्धा, प्रेम और आराधना का विषय है। अपनी दीर्घकालीन पराभव की अंधेरी रात में इन दो उज्ज्वल नक्षत्रों की प्रकाश किरणों के सहारे हिंदू जाति ने अपनी जीवन-यात्रा जारी रखी। देश के भावात्मक समन्वय में भी इन दो नामों का महत्वपूर्ण हाथ है। कृष्ण ने युद्ध क्षेत्र में भयत्रस्त तथा कर्तव्यविमूढ़ अर्जुन को निष्काम भाव से कर्तव्य पालन का जो उपदेश दिया था वह भगवद्गीता के नाम से विश्व में विख्यात है।

इसी प्रकार शांति पर्व में दिया गया भीष्म पितामह का युधिष्ठिर के प्रति उपदेश आदर्श राजनीति का सार तत्व है। युधिष्ठिर-यक्ष संवाद में नीति और धर्म के

मौलिक तत्वों का प्रवचन किया गया है। नमूने के तौर पर हमने गीतों के कुछ अंश निबंध के अंत में दिए हैं।

रामायण और महाभारत दोनों महाकाव्यों में विभिन्नकालीन सामाजिक मर्यादा की स्थिति का पता चलता है। किंतु रामायण से महाभारत में यह व्यवस्था अधिक कठोर प्रतीत होती है। आर्यों और अनार्यों में अंतर्जातीय विवाहों का प्रचलन महाभारत काल में था। सांस्कृतिक समन्वय की दृष्टि से ये विवाह बहुत महत्वपूर्ण थे।

अर्जुन ने अपने 12 वर्षों के देशांतर प्रवास काल में आर्येतर जातियों से विवाह किया था। इसी प्रकार भीम ने आर्येतर राजा हिडिंब की पुत्री हिडिंबा से विवाह किया था। किंतु सामान्यतः समाज में वर्णभेद विद्यमान था। कर्ण को अधिरथ नामक सूत का पुत्र होने के परिणाम स्वरूप घोर अपमान का अनुभव करना पड़ा था। वर्णभेद अब कर्म पर आधारित न होकर जन्म पर आधारित माना जाता था। ब्राह्मणों की उत्कृष्टता सामान्यतः समाज में स्वीकृत हो चुकी थी। 'त्रिषु वर्णेषु जातो हि ब्राह्मणाद ब्राह्मणो भवेत।' अर्थात् तीनों वर्णों की कन्याओं से शादी होने पर भी ब्राह्मण पिता से उत्पन्न पुत्र ब्राह्मण ही माना जाएगा। इस नियम के अनुसार पराशर ऋषि और धीवर कन्या सत्यवती से उत्पन्न व्यास ब्राह्मण माने गए। इसी प्रकार जमदग्नि और क्षत्रिय कन्या रेणुका के संयोग से उत्पन्न परशुराम ब्राह्मण कहलाए। परशुराम का क्षत्रियों के साथ बहुत लंबा संघर्ष वर्णसंघर्ष की सूचना देता है।

नारी-वर्ग के प्रति महाभारत में विभिन्न मत प्रकट किए गए हैं। एक ओर शांति पर्व में कहा गया है कि स्त्री ही घर है। दूसरी ओर नारियों को स्वभाव से मिथ्यावादिनी कहा गया है। महाभारत के समय ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, गंधर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच—ये आठ प्रकार के विवाह वैध माने गए हैं। जिनमें प्रथम चार सम्मानित तथा अंतिम चार निकृष्ट माने जाते थे।

महाभारत काल में स्त्रियों में पर्दा प्रथा का प्रचार हो गया था। रामायण में भी कहा गया है कि संकट, यज्ञ, विवाह और विपाद के समय स्त्री का पर्दे से बाहर आना आपत्ति जनक नहीं है। स्वयंवर की प्रथा का उल्लेख रामायण और महाभारत दोनों महाकाव्यों में मिलता है। स्वयंवर विवाहों के उदाहरणों की भी कमी नहीं है।

राजनीति की दृष्टि से रामायण की अपेक्षा महाभारत में जटिलता अधिक है। महाभारत काल में साम्राज्य की भावना प्रबल है, साथ ही कूटनीतिक दाँव-पेंच भी अधिक प्रचलित हैं। वैदिककालीन सभा और समितियाँ अब नहीं रहतीं। इनके स्थान पर राजा के लिए मंत्रिमंडलों का गठन होने लगता है। मंत्री अपने-अपने विभागों की देख-भाल करते थे और संधि विग्रह के अवसरों पर राजा इनसे सलाह लेता था।

गुप्तचरों के द्वारा राजा मंत्रियों के कार्यों का पता लगाता रहता था। प्रजा को कष्ट देने वाले, रिश्वत लेने वाले, दूसरों का धन हड़पने वाले और राजा के प्रति स्वामि-

भक्ति न रखने वाले मंत्रियों को दंड दिया जाता था। राजा और प्रजा में परस्पर सद्भाव रामायण और महाभारत दोनों संस्कृतियों में मिलता है, किंतु दुराचारी राजा के निष्कासन और किसी व्यक्ति को राज गद्दी पर बैठाने में प्रजा की सम्मति आवश्यक मानी गई है। प्रजा की उन्नति करना राजा का प्रमुख कर्तव्य माना जाता था। राज्य की आय के लिए भूमि की उपज, व्यापार, खान, समुद्र और वन की उत्पत्ति पर कर लगाने का विधान था। कर का उद्देश्य प्रजा की सुख-समृद्धि करना था।

रामायण और महाभारत कालीन धार्मिक स्थिति के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना कठिन है। कारण, उत्तर वैदिक काल से लेकर गुप्त काल तक धार्मिक विश्वासों और कर्मकांडों में जो-जो परिवर्तन होते रहे उन सबका लेखा-जोखा इन महाकाव्यों में मिलता है। अवतारवाद के सिद्धांत और मूर्तिपूजा, जिनका वैदिक संस्कृति में कोई प्रामुख्य नहीं, महाभारत में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित हैं। जिन धार्मिक विश्वासों का महाभारत में प्रतिपादन हुआ है उनका पूर्ण विकास हमें पुराणों में मिलता है। ऐसा कोई भी पुराण नहीं जिसमें रामायण और महाभारत के पात्रों का उल्लेख न हो। इससे भी यह प्रमाणित होता है कि उक्त महाकाव्यों ने हिंदू-समाज के धार्मिक-सांस्कृतिक विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है।

महाभारतकालीन संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें यज्ञ का स्वरूप बदल चुका है। (1) देव यज्ञ (2) ऋषियज्ञ (3) पितृयज्ञ (4) नृयज्ञ और (5) भूत यज्ञ का महाभारत में विधान है। देव यज्ञ में संध्या, हवन इत्यादि, ऋषियज्ञ में धार्मिक ग्रंथों का अनुशीलन, पितृयज्ञ में श्राद्ध तर्पण, नृयज्ञ में अतिथि सत्कार तथा भूत-यज्ञ में पशु-पक्षी आदि प्राणियों का संरक्षण प्रमुख कर्मकांड माना गया है। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, अक्रोध, संयम, विषय-भोग से वैराग्य और दान इस संस्कृति के प्रमुख धार्मिक लक्षण माने गए हैं। गीता, भीष्म-नीति आदि में हम संस्कृति का आदर्श रूप पाते हैं।

भीष्मोपदेश

(1) कुरुश्रेष्ठ! अपने आपको जो प्रिय लगता है उसे त्यागकर शासक को ऐसा कार्य करना चाहिए जिससे सब लोगों का हित हो।

(2) सर्वोत्तम शासक वही है जिसके राज्य में लोग इस प्रकार निर्भय फिरते हैं, जैसे पुत्र अपने पिता के घर में निर्भीक रहते हैं।

(3) दरिद्रों, अनाथों, वृद्धों और विधवाओं की रक्षा और उनकी आजीविका के प्रबंध का भार शासन पर है।

(4) हे युधिष्ठिर! दुर्बल मनुष्य, मुनि और सर्प की दृष्टि को मैं अत्यंत असह्यनीय मानता हूँ। इसलिए तुम किसी दुर्बल प्राणी को न सताना।

(5) झूठे आरोप लगाए जाने पर रुदन करते हुए दीन दुर्बलों की आँखों से जो आँसू गिरते हैं वे मिथ्या दोष लगाने वाले के पुत्रों और पशुओं का नाश कर डालते हैं।

(6) हे राजन ! युद्ध की विजय निम्न कोटि की विजय है। अतः राजा को किसी अन्य उपाय से अपनी जीत बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए।

(7) संसार में हमने इन्द्रिय-दमन के समान कोई दूसरा धर्म नहीं सुना। सभी धर्मों में दम के महत्व को स्वीकार किया गया है।

(8) क्षमा, धीरता, अहिंसा, समता, सत्यवादिता, सरलता, इन्द्रियविजय, निपुणता, कोमलता, लज्जा, अचंचलता, उदारता, अक्रोधिता, संतोष, मधुर वचन बोलने का स्वभाव, किसी प्राणी को पीड़ा न पहुँचाना, दूसरों के दोषों को न देखना, इन सद्‌गुणों की अभिव्यक्ति दम कहलाती है।

(9) जिसे किसी प्राणी से भय नहीं है, जिससे कोई प्राणी भयभीत नहीं है, उस दमनशील की सभी वंदना करते हैं।

(10) सत्य बोलना शुभ कर्म है। सत्य से बड़ा कोई दूसरा धर्म नहीं है। सबको सत्य ने ही धारणकर रखा है और सब कुछ सत्य में ही प्रतिष्ठित हैं।

(11) आलस्य को उद्योग से, वितर्क को दृढ़ निश्चय से, वाचालता को मौन से और भय को साहस से जीतना चाहिए।

(12) जगत में जो काम-भोग से उत्पन्न सुख हैं और जो स्वर्ग-लोक का महान सुख है वे दोनों तृष्णा के क्षय से मिलने वाले सुख की सोलहवीं कला की भी तुलना में नहीं आ सकते।

(13) अमरता और मृत्यु दोनों ही देह के भीतर छिपी हुई हैं। मोह से मृत्यु और सत्य से अमरता प्राप्त होती है।

(14) त्याग के बिना सुख प्राप्त नहीं हो सकता। बिना त्याग के मनुष्य परम तत्त्व तक नहीं पहुँच सकता। मनुष्य सर्वत्याग से ही सुखी हो सकता है।

(15) सत्य ही ब्रह्‌म है, सत्य ही तप है, सत्य से ही स्वर्ग की प्राप्ति है। असत्य जो अंधकार रूप है, वह मनुष्य को नीचे गिरा देता है।

(16) वेदों का रहस्यात्मक अर्थ सत्य है। सत्य का अर्थ दम है और दम का अर्थ मोक्ष है, यही सर्वानुशासन है।

(17) जिस काम को कल करना हो उसे आज ही कर लिया जाए। जिसे दोपहर के बाद करना हो उसे दोपहर के पहले ही कर डालना चाहिए, क्योंकि मृत्यु इस बात की बाट नहीं जोहती कि इसका कार्य पूरा हुआ है अथवा नहीं।

(18) जो कल्याणकारी कार्य है उसे तुम आज ही कर डालो। यह उत्तम काल कहीं तुम्हें लाँघ न जाए। कौन जानता है कि किसकी मौत की घड़ी आ पहुँचेगी।

यक्ष संवाद

यक्ष— धर्म का एक मात्र साधन क्या है ?
यश किस उपाय से प्राप्त होता है ?
स्वर्ग प्राप्ति का एकमात्र साधन क्या है ?
कौन सा ऐसा उपाय है जिससे सुख लाभ हो सकता है ?

युधिष्ठिर— दक्षता धर्म का एकमात्र साधन है।
यश-लाभ का एकमात्र उपाय दान है।
स्वर्ग केवल एक सत्य से ही प्राप्त होता है।
एक शील ही सुख का मूल है।

यक्ष— मनुष्य की आत्मा कौन है ?
कौन उसका भाग्य द्वारा प्राप्त मित्र है ?

युधिष्ठिर— मनुष्य की आत्मा उसका पुत्र है।
मित्र उसकी पत्नी है जो भाग्य से मिलती है।

यक्ष— सर्वोत्तम सुख क्या है ?
सर्वोत्तम लाभ क्या है ?

युधिष्ठिर— संतोष ही सर्वोत्तम सुख है।
आरोग्य सर्वोत्तम लाभ है।

यक्ष— धर्म से बढ़ कर संसार में और क्या है ?
वह कौनसा धर्म है जो सदा फल देता है ?
वह क्या है जिसका नियंत्रण करके शोक नहीं होता ?
वे कौन हैं जिनके साथ की गई मित्रता कभी जीर्ण नहीं होती ?

युधिष्ठिर— उदारता धर्म से भी बढ़कर है। सदा फल देने वाला वैदिक धर्म है।
वह मन है जिसका नियंत्रण करके शोक नहीं होता।
सज्जनों की मित्रता कभी जीर्ण नहीं होती।

यक्ष— तप का लक्षण क्या है ?
दम किसे कहते हैं ?
सबसे बड़ी क्षमा क्या है ?
और लज्जा की भावना क्या है ?

युधिष्ठिर— स्वधर्म का पालन करना ही धर्म है।
सच्चा दम मन का निग्रह है।
द्वंद्वों का सहना सबसे बड़ी क्षमा है।
न करने योग्य कर्म से मुँह मोड़ लेना ही लज्जा की भावना है।

यक्ष— इस जगत में आश्चर्य क्या है ?

युधिष्ठिर— दिन प्रति दिन प्राणी यमलोक को जा रहे हैं। यह देखते हुए भी शेष प्राणी चाहते हैं कि वे अनंत काल तक जीवित रहें। इससे बढ़ा आश्चर्य और क्या हो सकता है ?

गीतामृत

1. देहधारी को जिस प्रकार बालपन, जवानी और बुढ़ापा प्राप्त होता है उसी तरह दूसरी देह प्राप्त होती है। इसलिए बुद्धिमान मनुष्य को मृत्यु के विषय में शोक नहीं करना चाहिए। 2/13/
2. हे अर्जुन ! तू युद्ध कर। शरीर नाशवान भले ही हो, किंतु शरीर की स्वामिनी आत्मा अविनाशी है। 2/18/
3. जैसे कोई पुराने वस्त्रों को त्यागकर नए वस्त्र धारण करता है वैसे ही यह देही एक देह को त्यागकर दूसरा शरीर धारण करता है। 12/22/
4. इस आत्मा को न तो कोई शस्त्र काट सकता है और न आग इसे जला सकती है। पानी इसे भिगो नहीं सकता और वायु इसे सुखा नहीं सकती। 2/23
5. जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु निश्चित है। जो मरता है उसका जन्म भी निश्चित है। इस न टल सकने वाली बात के लिए शोक करना उचित नहीं। 2/26/
6. तू यदि अपने धर्म पर आरूढ़ रह कर युद्ध न करेगा तो अपने धर्म और यश को खोकर पाप ही बटोरेगा। 2/33
7. तेरा अधिकार केवल कर्म करने में है। फल का मिलना न मिलना तेरे अधिकार में नहीं है। इसलिए तू कर्म फल के लिए चिंता न कर और न फल में आसक्ति ही रख। 12/47/
8. बुद्धिमान पुरुष सुकृत और दुष्कृत दोनों में से किसी में भी आसक्त नहीं होता। अर्जुन ! तू योग युक्त बन। कर्म का कौशल के साथ संपादन करना ही योग है। 2/50/
9. कहना चाहिए कि उसी मनुष्य की बुद्धि स्थिर हो गई है जिसका मन अनासक्त हो गया है। वह न तो शुभ में आनंदित होता और न अशुभ प्राप्त होने पर विषाद करता है। 2/56/
10. जो व्यक्ति जिन विषयों का निरंतर चिंतन करता है उन विषयों के प्रति उसकी आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से भोग की इच्छा बढ़ती है तथा भोगप्राप्ति में विघ्न आने पर क्रोध उत्पन्न होता है। 2/62/
11. क्रोध से मोह पैदा होता है जिससे स्मृति भ्रष्ट हो जाती है। स्मृति के भ्रष्ट होने से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि के नष्ट होने पर व्यक्ति स्वयं नष्ट हो जाता है। 2/63/

12. जिस प्रकार परिपूर्ण सागर नदियों के जलों के आगमन से अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता उसी प्रकार संयमी पुरुष विषयों का आघात सह कर भी अपने चित्त की शांति को नष्ट नहीं होने देता। उसी संयमी पुरुष को, न कि कामलोलुप मनुष्यों को शांति प्राप्त होती है। 2/70/
13. कुछ न कुछ कर्म किए बिना रहा नहीं जा सकता। प्रकृतिजन्य गुण कुछ न कुछ करने को सदा बाध्य करते रहते हैं। 3/5/
14. जो मनुष्य इंद्रियों को विषयों से रोक कर विषयों का मन ही मन चिंतन करता रहता है वह मिथ्याचारी है। 3/6
15. रजोगुण से उत्पन्न काम और क्रोध मनुष्य के घोर शत्रु हैं। इनकी भूख बड़ी तीव्र और पापरूपिणी है। इन दोनों को भलीभांति समझ लेना चाहिए। 3/37
16. हे अर्जुन ! इंद्रियों का नियंत्रण करके ज्ञान और विज्ञान के इन शत्रुओं का पहले नाश कर डालना चाहिए। 2/43
17. हे भारत ! धर्म जब क्षीण होने लगता है तथा अधर्म सिर उठाने लगता है तब मैं अवतार लेता हूं। 4/7
18. मेरा अवतार अत्याचारियों से सज्जनों का परित्राण करने के लिए तथा दुष्टों का नाश करने के लिए युग-युग में होता है। 4/8
19. जो साधक मेरा जिस रूप में ध्यान करता है, मैं भी उसका उसी रूप में कल्याण करता हूँ। हे पार्थ ! सब मार्ग अंततोगत्वा मुझमें ही मिलते हैं। 4/11
20. जैसे प्रज्वलित अग्नि सारे ईंधन को समाप्त कर डालती है उसी प्रकार ज्ञान की अग्नि शुभ और अशुभ सभी कर्मों को भस्म कर डालती है। 4/37
21. इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र और कुछ भी नहीं है। योगसिद्ध व्यक्ति समय पाकर उस ज्ञान को स्वयं प्राप्त कर लेता है। 4/38
22. जो योगयुक्त हो गया है, जिसका अंतःकरण विशुद्ध हो गया है और जिसने मन और इंद्रियों को जीत लिया है और जिसकी आत्मा सभी प्राणियों की आत्मा बन गयी है वह कर्म करता हुआ भी अलिप्त रहता है। 5/7
23. समस्त कर्मों को मन से त्याग कर जितेंद्रिय पुरुष नौ द्वार वाले इस शरीर रूपी नगर में न कुछ करता हुआ और न कुछ कराता हुआ सुखपूर्वक निवास करता है। 5/13
24. विद्वान्, विनयशील ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चांडाल सभी के प्रति पंडित समदर्शी होता है। 5/18
25. ब्रह्म में स्थित पुरुष वह है जो प्रिय को पाकर प्रसन्न नहीं होता तथा अप्रिय को पाकर खिन्न नहीं होता। इस प्रकार जिसकी बुद्धि स्थिर हो गई है वह मोहपाश में नहीं फँसता। 5/20
26. मनुष्य स्वयं अपना शत्रु है तथा स्वयं अपना मित्र है। इसलिए उसे अपना स्वयं

उद्धार करना चाहिए। उसे अपने आप को पतन की ओर नहीं ले जाना चाहिए। 6/5

27. जिसने अपने आपको जीत लिया है वह अपना मित्र है। पर जो अपने आपको नहीं जीत सका है वह अपना शत्रु है। 6/6

28. हे अर्जुन! मात्रा से अधिक भोजन करने वालों अथवा निराहार रहने वालों, इसी प्रकार बहुत सोने वालों अथवा रतजगा करने वालों को योग सिद्धि नहीं होती। 6/16

29. जिसका आहार-विहार संतुलित है और आचरण जिसका नियंत्रित है, जो उपयुक्त समय तक जागता और सोता है, योग सिद्धि उसे ही प्राप्त होती है। 6/17/5

30. यह चंचल मन जिन-जिन विषयों की ओर दौड़े उसे उनसे रोक कर अपने नियंत्रण में करना चाहिए। 6/26

31. हे अर्जुन! सुख और दुःख अपनी ही तरह दूसरों को भी होता है। जो ऐसी समदृष्टि रखता है उसे ही उत्तम योगी मानना चाहिए। 6/32

32. हे अर्जुन! निश्चय ही यह मन बड़ा हठीला और चंचल है, किंतु इसे अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वश में किया जा सकता है। 6/35

33. सहस्रों मनुष्यों में से कोई एक-आध मनुष्य सिद्धि प्राप्त करने का यत्न करता है और ऐसे अनेक प्रयत्नशील मनुष्यों में से कोई विरला ही मुझे विवेक पूर्वक जानता है। 7/3

34. हे अर्जुन! मैं जल में रस हूँ, चंद्र और सूर्य में प्रकाश हूँ। सब वेदों में ओमकार हूँ। 7/8

35. हे पार्थ! अनन्य चित्त से जो मेरा स्मरण करता है उसे मैं सरलता से प्राप्त होता हूँ। 8/14

36. मैं सबकी गति हूँ, पोषक हूँ, साक्षी और आश्रय स्थान हूँ। मैं सबका शरण स्थल हूँ और सुहृद भी मैं ही हूँ। उत्पत्ति, प्रलय, स्थिति का भंडार और अविनाशी बीज भी मैं ही हूँ। 9/18

37. पत्र, पुष्प, फूल और फल या थोड़ा-सा जल भी जो मुझे अर्पण करता है उस स्थिर चित्त वाले व्यक्ति की वह भेंट मैं प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण करता हूँ। 9/26

38. हे कौंतेय! तू जो कुछ भी करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान करता है वह सब मुझे ही अर्पित कर दे। 9/27

39. मैं सभी के लिए एक समान हूँ। मुझे न तो कोई प्रिय है और न अप्रिय ही। किंतु जो मुझे भक्तिपूर्वक भजता है वह मुझमें और मैं उसमें स्थित हूँ। 9/29

40. कोई कैसा ही बड़ा दुराचारी हो, यदि वह अनन्यभाव से मुझे भजता है तो उसे साधु ही समझना चाहिए। कारण कि उसकी बुद्धि ने भलीभाँति ऐसा निश्चय कर लिया है। 9/30

41. हे कौंतेय! तू मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरी पूजा कर और मुझे ही

नमस्कार कर। इस प्रकार मेरे प्रति परायण होकर योग का अभ्यास करने पर तू मुझे प्राप्त कर लेगा। 9/34

42. हे अर्जुन! सब प्राणियों के अंतःकरण में निवास करने वाली आत्मा मैं हूँ। मैं सब का आदि, मध्य और अवसान हूँ। इस विश्व में जो भी वैभवशाली और श्रीसंपन्न है उसे तू मेरे ही तेज के अंश से उत्पन्न हुआ समझ। 10/20–21
43. हे कृष्ण! तुम आदिदेव, पुराण पुरुष और जगत के एकमात्र आधार हो। तुम सब कुछ जानते हो और तुम्हीं जानने योग्य हो। हे अनंतरूप! तुमने जगत का इतना बड़ा विस्तार किया है और उसे व्याप्त कर दिया है। 11/38
44. जो संतोषी, संयमी और दृढ़ निश्चय वाला है तथा जिसने अपना मन और बुद्धि मुझे अर्पित कर दी है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है। 12/14
45. परमेश्वर को सर्वत्र एक-सा व्याप्त समझ कर जो किसी का घात नहीं करता है और स्वयं अच्छे मार्ग पर लग जाता है वह उत्तम गति प्राप्त करता है। 13/28
46. गुणातीत उसे कहते हैं जो मानापमान तथा शत्रु-मित्र में समान दृष्टि रखकर समस्त काम्य कर्मों का परित्याग कर देता है। 14/25
47. जिनके मन में न मान है, न मोह है, जिन्होंने आसक्तियों को जीत लिया है, जो अध्यात्म ज्ञान में स्थिर रहते हैं, जिन्होंने कामनाओं का त्याग कर दिया है और सुख-दुख आदि द्वंद्वों से मुक्त हो गए हैं वे ज्ञानी पुरुष अव्यय पद (ब्रह्म को) प्राप्त करते हैं। 15/5
48. काम, क्रोध और लोभ, ये त्रिविध नरक के द्वार हैं। ये मनुष्य का नाश कर डालते हैं। इनका परित्याग करना चाहिए। 16/21
49. किसी को क्लेश न पहुँचाने वाले सत्य, प्रिय और हितकारी भाषण और स्वाध्याय को वाणी का तप कहते हैं। 17/16
50. मन को प्रसन्न रखना, सौम्यता, मुनियों जैसी वृत्ति रखना, आत्मनिग्रह और शुद्ध भावना रखना मानसिक तप कहलाता है। 17/16
51. शरीरधारी के लिए कर्मों का पूर्णतः परित्याग संभव नहीं है। अतः जिसने कर्म फलों का त्याग कर दिया है वही त्यागी है। 18/11
52. अपने-अपने कर्म में निरत रहने वाले व्यक्ति अपने कर्म के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त करते हैं। 18/45
53. हे अर्जुन! ईश्वर सभी प्राणियों के शरीर में रह कर उनको अपनी माया से यंत्रवत् घुमाता है। 18/61/
54. हे पार्थ! मुझमें अपना चित्त लगा, मेरा भक्त बन, मेरा भजन कर और मेरी वंदना कर। इस प्रकार निश्चय ही तू मुझे प्राप्त कर लेगा। 18/65
55. हे अर्जुन! सारे धर्मों का परित्याग करके तू एक मेरी ही शरण में आ। मैं तुझे सभी पापों से मुक्त कर दूंगा। सोच-विचार में मत पड़। 18/66

(मूल श्लोकों के लिए परिशिष्ट देखिए)

पुराण

पुराणों की चर्चा करते हुए हम वैदिक संस्कृति के विकास के चतुर्थ चरण पर पहुँच जाते हैं जिसका दूसरा नाम कलियुग है। ऐतिहासिक दृष्टि से महाभारत की समाप्ति के पश्चात् कलियुग का प्रारंभ राजा परीक्षित के समय से होता है। महाभारत एक भीषण नरमेध यज्ञ था जिसमें भारत का वीर्य, पुरुषार्थ सब कुछ स्वाहा हो गया था। संपूर्ण देश में घोर निराशा और नाना प्रकार की शंकाएँ तथा सांस्कृतिक अधःपतन की काली घटाएँ छाई हुई थीं। महर्षि व्यास ने इस निराशावाद को दूर करने के लिए पुराणों का विस्तार किया और सब कुछ छोड़ कर ईश्वर की शरण में जाने का उपदेश दिया। इनकी रचना का युग भारत पर विदेशी आक्रमणों (कुशान, यवन, हूणों) का भी युग था। विदेशी आक्रमणकारी बर्बर जातियों के देश में विजेता के रूप में आ बसने के परिणाम स्वरूप नई सामाजिक सांस्कृतिक समस्याएँ उत्पन्न हो रही थीं। ब्राह्मणों ने, जो इस समय समाज का सांस्कृतिक नेतृत्व कर रहे थे, इन नवीन समस्याओं का बड़ी चतुराई से सामना किया और नई सांस्कृतिक इकाइयों को व्यापक भारतीय संस्कृति में रचा-पचा लेने का प्रशंसनीय प्रयास किया। इस समन्वयात्मक प्रक्रिया में पुराणों का विशेष महत्व है। पुराणकार समन्वयात्मक प्रयासों को पुराणों में सम्मिलित करते रहे। परिणाम यह हुआ कि पुराण साहित्य का भारी भरकम बोझ देश की चेतना पर पड़ने लगा। अंधविश्वास और धार्मिक रूढ़ियाँ जड़ीभूत होने लगीं। अतः पुराण साहित्य के दोनों पक्ष हैं। एक सांस्कृतिक समन्वय के द्वारा भारतीय समाज में एकता की स्थापना और दूसरा धार्मिक रूढ़ियों और अंधविश्वासों को बढ़ावा देना। स्वतंत्र भारत के समाज-वादी चिंतकों का यह कर्तव्य है कि वे यह देखें कि पौराणिक साहित्य का आधुनिक समाज की पुनर्रचना में किस प्रकार उपयोग किया जा सकता है।

'पुराण' का अर्थ है प्राचीन। अतः पुराण भारतीय इतिहास के अंग हैं। इन कथानकों से प्रचलित राजवंशों का मूल रूप क्या था, इसका अनुमान लगाना कठिन है। किंतु पौराणिक साहित्य भारतीय संस्कृति का क्रमबद्ध इतिहास अवश्य प्रस्तुत करते हैं। चतुर्युग की कल्पना पुराणों की देन है। इसका प्रथम चरण अर्थात् सतयुग वह समय था जब समाज वर्णों में विभक्त नहीं हुआ था और सामाजिक जीवन में जटिलताएँ नहीं आई थीं जो कृषि संस्कृति प्रधान होती की देन है। कृषि संस्कृति का विकास साम्राज्य-

वादी संस्कृति में हुआ, जिसकी भीषण परिणति हम महाभारत के संहार में पाते हैं। अंत में सांस्कृतिक अधःपतन का युग प्रारंभ हुआ, जब कि धर्म का अंकुश ढीला पड़ने लगा तथा विदेशी आक्रमणों के परिणाम स्वरूप सामाजिक जीवन में नई जटिलताएँ आने लगीं। इस प्रकार पुराणों में हमें सांस्कृतिक इतिहास का क्रमबद्ध रूप उपलब्ध होता है।

'पुराण' शब्द का प्रयोग कथानक की एक शैली के अर्थ में भी होता है जिसमें पाँच बातों का होना आवश्यक माना गया है :

(1) **सर्ग**—सृष्टि-विज्ञान, जिसमें महा प्रलय की अवस्था से लेकर सृष्टि के नवनिर्माण का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाता है।

(2) **प्रतिसर्ग**—जिसमें सृष्टि-विस्तार और पुनरुत्पत्ति का कल्प-भेद से लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाता है।

(3) **वंश**—सर्ग के आरंभ में मानव संस्कृति का विकास करने वाले देवों और महर्षियों (प्रजापतियों) का चरित्र प्रस्तुत किया जाता है।

(4) **मन्वंतर**—प्रत्येक कल्प में मानव संस्कृति का विकास करने में एक मनु (आदि मानव) की कल्पना है। अतः मन्वंतर में मनु के चरित्र का विस्तार किया जाता है तथा :

(5) **वंशानुचरित**—वंशानुचरित में उन राजवंशों का इतिहास प्रस्तुत किया जाता है जिनके संरक्षण में मनुष्य वन्य जीवन से सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक विकास की ओर अग्रसर हुआ।

इन पाँच लक्षणों से युक्त किसी भी कथानक को पुराण संज्ञा प्रदान की जा सकती है। कहा जाता है कि राजा परीक्षित के दिवंगत होने के पश्चात् जब कलियुग का पृथ्वी पर आधिपत्य होना शुरू हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप सतोगुण प्रधान प्राचीन संस्कृति और विशुद्ध वैदिक ज्ञान और कर्मकांड तमोगुण प्रधान बाह्याचारों से आच्छादित होने लगे तब महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने 18 पुराणों का विस्तार किया, जिससे कलियुग से ग्रसित जीवों का कल्याण हो सके। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि पुराणों के माध्यम से समाज की पुनर्रचना का प्रयत्न किया गया।

संसार में ऐसा कोई धर्म नहीं जिसमें पुराणों के समानांतर मिथकों की कल्पना न की गई हो। मिथकों का विस्तार जन-सामान्य की धर्म के प्रति श्रद्धा को उत्पन्न करने के लिए आवश्यक है। हिंदू धर्म का मध्यकालीन रूप पुराणों के माध्यम से ही संगठित हुआ है। वेदों के क्षेत्र में स्त्रियों और शूद्रों का वैसे भी प्रवेश वर्जित था, किंतु किसी को पुराणों का श्रवण करने में किसी भी प्रकार का बंधन नहीं था। अतः धर्म के गूढ़ तत्वों को कथा-रस में घोलकर सामान्य जनता के समक्ष रखने में पुराणों ने श्लाघनीय कार्य किया। ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, भागवत, नारदीय, मार्कंडेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त,

लिंग, वाराह, स्कंध, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड और ब्रह्मांड — इन 18 पुराणों के रचयिता महर्षि वेदव्यास माने जाते हैं।

पुराणों में एक अद्वैत परात्पर शक्ति की अनेक रूपों में कल्पना की गई है। जो पुराण उस शक्ति के जिस रूप का आख्यान करता है उसी को परब्रह्म का रूप मानता है तथा पृथ्वी पर अवतार लेकर पाप के विनाश और धर्म का उद्धार करने वाले उसके चरित का विस्तार करता है। अवतारवाद की कल्पना पुराणों की अनुपम देन है। इस कल्पना से परम सत्ता को हम अपने बीच में पाते हैं। इन अवतारों में राम और कृष्ण के मानवीय चरित्रों के प्रति जनता की विशेष रुचि हुई। वेदों का अगम अगोचर ब्रह्म कुछ तत्वचिंतकों के अनुमान का विषय था, किंतु राम और कृष्ण के मानवीय चरित्रों में जनता अपने हृदय की प्रतिच्छवि पाने लगी। बौद्ध और जैन प्रभाव के परिणाम स्वरूप वैदिक धर्म प्रभावहीन हो गया था। प्राचीन वैदिक धर्म ब्रह्म की सगुण रूप में, सगुण की साकार मानवीय रूप में प्रतिष्ठा करने से पुनः जनग्राह्य हो गया। वस्तुतः पहली शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी तक बौद्ध, जैन और वैदिक धर्म में पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के परिणाम स्वरूप तीनों में पौराणिक शैली का खुलकर अनुसरण हुआ, किंतु विजय वैदिक धर्म की हुई। पुराणकारों ने बुद्ध को अपने अवतारों की सूची में परिगणित कर लिया। इससे भी बौद्ध धर्म के वेद-विरोधी प्रचार और प्रसार को गहरा आघात लगा। जैनधर्म व्यापक हिंदूधर्म का अंग बन जाने के परिणामस्वरूप फैलता रहा, किंतु वह अधिक लोगों को अपने संप्रदाय में दीक्षित न कर सका।

ब्रह्म की सृजन, पालन और संहार संबंधी तीन शक्तियों की कल्पना ब्रह्मा, विष्णु और शिव के रूप में की गई। इन तीन देवताओं के अतिरिक्त सूर्य, गणेश और शक्ति की उपासना का भी प्रचार हुआ।

पुराणों ने वर्णाश्रम मर्यादा, कर्म, श्राद्ध, उपासना, उपवास, तीर्थ और मूर्तियों के पूजन का भी व्यापक रूप से प्रचार किया। आजकल सामान्य हिंदू समाज का जो रूप देखने को मिलता है उसका निर्माण पुराणों ने किया है। पुराणों के माध्यम से हिंदू संस्कृति का सामाजिक रूप विकसित हुआ जिसमें ईश्वर, आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म आदि बातों को किसी न किसी रूप में मानते हुए मनुष्य चाहे जिस रूप में ईश्वर की उपासना कर सकता है। पौराणिक हिंदूधर्म में व्यक्ति को व्यक्तिगत रूप से ईश्वर की उपासना की पूरी छूट है। यह धर्म किसी का विरोध नहीं करता।

पौराणिक संस्कृति मूलतः नैतिकतावादी संस्कृति है जिसमें विचार और विश्वास की पूरी छूट है, किंतु मनमाने ढंग से आचार की छूट नहीं है। समाज का ढाँचा वर्णमूलक रहा तथा धीरे-धीरे वर्णों में जातियों तथा जातियों में गोत्र अथवा क्षेत्र के आधार पर छोटी-छोटी उपजातियाँ गठित हुई। ये छोटे-छोटे जातीय समुदाय अपने सदस्यों के आचरण पर नियंत्रण रखने में सफल हुए। जाति-बिरादरी से निष्कासित

व्यक्ति का समाज में जीना दूभर हो गया। पुराणों में वर्ण-व्यवस्था का उल्लंघन करने वाली वर्णसंकर जातियों का भी उल्लेख है। वर्ण संकरता को पुराणकार अच्छी नज़र से नहीं देखते हैं। फिर भी वर्ण-व्यवस्था में उनका कहीं न कहीं स्थान निर्धारित कर देते हैं।

पौराणिक संस्कृति में ईश्वर के नाम-संकीर्तन की महिमा विशेष रूप से कही गई है।

भागवत पुराण में कहा गया है कि संसार-भय से निर्भय होने के लिए भगवान की कथा का श्रवण, नाम का संकीर्तन और रूप का स्मरण करना आवश्यक है। एक स्थान पर कहा गया है—चाहे कोई चोर, हत्यारा, मद्यपी, मित्रद्रोही, ब्रह्म-हत्यारा, स्त्री, राजा, पिता अथवा गौ का घातक हो अथवा इससे भी बढ़ कर महापातकी हो, भगवन्नाम संकीर्तन से उसका उद्धार संभव है।

संक्षेप में हम पौराणिक संकृति की निम्नलिखित विशेषताएँ निश्चित कर सकते हैं :

1. वर्णाश्रम मर्यादा का पालन जिसमें गौ और ब्राह्मण की प्रतिष्ठा सर्वोपरि है।
2. वेद विहित कर्म, ईश्वर के सगुण रूप की प्रतिष्ठा तथा ईश्वर के अवतारों में विश्वास।
3. पुनर्जन्म में विश्वास।
4. पूजा-पाठ, व्रत, उपवास, तीर्थ, मंदिर आदि में विश्वास।
4. नैतिक आचरण जिसमें दान और परोपकार का सर्वोपरि महत्व है।

कोई भी धार्मिक विश्वास जब आजीविका उपार्जन का साधन बन जाता है तब उसमें विकृतियों का आना स्वाभाविक है। पौराणिक धर्म भी तीर्थों के पंडों और पुरोहितों के हाथों में पड़ कर विकृत होने से नहीं बचा। धर्मभीरु जनता को ठगने के लिए इन्होंने नाना प्रकार की कथाएँ रचीं और उनको पुराणों में प्रक्षिप्त करके विश्वसनीय बनाने का प्रयास किया। इसलिए समय-समय पर पौराणिक धर्म के प्रति समाज में तीव्र प्रतिक्रिया होती आई है।

विश्व संस्कृति के विकास में भारत का योगदान

मानव जीवन में जो भी भव्य और उत्कृष्ट है उसके प्रकाश को यदि हम 'संस्कृति' मानें तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मानवसंस्कृति एक अविभाज्य, अखंड समवाय है। उसे देश के आधार पर विभाजित करके देखना द्रष्टा की अपनी सीमा है। संस्कृति ऐसा समवायी कोश है जिसमें प्रत्येक देश और जाति का कुछ न कुछ योग अथवा अंशदान सम्मिलित है। आज की भौतिक समृद्धि में भारत यूरोप और अमेरिका जैसे पूर्ण विकसित देशों की तुलना में कम विकसित है। औद्योगिक रूप से पूर्ण विकसित होने के लिए उसे कई मंजिलें तय करनी हैं, किंतु उद्योगीकरण और भौतिक समृद्धि समग्र जीवन का एक अंश मात्र है। उदरपूर्ति और जीवन की विलासमयी सुविधाएँ यदि मनुष्य को पूर्ण परितोष प्रदान कर सकी होतीं, यदि उसकी आत्मा में उच्चतर जीवन की अभिलाषा और शाश्वत शांति प्राप्त करने की लालसा न रही होती तो शायद पशुओं की तुलना में उसे अपने आप पर, अपनी संस्कृति पर गर्व करने का कोई आधार न रहा होता।

अति प्राचीन काल से—कदाचित् ईसा के 1000-2000 वर्ष पहले से भारत का अन्य देशों के साथ घनिष्ट संबंध था। भारत ने दूसरे देशों को केवल आध्यात्मिकता का पाठ ही नहीं पढ़ाया, भौतिकविज्ञान, विशेषकर गणित और ज्योतिष के विकास में भारत का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। दूसरे देशों पर आक्रमण करके उन्हें गुलाम बनाने की लालसा भारतवासियों में कभी नहीं रही। दूसरी संस्कृतियों को मिटा कर अपना सांस्कृतिक आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न इस देश ने कभी नहीं किया। किसी प्रलोभन अथवा शक्ति के द्वारा सामूहिक धर्म-परिवर्तन कराने में भारत का कभी विश्वास नहीं रहा। फिर भी भारत में जन्मा और पनपा बौद्ध धर्म उन संस्कृतियों को अपनी ओर आकृष्ट कर सका जिनकी सभ्यता न तो भारत से कम प्राचीन थी और न कम महान थी। उदाहरण के लिए भागवान बुद्ध का संदेश पहुँचने से पहले चीन में कनफ्यूसियस और लोओजे के विचारों का बोलबाला था। कनफ्यूसियस के विचारों में कर्मवाद और लोओजे के विचारों में आध्यात्मिक रहस्यवाद प्रधान था। फिर भी बुद्ध के विचारों को पाकर चीनी जनता कनफ्यूसियस और लोओजे को भूल गई। इसी प्रकार बौद्ध धर्म के प्रचार के पहले जापान में शिन्तो धर्म प्रचलित था, किंतु बौद्ध धर्म की साधना-

पद्धति, विशेषकर ध्यान योग ने जापान को आकृष्ट किया और ईसा की नवीं शताब्दी में एक धार्मिक क्रांति हुई। बौद्ध और शिन्तो धर्म के समन्वय से शिन्तो-बौद्ध धर्म का वहाँ प्रचलन हुआ।

बर्मा और श्याम भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग रहे हैं। भारत में जो-जो सांस्कृतिक-धार्मिक क्रांतियाँ हुईं, ये देश इनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। इसी प्रकार पूर्वी द्वीप-समूह—सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, न्यूगिनी बृहत्तर भारत के अंग रहे हैं। भारत के अध्यात्मवाद और सामाजिक पद्धति से पूर्वी द्वीप समूह प्रभावित होते रहे हैं। महाभारत और रामायण के पावन स्वर इन द्वीप समूहों की जनवाणी में आज तक प्रतिध्वनित हो रहे हैं। इन द्वीप समूहों के प्राचीन खंडहरों में भारतीय मूर्तिकला के अवशेष सांस्कृतिक ऐक्य का आज भी स्मरण दिलाते हैं। भारत के प्रति इन द्वीप समूहों के जनमानस में आज भी सद्भाव, स्नेह और सम्मान की भावनाएँ विद्यमान हैं। इसका कारण यही है कि भारत ने यह नीति कभी नहीं अपनाई कि जो छोटे देश उसके व्यापारिक संपर्क में आए उनकी सांस्कृतिक विरासत को पहले नष्ट करो और फिर उसको अपने राजनीतिक प्रभाव और आर्थिक शोषण के शिकंजे में कस लो। उसने इतना अवश्य किया कि अपनी आध्यात्मिक उपलब्धियों का कोश दूसरों के समक्ष निष्काम भाव से प्रस्तुत किया और उसमें से जो भाव, विचार, विश्वास, साधन-पद्धतियाँ अथवा आदर्श अन्य देशों को अपनी संस्कृति के अनुकूल जान पड़े उनको उन देशों ने कृतज्ञता पूर्वक स्वीकार किया। इस प्रकार पूर्वी एशिया के विभिन्न देशों के लिए भारत भूमि एक धार्मिक तीर्थ बन गया जिसका भ्रमण करना उनके लिए एक पुण्य कर्म बन गया। भारत के साथ सांस्कृतिक संबंधों के स्मरण में ये राष्ट्र भी गौरव का अनुभव करते हैं और कृतज्ञता पूर्वक अपने ऊपर भारत का सांस्कृतिक ऋण स्वीकार करते हैं।

प्राचीन काल में भारत का व्यापार जल और थल दोनों मार्गों से होता था। वेदों में ऐसी विशाल नौकाओं का उल्लेख है जो सैकड़ों मनुष्यों को लेकर जल-संतरण कर सकती थीं। फ़ारस और ईरान शताब्दियों तक आर्य-साम्राज्य के अंग रहे। इसलिए इन देशों की प्राचीन संस्कृति और प्राचीन भारतीय संस्कृति में बहुत कुछ समानता है। ईरानी, फ़ारसी और संस्कृत के शब्द कोशों में बहुत से शब्द किंचित् उच्चारण भेद के साथ समान हैं। प्राचीन युग में भारतीय आर्यों की शारीरिक बनावट का जो वर्णन मिलता है वह भी इन देशों के शारीरिक गठन से मेल खाता है। पाश्चात्य समाज-विज्ञानी दोनों में प्रजातिक एकता भी सिद्ध करते हैं। इसलिए इन देशों की संस्कृति पर हम भारतीय संस्कृति के प्रभाव को बाह्य प्रभाव नहीं कह सकते। इन देशों से हमारा संबंध केवल व्यापारिक नहीं रहा। भारत का ईराक, अरब, फिनीशिया और मिश्र से व्यापक व्यापारिक संबंध रहा और ऐसे प्रमाण मिले हैं कि यह संबंध वैदिक काल में ही स्थापित हो गया था। भारत से मसाले, गंधक, सूती वस्त्र, रेशम, मलमल, हाथीदाँत, मिट्टी के बर्तन और

जवाहरात का इन देशों को निर्यात किया जाता था और बदले में प्रायः सोना और चाँदी भारतीय व्यापारी ले कर आते थे। इन व्यापारिक बेड़े अथवा क़ाफ़िलों के साथ दार्शनिक, ज्योतिषी, वैद्य, साधु-संत भी यात्रा किया करते थे और यही वर्ग उन देशों में भारत का सांस्कृतिक दूत हुआ करता था। कभी-कभी मित्र देशों में भारत की व्यापारिक बस्तियाँ भी बसाई जाती थीं और इनके माध्यम से सांस्कृतिक आदान-प्रदान चला करता था।

मोहेंजोदाड़ो की खुदाई से जो विनष्ट नगर के भग्नावशेष मिले हैं उनमें और प्राचीन मेसोपोटामिया के भग्नावशेष में कई समानताएँ पाई गई हैं। नगर-निर्माण, पानी का निकास, अलंकरण आदि की समानताओं के आधार पर पश्चिमी विद्वानों ने कई निष्कर्ष निकाले हैं। उनमें से एक यह भी है कि आर्यों के भारत में प्रवेश करने के पहले सिंधु घाटी में एक आर्येतर प्रजाति का निवास था जो या तो आधिभौतिक परिवर्तन के परिणाम स्वरूप समाप्त हो गई अथवा आर्यों ने उसे खदेड़कर विंध्य की ओर भगा दिया। वे यह विकल्प नहीं सोच पाए कि उक्त प्रकार की समानताएँ दो देशों के सांस्कृतिक आदान-प्रदान के परिणाम स्वरूप भी प्राप्त हो सकती हैं। कुछ भी हो इस तथ्य को पश्चिमी विद्वानों ने भी मुक्त कंठ से स्वीकार किया है कि सांगीतिक लिपि (नोटेशन) का विकास सबसे पहले भारत में हुआ और भारत से ईरान के माध्यम से अरब पहुँचा और अरबों से यूरोपवासियों ने सीखी। इसी प्रकार पश्चिम की वर्तमान चिकित्सा-पद्धति का विकास भारतीय आयुर्वेद के आधार पर हुआ है। आयुर्वेद भी अरब देशों के माध्यम से यूरोप पहुँचा। अरब के ख़लीफ़ाओं ने आयुर्वेद का अनुवाद अरबी भाषा में करवाया। भारतीय चिकित्सा शास्त्री चरक का नाम लैटिन भाषा में अब तक अपभ्रंश रूप में विद्यमान है।

ज्योतिष और गणित के आचार्यों में आर्यभट्ट (476 ई०) का नाम संसार भर में प्रसिद्ध है। इन्हीं आर्यभट्ट की स्मृति में भारत के प्रथम भू उपग्रह का नाम आर्यभट्ट रखा गया है। अंतरिक्ष विज्ञान में भारत की यह पहली महत्वपूर्ण सफलता है। आर्यभट्ट ने खगोल विज्ञान में सबसे पहले चंद्रग्रहण और सूर्यग्रहण की भविष्यवाणी करने की विधि निकाली। आचार्य आर्यभट्ट ने ही यह सबसे पहले घोषणा की कि सूर्य नहीं पृथ्वी परिक्रमणशील है। इसी प्रकार गणित के आचार्यों ने शून्य का आविष्कार चौथी शताब्दी में सबसे पहले भारतीय गणितज्ञों ने किया। गणितशास्त्र भारत से अरब के माध्यम से यूरोप पहुँचा और बाद को सारे विश्व में फैला। गणित में दशमलव का आविष्कार भी भारत ही में हुआ। इसका प्रचार भारतीय आचार्यों ने चीन में किया और चीन से बग़दाद होता हुआ यूरोप पहुँचा। 13वीं शताब्दी तक यूरोपवासी दशमलव पद्धति से अपरिचित थे।

भारत पदार्थविज्ञान में भी सबसे आगे था। सबसे पहले वैशेषिक शास्त्र के

रचयिता कणाद ने मूल पदार्थों के गुण और लक्षणों का आख्यान किया और यह सिद्ध किया कि संपूर्ण पदार्थ अणुओं से बने हुए हैं। जैन दर्शन ने भी पदार्थों के आणविक अस्तित्व को स्वीकार किया।

रसायन शास्त्र का विकास आयुर्वेद और उद्योग-धंधों के विकास के साथ हुआ। गुप्तकाल तक भारत का व्यापार सारे विश्व से होता था। कपड़े को रँगाई में भारत विश्व के सब देशों से आगे था। चिकित्सा शास्त्र के क्षेत्र में भारत को विश्व का गुरु माना जा सकता है। सुश्रुत (ई. पू. पाँचवीं सदी), चरक (दूसरी सदी) और वाग्भट्ट (छठी सदी) आयुर्वेद के महान आचार्य हैं जिन्होंने शरीर और चिकित्साशास्त्र में महत्वपूर्ण अनुसंधान किए। शल्य-चिकित्सा की पद्धति से भी प्राचीन भारत अपरिचित नहीं था। गैरिसन नामक इतिहासवेत्ता का कहना है कि 'ऐसा कोई बड़ा आपरेशन नहीं था जिसे प्राचीन हिंदू सफलता पूर्वक न कर सकें।' इतिहासवेत्ताओं का कथन है कि मध्य-कालीन तथा अर्वाचीन यूरोप को चिकित्सा संबंधी सारा ज्ञान अरबों से मिला और अरबों को भारत से। इस प्रकार विश्व-संस्कृति के विकास में भारत का योगदान महत्वपूर्ण है।

प्राचीन काल से भारत धर्मभूमि रहा है। दर्शन के क्षेत्र में भारत ने जितना अनुसंधान कार्य किया उतना उसने भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में नहीं किया। दार्शनिक अनुसंधान की प्रक्रिया भौतिक विज्ञान की प्रक्रिया से भिन्न है। भौतिक विज्ञान के अनुसंधान में अनुसंधित्सु भौतिक पदार्थों के अंतः संबंधों पर कार्य करता है, पदार्थों में निहित गुणों और शक्तियों के रूप का पता लगाता है और विभिन्न गुणों में सामंजस्य तथा व्यतिरेक खोजने की चेष्टा करता है। यह अनुसंधान निरंतर चलता रहता है। एक वैज्ञानिक के सिद्धांत को दूसरा सिद्धांत असत्य प्रमाणित कर देता है। प्रकृति के अनंत-रूपों की खोज में हमारा बीसवीं सदी तक का विज्ञान शैशवावस्था में है। प्रकृति के अनंत रहस्यों की खोज में मानव बुद्धि चकित और विस्मित होकर यह स्वीकार करती है कि अब तक प्रकृति के जितने रहस्यों का पता लगाया जा सका है वह ज्ञान के अथाह सागर की एक बूंद के समान है।

आध्यात्मिक दर्शन का क्षेत्र मानव व्यक्तित्व के अनुसंधान का क्षेत्र है—मनुष्य की भौतिक सत्ता, इच्छाशक्ति और बौद्धिक प्रकाश के परस्पर अंतःसंबंधों के परिज्ञान का क्षेत्र है। आधुनिक मनोविज्ञान इस दिशा में और भी कम विकसित है। अभी वह कुछ बाहरी सतहों की सामान्य जानकारी प्राप्त करने में संलग्न है। उसे जीवन की विकृतियों की खोज में थोड़ी बहुत सफलता मिली है, किंतु जीवन की उच्चतर भूमियों के विषय में उसकी जानकारी शून्य के समान है। भारतीय आध्यात्मिक अनुसंधान की प्रक्रिया को योग कहा गया है। योग-मार्ग में अनुसंधित्सु को अपने ही व्यक्तित्व के गहरे समुद्र में प्रवेश करना पड़ता है और तटस्थ तथा निरपेक्ष भाव से जीवन का संचालन करने वाली तथा व्यक्तित्व का निर्माण करने वाली शक्तियों की खोज करनी पड़ती है।

इसी प्रक्रिया से वह मानव-मानव के पारस्परिक संबंधों, सामाजिक आचरणों और नैतिक मूल्यों की स्थापना करने का प्रयास करता है। कहने की आवश्यता नहीं कि योग भारतीय चिंतन की मौलिक प्रक्रिया रही है। 'विज्ञान ब्रह्म है,' 'यह आत्मा ब्रह्म है,' 'यह सब कुछ ब्रह्म है।' 'तू वही है' जैसे सिद्धांत-वाक्य इस वैज्ञानिक खोज के ही परिणाम हैं। शांकर अद्वैतवाद और बौद्ध निर्वाणवाद के मूल में आध्यात्मिक योग की प्रक्रिया छिपी हुई है। सत्ता के सातत्यवाद तथा पुनर्जन्मवाद का आविष्कार वैज्ञानिक खोज का परिणाम है। भौतिक विज्ञान के आविष्कारों ने मानव-जीवन की सुख-सुविधाओं में बढ़ोत्तरी अवश्य की है, किंतु आध्यात्मिक दृष्टि के अभाव में वर्तमान मानव-संस्कृति चक्षुविहीन हो गई है और जैसे अंधी कोठरी में दौड़ लगाने वाले अंधे बार-बार आपस में टकराते हैं, ठीक वैसे ही वर्तमान समय में व्यक्ति-व्यक्ति से, राष्ट्र-राष्ट्र से टकरा रहा है। जीवन की समग्र दृष्टि के अभाव में इस टकराहट का अंत कभी नहीं हो सकता। किसी शक्ति संपन्न राष्ट्र का कोई विकृत मस्तिष्क कब महा विध्वंस का बटन दबा दे, कुछ कहा नहीं जा सकता।

प्राचीन काल में भारत का आध्यात्मिक संदेश जहाँ-जहाँ गया वहाँ-वहाँ उसका स्वागत हुआ। सच पूछा जाए तो मनुष्य की आध्यात्मिक संस्कृति के विकास में भारत का योगदान सर्वोपरि है। भारत का हिमालय के रास्ते से चीन से संपर्क था। भारत के साधु, महात्माओं और साधकों ने चीन जाकर अपने धर्म और दर्शन का जो परिचय दिया उससे चीन भारत का प्रशंसक बन गया। किसी समय चीनियों की यह धारणा बन गई थी कि जो भी अच्छी चीजें आती हैं सब भारत से ही आती हैं। यही कारण है कि बौद्ध दर्शन ने चीन की संस्कृति को व्यापक रूप से प्रभावित किया। महा पंडित राहुल सांकृत्यायन का अनुमान था कि चीन में अभी भी पंद्रह सौ ग्रंथ ऐसे हैं जो संस्कृत अथवा पाली भाषा के अनुवाद हैं। चीन से अनेक यात्री योग, ज्ञान और धर्म की साधना करने के लिए समय-समय पर भारत आते रहे। फाहियान नामक यात्री (399-414 ई०) में भारत आया और वर्षों तक आध्यात्मिक साधना करता रहा। इसी प्रकार सातवीं शताब्दी तक ह्यू-एन-सांग, इत्सिंग आदि यात्री आते रहे और संस्कृत तथा पाली भाषाओं का अध्ययन करके भारतीय दर्शन का आध्यात्मिक संदेश चीन देश को ले जाते रहे।

प्रागैतिहासिक काल से भारतीय सभ्यता और पश्चिम के सुमेर और बेबिलोन सभ्यता में निकट का संपर्क था। मोहेंजोदाड़ो की खुदाई से जो भग्नावशेष मिले हैं उनके बहुत से ऐसे तत्व हैं जिनमें और प्राचीन सुमेरियन भग्नावशेषों में बहुत समानता है। इस समानता के आधार पर ही यह समझा जाता है कि आर्य मध्य एशिया से आकर सिंधु की घाटी में बसे थे। किंतु वैदिक साहित्य में ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर आर्यों का बाहर से आना सिद्ध हो सके। समानताओं के आधार पर केवल यह सिद्ध होता है कि

बाह्य विश्व से भारत का सांस्कृतिक संबंध अति प्राचीन काल से था। उदाहरण के लिए भारत में जब ट्युध देव का अविर्भाव हुआ तो उनका संदेश पूर्व और पश्चिम दोनों दिशाओं में फैला। कहा जाता है कि ईसा मसीह ने जिस भूभाग में अपना धर्मोपदेश किया था वहाँ बौद्ध धर्म का संदेश शताब्दियों पहले पहुँच चुका था। ईसाई धर्म के विकास में बौद्ध दर्शन का पर्याप्त योग था। इस बात को रोमन चर्च के अनुयायी भी स्वीकार करते हैं। सेंट योसाफेत (संत बुद्ध) को वे एक ईसाई संत के रूप स्वीकार करते हैं।

प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक पिथोगोरस का जन्म ई. पू. 580 में हुआ था। उसके चरित लेखकों ने यह विश्वास प्रकट किया है कि पिथोगोरस ने ब्राह्मणों की संगति की थी। इसलिए वह पुनर्जन्म के सिद्धांत को स्वीकार करता था। पिथोगोरस ने यूनान में जिस धर्म, दर्शन और गणित के सिद्धांतों का प्रचार किया वह सब उसने भारतीय ब्राह्मणों से सीखा था। पिथोगोरस बुद्ध और महावीर का समकालीन था और उन्हीं की भांति अहिंसा में विश्वास करता था। आगे चलकर अफलातून ने पुनर्जन्म और कर्मवाद का जो समन्वित उपदेश दिया वह तो सौ फ़ी सदी भारतीय था। अफलातून के वार्तालाप में ब्रह्म के विराट रूप की जो कल्पना की गई है—पृथ्वी विराट् का शरीर है, स्वर्ग मस्तक है, सूर्य-चंद्रमा नेत्र हैं, आकाश मन है—वह भी वैदिक विराट् कल्पना से प्रभावित है। इस प्रकार के सैंकड़ों प्रमाण खोजे गए हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में भारत विश्व का धर्म गुरु था तथा उसके आध्यात्मिक संदेशों ने मानव-संस्कृति के विकास में बहुत बड़ा योगदान किया है। किंतु जैसा ही भारत विदेशियों के आक्रमणों का शिकार होकर पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ गया, उसका अन्य देशों से उपर्युक्त प्रकार का संपर्क भी समाप्त हो गया। वस्तुतः विगत 1000-1550 वर्षों की लंबी अवधि इस देश ने सूँही बर्बाद की।

गुप्त कालीन भारत

गुप्त वंश के दो सौ वर्षों के राजकाल में हिंदू संस्कृति अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच गई। साहित्य, धर्म, ललित कलाओं, स्थापत्य कला, वाणिज्य और उपनिवेश के सर्वतोमुखी विकास की दृष्टि से यह समय बेजोड़ महत्व का है। गुप्तकालीन ललित कलाओं से तत्कालीन भौतिक समृद्धि का आभास मिलता है। उस समय के स्थापत्यकला के नमूने हमें अब प्राप्त नहीं हैं। फिर भी हमें उस काल की अनेक प्रस्तर मूर्तियाँ मिलती हैं जिनके सहारे हम गुप्त काल की स्थापत्य कला का मूल्यांकन कर सकते हैं। इन मूर्तियों में हाव-भाव और चेष्टाओं का आकर्षक निरूपण, छवियों का अंकन, अनुभूतियों की सहज अभिव्यक्ति और स्फूर्तिदायक जीवन के आवेश को बड़े कौशल के साथ अंकित किया गया है।

गुप्त काल में उच्चकोटि के साहित्य का सृजन हुआ। इसे संस्कृति का श्रेष्ठ युग कहा जा सकता है। पाणिनि (600 ई. पूर्व) के पश्चात् पांच सौ वर्षों तक संस्कृत का परिमार्जन और परिष्कार होता रहा और तब कहीं वह कालिदास के समय में अपनी साहित्य सुषुमा से अत्यंत मनोरम बन गई। कालिदास के बारे में मतभेद है। किंतु हमारे विचार से वे अग्निमित्र के दरबार को अलंकृत करते थे। गुप्तकाल में जितना संस्कृत साहित्य लिखा गया उसकी बराबरी कोई काल नहीं कर सकता। इस समय महाभारत और प्रमुख पुराणों के नवीन संस्करण तैयार किए गए जिनका उद्देश्य हिंदू सभ्यता को ऊँचा स्थान प्रदान करना था। इस काल में धार्मिक ग्रंथों को फिर से व्यवस्थित, संशोधित और संपादित किया गया। महाभारत हिंदुओं के लिए एक महाकाव्य से भी बढ़कर है। इसमें राष्ट्रीय परंपरा की निधि छिपी हुई है। यह रीति, आचार और धर्म का, राजनीति और कर्तव्यों का विश्वकोश है। भगवद्गीता हिंदू-धर्म का एक विशाल ग्रंथ है, जो इसी की क्रोड़ में निमीलित है। यह कहा जाता है कि बौद्धों की जातक कथाएँ जनता की रुचि को अपनी ओर आकृष्ट कर रही थीं। उनके प्रभाव को नगण्य करने के लिए ब्राह्मणों ने पुराणों का विस्तार किया। इसी प्रकार बुद्ध की भगवान के रूप में पूजा, स्तूपों, विहारों और मठों के निर्माणों को प्रभावहीन करने के लिए रामकृष्ण के लोकमंगलकारी और लोकरंजक चरित्रों को अवतारों के रूप में स्थापित किया गया। कदाचित् इस विचारधारा में कुछ सचाई है, किंतु सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि कृपाणों,

यूनानियों और पार्थियनों के भारत में आ बसने के कारण जो सांस्कृतिक संकट पैदा हुआ था उसमें समन्वय स्थापित करने की दिशा में भी पुराणों ने महत्वपूर्ण कार्य किया। यदि इन विदेशी और सामाजिक वैमनस्य पैदा करने वाले विचारों को हिंदू-संस्कृति में से निकालने और उनका उपयोगी अंश भारतीय संस्कृति में मिलाना अभीष्ट था, तो पुराणों को सरल भाषा में फिर से लिखकर और उनमें लोकप्रिय आदर्शों का समाहार कर उन्हें जनता तक पहुँचाना भी आवश्यक था। गुप्त-कालीन पुनर्लेखन को इस प्रयास में पूर्ण सफलता मिली।

प्राचीन काल में भारत ने विज्ञान के क्षेत्र में जो सफलता पाई थी वह चौथी और पाँचवीं शताब्दियों में उन्नति के एक ऊँचे शिखर पर चढ़ती दिखायी देती है। इस युग के तत्वचिंतकों ने शून्य की उत्पत्ति और अंततोगत्वा दशमलव प्रणाली का सूत्रपात किया। खगोल विद्या में मार्के की उन्नति हुई। आर्य भट्ट का आविर्भाव इसी काल में हुआ। इस युग के उद्भट्ट वैज्ञानिक वराहमिहिर थे जिनकी मेधाशक्ति इतनी प्रबल थी कि भौतिक विज्ञान की ऐसी कोई भी शाखा नहीं जिसकी उन्नति में इनका योगदान परिलक्षित न हुआ हो।

गुप्त युग में धर्म की बेल फल फूल रही थी। उसमें परिवर्तन हो चुका था और वह प्रेरणा का स्रोत बन गया था। इस युग में देवताओं के स्वरूप में वस्तुतः क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। उनमें चिरपरिचित नामों और प्राचीन आकृतियों में स्फूर्तिदायी गुणों का सन्निवेश कर दिया गया था, जिससे जनता के लिए उनकी पूजा में अधिक सजीवता आ गई। विष्णु का सबसे अधिक कायापलट हुआ। त्रिदेवों में वे जगत के पालनकर्ता निश्चित हुए। वे योगविद्या में मग्न कहे जाते थे, जिससे वे अंतराराम गतिहीनता के प्रतीक बन गए थे। किंतु अवतार लेकर भूभार को नष्ट करने का भार उन पर डाला गया, जिससे वे लोकमंगल की प्रेरणा के गत्यात्मक स्रोत बन गए। दशावतारों की कथा शताब्दियों पूर्व प्रचलित थी, किंतु उन अवतारों में से प्रत्येक की पूजा का शुभारंभ मुख्यतः इसी युग में हुआ। इस युग में निर्मित भगवान आदि वाराह का मंदिर अब भी विद्यमान है और भक्तगण बड़ी श्रद्धा से उसमें पूजार्चना करते हैं। भगवान ने दानवीय शक्तियों का विनाश कर के इस पृथ्वी का उद्धार किया था, यह विश्वास आज भी दानवीय शक्तियों के दमन के निमित्त आदि वाराह की उपासना के लिए स्फूर्ति प्रदान करता है। विष्णु के अवतारों में मानवीय चरित्र राम और कृष्णावतारों की पूजा तो आज भी हिंदू धर्म में प्रचलित है।

विष्णु के साथ-साथ जिस दूसरे देव की पूजा के प्रति जन उत्साह जाग्रत हुआ, वह देवाधिदेव शिव हैं। पशुपति के रूप में तथा योगेश्वर के रूप में उनकी उपासना मोहेंजोदाड़ो की सभ्यता में भी प्रचलित थी। भारत के धार्मिक इतिहास में शिवोपासना की अविरल परंपरा मिलती है। किंतु रक्त से लथपथ, गजचर्म ओढ़े शिव उतने लोक-

प्रिय देवता नहीं थे जितने वह कृष्ण की भाँति सुहास मुद्रा में अंकित गंगाधारी शिव रूप में हुए। इसी प्रकार जगज्जननी भवानी का रक्षक और लोकानुग्रहकारक रूप इसी युग में उभरा और लक्ष्मीनारायण और भवानीशिव की उपासना के प्रति जनता में उत्साह बढ़ा। उपर्युक्त आधार पर गुप्तकाल भारतीय संस्कृति का स्वर्णकाल कहलाता है।

अभी तक हमने भारतीय संस्कृति-सभ्यता की अमूल्य निधि ललित कलाओं के विषय में कोई बात नहीं की। किसी देश की आत्मा की बाह्य अभिव्यक्ति उस देश की कला-कृतियों में होती है। इसलिए भारतीय जीवन की इस ऐतिहासिक धरोहर के विषय में एक-दो शब्द कह देना आवश्यक है।

भारतीय कला

किसी समाज की संस्कृति की पहिचान उसके साहित्य और कलाओं के द्वारा होती है । भारत की साहित्यिक परंपरा जितनी महान है, उसकी ललित कलाओं की परंपरा भी उतनी ही समृद्ध और महान है। रामायण और महाभारत जैसे महान ग्रंथ विश्व की किसी भी भाषा में दुर्लभ हैं। कविकुल गुरु कालिदास और महात्मा तुलसीदास जैसे महान कवि शताब्दियों में कभी कहीं प्रादुर्भूत होते हैं।

यह दुर्भाग्य की बात है कि बाह्य बर्बर आक्रमण एवं संकीर्ण धार्मिक विद्वेष के परिणाम स्वरूप भारत की अनेक कला-कृतियाँ नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी हैं, किंतु जो अवशिष्ट है उनके द्वारा इस देश की महान सांस्कृतिक विरासत का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

भारत की कलाकृतियों में अपनी कुछ विशेषताएँ हैं जो दूसरे देशों की कलाओं में परिलक्षित नहीं होतीं। सबसे पहली विशेषता है प्रेम, यौवन, करुणा, शांति, उपरति आदि अमूर्त भावों की अभिव्यक्ति की चेष्टा। बाह्य आकृतिमूलक सौंदर्य के चित्रण में यूनान तथा चीन की कलाएँ काफ़ी समृद्ध हैं, किंतु वहाँ के कलाकारों का ध्यान बाह्य रूप रेखाओं को उभारने पर अधिक रहा है, जबकि भारतीय कलाकारों ने हृदय की अनुभूतियों तथा मनःस्थितियों को उभारने की विशेष चेष्टा की है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि यूनान अथवा चीन की कला जहाँ यथार्थवादी है वहाँ भारतीय कला आदर्शोन्मुख यथार्थवादी है **(देखें चित्र संख्या-1)।**

भारतीय आदर्शवाद का सीधा संबंध उसकी आध्यात्मिक अभिरुचि तथा धार्मिक विश्वासों से रहा है। इसलिए भारतीय कलाओं में जो कुछ श्रेष्ठतम है उसका प्रत्यक्ष या परोक्ष संबंध देवी-देवताओं की प्रतिमाओं का निर्माण, गुफा-चित्रण, विहार अथवा स्तूप निर्माण में देखा जा सकता है। बौद्ध, जैन, वैष्णव और शैव मंदिर और मूर्तियाँ भारतीय कला के श्रेष्ठतम उदाहरण हैं।

धार्मिक भावना से जुड़ी हुई एक विशेषता यह है कि भारतीय कलाकारों ने कला की उपासना के प्रति अपने आपको समर्पित कर दिया था। भारत में प्राचीन कला कृतियाँ तो मिलती हैं, किंतु उनके स्रष्टा कलाकार अनामित हैं। कलाकारों ने

अपने पार्थिव जीवन को अपनी अमर कलाकृतियों के सम्मुख इतना नगण्य माना कि उन्होंने उनके साथ अपने नाम को जोड़ने की कभी कोशिश नहीं की। यही कारण है कि अजंता जैसे प्रसिद्ध चित्रों के निर्माताओं के नाम हमें अविज्ञात हैं।

कला का प्रारंभिक रूप

भारत के प्राग्ऐतिहासिक काल की प्राचीनतम कला के नमूने हमें मोहेंजोदाड़ो और हड़प्पा की खुदाइयों से प्राप्त हुए हैं जिनका समय पांच से लेकर तीन हज़ार ई.पू. ठहराया जाता है। दूसरी खुदाइयों का संबंध अशोक के समय (263-232 ई.पू.) से है। दोनों ही कालों की कला प्रौढ़ है। मोहेंजोदाड़ो का पत्थर का कुकुदनुमा बैल इतना सुंदर है कि मार्शल जैसे विद्वानों को विश्वास ही नहीं हुआ कि प्राग्ऐतिहासिक काल में भी इतनी उत्कृष्ट मूर्ति की रचना संभव हो सकती है। इसी प्रकार रामपुरवा (बिहार) की खुदाइयों से उपलब्ध सिंह तथा वृषभांकित स्तंभशीर्ष कला की दृष्टि से बेजोड़ हैं।

मौर्य काल (320-295 ई.पू.) में भारतीय कला ने और विकास किया। अशोक और मौर्य काल की कला के भग्नावशेष स्तूप, स्तंभ, गुफाएँ तथा राज-प्रासाद के रूप में मिलते हैं। कहा जाता है कि बौद्ध धर्म में दीक्षित होने के पश्चात् अशोक ने अनेक स्तूपों और स्तंभों का निर्माण किया था (देखें चित्र संख्या-2)। बौद्ध जनश्रुति के अनुसार स्तंभों की संख्या 84 हज़ार थी। इनके अवशेष दिल्ली, सारनाथ, मुजफ्फरपुर, चंपारन तथा साँची आदि स्थानों पर मिले हैं। ये स्तंभ चुनार के लाल पत्थर के बने हुए हैं। स्तंभ के दो भाग हैं–मुख्य लाट या मुख्य दंड तथा शीर्ष दोनों भाग एक ही शिला खंड के बने हैं। दोनों पर पालिश है। 2200 वर्ष बीत जाने पर भी ऐसा प्रतीत होता है कि पालिश आज ही की गई है। पालिश की चमक को देख कर ऐसा भ्रम होता है कि मानों ये स्तंभ धातु के बने हुए हैं। पालिश की यह कला दुनिया में आज भी अविज्ञात है। एक शिला खंड के बने हुए एक हज़ार क्विंटल के वजन के ये स्तंभ कलात्मक दृष्टि से बेजोड़ हैं। इनकी ऊँचाई तीस से चालीस फीट तथा मोटाई 3 फीट से 2 फीट (ऊपर से नीचे) तक है। इन भारी भरकम शिला खंडों को किस प्रकार खोदा गया होगा, किस प्रकार निर्दिष्ट स्थान तक ढोया गया होगा तथा काट-छाँट के पश्चात् कैसे खड़ा किया गया होगा, इन सब प्रश्नों के उत्तर में भारत का प्राचीन विज्ञान तथा तकनीकी जानकारी छपी हुई है। स्तंभों के ऊपर वन्य पशु जैसे शेर और हाथी तथा पालतू पशु जैसे बैल और अश्व अंकित हैं। कला-मर्मज्ञों ने इन कलाकृतियों को भारत की कला के सर्वतोत्कृष्ट नमूने कहा है। सर जॉन मार्शल के शब्दों में 'शैली एवं निर्माण-पद्धति की दृष्टि से ये भारत की सुंदरतम मूर्तियाँ हैं'। प्राचीन विश्व के पास ऐसी कोई चीज़ नहीं जो इनसे बढ़कर हो। स्वतंत्र भारत के

राष्ट्रीय ध्वज पर जो चक्र अंकित है तथा उसके अभिलेखों पर जो राजचिह्न अंकित है वह इन्हीं स्तंभों से अपनाया गया है।

अशोक तथा उसके पौत्र ने भिक्षुओं के लिए कुछ गुहा-गृहों का भी निर्माण कराया था। ये गुफाएँ गया के समीप बाराबर नामक स्थान पर मिली हैं। ये बहुत कड़े ग्रैनिया पत्थर से परिश्रम पूर्वक काटी गई हैं तथा इनकी उत्तरी सुंदर घुटाई तथा चिकनाई अवश्य से की गई है कि वे आज भी शीशे की भाँति चमकती हैं। प्राचीन ओप-कला इन गुहा-गृहों में अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गई है। पाटलिपुत्र में अशोक ने भव्य राजप्रासाद बनवाए थे। काष्ठ निर्मित इन प्रासादों के अब केवल अवशेष रह गए हैं।

सात वाहन युग (ई. पू. 200 से 200 ई.) तथा कुशाण राज्यकाल (सं. 50 से 250 ई.) में यद्यपि विदेशी आक्रमणों के परिणाम स्वरूप भारत की राजनीतिक स्थिति अशांत और अस्थिर रही, फिर भी ललित कलाओं का विकास अबाध रूप से चलता रहा। भारतीय और यूनानी कला-पद्धतियों के समन्वय से अनेक स्थानीय शैलियाँ विकसित हुईं जिनमें से कुछ प्रमुख शैलियों का यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है।

भारहुत तथा साँची शैली

मध्य भारत के भारहुत नामक स्थान पर बौद्ध स्तूप के भग्नावशेष मिले हैं। स्तूप के कुछ भग्नावशेष कलकत्ता के राष्ट्रीय संग्रहालय में सुरक्षित हैं। जो कला की दृष्टि से सुंदर हैं। बुद्ध गया के पास साँची नामक स्थान पर बौद्ध मंदिर का भग्नावशेष मिला है। इस मंदिर की दीवालों पर खुदे हुए कमल तथा अन्य प्राणियों की कलाकृतियाँ भारहुत से अधिक कलात्मक हैं। इनमें कला की लोक शैली की प्रधानता है। इनमें विपरीत दिशाओं में मुँह किए हुए ऊँट, हिरन, बैल, मोर, हाथी आदि के जोड़े सजीव रूप में ऐसे अंकित किए गए हैं कि मानो सारा पशु-पक्षी जगत भगवान बुद्ध के दर्शन करने के लिए एकत्र हुआ है। पशु-पक्षियों के अतिरिक्त मानव आकृतियों की खुदाई भी साफ़ है। विभिन्न आसनों तथा भाव-भंगिमाओं को बारीकी से तराशा गया है।

मथुरा शैली

मथुरा कुशाणों की राजधानी थी, व्यापारिक केंद्र भी थी तथा प्राचीन महातीर्थ भी। मथुरा की खुदाइयों में कुशाण और उससे भी प्राचीन काल की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। ये मूर्तियाँ सफ़ेद चित्ती वाले लाल रवादार पत्थर की हैं। कुशाण काल से पहले की मूर्तियों में भारहुत शैली का अनुकरण है, किंतु कुशाण

काल में कला का अधिक परिष्कार हुआ है। यह शायद इसलिए संभव हुआ कि कुशाण युग की भारतीय मूर्तिकला ने विदेशी प्रभावों को आत्मसात किया। मथुरा की खुदाइयों में भगवान बुद्ध की मूर्ति बहुत महत्वपूर्ण है। बुद्ध के चेहरे पर अनुपम शांति और आभा परिलक्षित हो रही है।

गांधार शैली

गांधार शैली और मथुरा शैली में स्थान भेद है, समय भेद नहीं है। अर्थात् दोनों शैलियाँ समसामयिक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कुशाण राजा कनिष्क कला-प्रेमी था और उसी के प्रोत्साहन पर भारत के उत्तर-पश्चिम क्षेत्र में मूर्तिकला का विकास हुआ। गांधार शैली की बौद्ध मूर्तियाँ प्रायः काले स्लेट के पत्थर की या कुछ चूने के मसाले की बनी हैं। इस पद्धति से निर्मित हज़ारों मूर्तियाँ अफगानिस्तान, तक्षशिला और उत्तर पश्चिम सीमाप्रांत के विभिन्न इलाकों में मिली हैं। इस क्षेत्र का प्राचीन नाम गांधार देश था। इसलिए इस शैली को गांधार शैली कहा गया है। यूनानी प्रभाव के परिणाम स्वरूप इस शैली को हिंद-यूनानी शैली भी कहा जा सकता है।

यूनानी शैली के परिणाम स्वरूप मानव आकृतियों के अंकन में यथार्थता तथा सूक्ष्मता अधिक है। यूनानी कला की वास्तविकता तथा भारतीय कला की भावात्मक भाव व्यंजना के मणि-कांचन संयोग ने गांधार शैली की मूर्तियों को मूर्तिकला का अनुपम नमूना बना दिया है। इसी समन्वय के परिणाम स्वरूप ये मूर्तियाँ भारतीय मूर्तिकला में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। आकृतियों का यथार्थवादी अंकन, अंग-प्रत्यंग का अधिक सूक्ष्मता से चित्रण, मोटे वस्त्र का परिधान तथा परिधान की बारीक सिलवटें इन मूर्तियों की विशेषताएँ हैं। यह शैली इतनी लोकप्रिय हुई कि मध्य एशिया, चीन तथा जापान तक में इसका अनुकरण किया गया।

दाक्षिणात्य शैली

इस शैली को अमरावती शैली भी कहा जाता है। ईसा की दूसरी शताब्दी में दक्षिण में एक विशेष शैली का विकास हुआ, जिसे अमरावती नामक स्थान के आधार पर, अमरावती शैली कहा जाता है। यहाँ से प्राप्त बुद्ध की छह-छह फीट की मूर्तियों के चेहरे पर वह सौम्यता नहीं जो मथुरा और भारहुती शैली की मूर्तियों में दिखाई पड़ती है। इनकी मुद्रा गंभीर, उदासीन तथा वैराग्यभाव को अभिव्यक्ति करती हैं। यहाँ कठोर आसनों पर विराजमान तपोमग्न मूर्तियाँ अधिक भावपूर्ण हैं। इनकी दूसरी विशेषता अलंकरण है। दक्षिण के गुंटूर जिले में भी एक स्तूप मिला है। कला की दृष्टि से यहाँ की मूर्तियाँ अमरावती से कम भावपूर्ण हैं।

कला और संस्कृति का स्वर्णयुग

गुप्त युग (सन् 300 से 600 ई.) भारतीय कला और संस्कृति का स्वर्ण युग है। गुप्त युग की कला का सुंदर रूप अजंता के भिन्न भित्तिचित्रों में देखने को मिलता है। इन चित्रों में गुप्तयुगीन कलाकारों की कलासाधना अपने चरमोत्कर्ष को पहुँची हुई प्रतीत होती है। इनकी सुविकसित सौंदर्य भावना परिमार्जित एवं प्रौढ़, कल्पना शक्ति सर्जनात्मक तथा रचना कौशल अत्यंत परिष्कृत हैं। भारतीय कला के क्षेत्र में ये चित्र ऐसी परिपक्वता प्राप्त कर चुके हैं कि इन्हें देखकर 'न भूतो न भविष्यति' की उक्ति चरितार्थ होती है। इन चित्रों में बाह्य रेखांकन और सूक्ष्म प्रतीक विधान दोनों का संतुलन तथा सामंजस्य है। कुशाण कालीन मूर्तियों के पारदर्शक परिधान का लक्ष्य अवयवों के सौंदर्य का साक्षात्कार कराना है, किंतु गुप्तकालीन परिधान उस सौंदर्य पर झीना आवरण डालने वाले हैं। इसी प्रकार इस युग के कलाकारों ने मानव सौंदर्य को अधिक अलंकारों से बोझिल नहीं किया है। कलाकारों की सफलता का रहस्य आध्यात्मिक भावों को उभारने के प्रयत्न में है। इसलिए इन चित्रकारों में भावोद्रेकता अधिक परिलक्षित होती है। आध्यात्मिक ओज, रमणीयता, लालित्य और माधुर्य की अभिव्यक्ति ने इस काल को अद्वितीय बना दिया है। अजंता के भित्ति चित्रों में एक ओर मानवीय अनुभूतियों को मूर्त रूप देने का प्रयत्न किया गया है तो दूसरी ओर लतागुल्मों, पशु-पक्षियों के नैसर्गिक परिप्रेक्ष्य का भी सुंदर अंकन किया गया है। इन चित्रों में मानवीय मनोभाव, जैसे—मैत्री, करुणा, प्रेम, क्रोध, लज्जा, हर्ष, उत्साह, चिंता, घृणा आदि प्रदर्शित किए गए हैं। इन चित्रों में एक ओर प्रशांत तपस्वी, देवोपम राज परिवार अपनी पूरी साजसज्जा के साथ चित्रित हैं तो दूसरी ओर क्रूरकर्मी व्याध, वधिक, साधुवेशधारी धूर्त, वैश्या के चित्र भी अंकित हैं। इसमें पद्म-पाणि अवलोकितेश्वर भगवान चित्रित हैं (देखें चित्र संख्या–3), तो मैथुन रत युग्मों के चित्र भी अंकित हैं। इस प्रकार जीवन को यहाँ समग्रता के साथ अभिचित्रित करने का प्रयत्न किया गया है। अजंता में जातक कथाओं के कुछ घटनात्मक दृश्य चित्र भी सजाए गए हैं। इन चित्रों में से 16 वीं गुफा में म्रियमाण राज कन्या का चित्र चित्रकला की पराकाष्ठा सूचित करता है। इसी प्रकार बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण, मार-विजय, यशोधरा द्वारा राहुल को भिक्षा के रूप में बुद्ध को देने के चित्र बड़े ही हृदयग्राही हैं। गुप्त युग की वास्तुकला भी मूर्ति तथा चित्र कला के समान समुन्नत हैं।

मध्य युगीन कला

मध्ययुगीन भारतीय ललित कलाएँ अपने वैविध्य के लिए प्रसिद्ध हैं। मध्य युग को विभिन्न आधारों पर पूर्व और उत्तर कालों में बाँटा गया है। हम सुदृढ़ मुगल

राज्य की स्थापना तक के काल को पूर्व मध्य काल तथा मुगल साम्राज्य के विघटन और अंग्रेजी राज्य की स्थापना तक के काल को उत्तर मध्य काल कहेंगे। गुप्तवंश का अंतिम शासक सम्राट् हर्षवर्धन है। हर्षवर्धन के पश्चात् केंद्रीकृत राजसत्ता समाप्त हो जाती है और एक नए युग का सूत्रपात होता है जिसे इतिहास में मध्ययुग कहा गया है। ललित कलाओं का विकास इस युग में भी हुआ, किंतु मध्य युग चमत्कार का युग था। साहित्य के क्षेत्र में इस युग में सहजयानी सिद्धों और नाथपंथियों की चमत्कारपूर्ण अटपटी बानी मिलती है। खजुराहो जैसी विश्वविख्यात कलावीर्य पूर्व मध्य युग की देन है। खजुराहो (बुंदेलखंद) में चंदेलवंशीय राजाओं के द्वारा 1000 ई. के लगभग अनेक मंदिरों का निर्माण किया गया जिनमें कंदर्य महादेव का मंदिर कला की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है (देखें चित्र संख्या–4)। कला के क्षेत्र में भी गुप्तकालीन सादगी के स्थान पर चमत्कार की प्रधानता है। मुगल साम्राज्य की स्थापना के पूर्व तक इस युग में कला की विभिन्न शैलियों का विकास होता है। इन शैलियों में द्रविड शैली भारतीय कला में अपना विशिष्ट स्थान बनाती है। दक्षिण भारत उत्तरी भारत की अपेक्षा राजनीतिक अराजकता तथा विदेशी आक्रमणों से कम प्रभावित हुआ। इसलिए ललित कलाओं का यहां अच्छा विकास हुआ। मामल्लपुरम, एलोरा तथा एलिफेंटा इस युग के तीन प्रधान कला केंद्र बनते हैं। वस्तुतः पूर्व मध्य काल में भारत का सांस्कृतिक नेतृत्व और संस्कृति का संरक्षण भी दक्षिणी भारत करता है। भारतीय कला का इतिहास दक्षिण भारत की श्रेष्ठ कलाकृतियों के परिचय के बिना पूर्ण नहीं हो सकता है।

दक्षिण के कलाकारों ने कला के ऐसे अद्भुत चमत्कार संसार के सामने प्रस्तुत किए हैं जिन्हें देखकर कलाप्रेमी रसिकों का हृदय अपने आप मुग्ध हो जाता है। मद्रास नगर से लगभग चालीस मील की दूरी पर समुद्र के किनारे 'मामल्लपुरम्' बसा है, जिसे यात्री लोग 'महाबलिपुरम्' के नाम से जानते हैं। मामल्ल संस्कृत के 'महा-मल्ल' का तमिल् रूप है। ईसा की सातवीं शताब्दी में तमिल्नाडु में राज्य करने वाले पल्लव वंश के राजा ने 'ममल्ल' की उपाधि धारण कर रखी थी। उसी की प्रेरणा से मामल्लपुरम् की कलाकृतियों का निर्माण हुआ। यह दक्षिण भारत की प्राचीन शिल्पकला का श्रेष्ठ उदाहरण है (देखें चित्र संख्या–5)। दक्षिण में उपलब्ध विशेष प्रकार के पत्थरों (granite) को खोदकर शिला मंदिर तथा गुफा गृह बनाए गए हैं। मामल्ल पुरम के मंदिर में 'अर्जुन की तपस्या' तथा 'गंगावतरण' शीर्षक के शिलाशिल्प का सौंदर्य अद्‌वितीय है। इस शिल्प की लंबाई एक सौ फुट तथा ऊँचाई चालीस फुट है। देवता, मनुष्य, पशु आदि का ऐसा सहज चित्रण किया गया है कि कलाकार की अद्‌भुत दक्षता को देखकर नतमस्तक हो जाना पड़ता है। मार्टिन हुर्लिमैन का यह उद्‌गार द्रष्टव्य है—'यदि भारत की अमूल्य कला-

कृतियों में से केवल एक ही को चुनना है तो निःसंदेह कोई भी कलाप्रेमी इसी सुंदर शिल्प को चुनेगा'।

तमिलनाडु में पल्लव, चोल और पांड्यवंश के राजा शासन करते थे। चोल राजाओं ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। ग्यारहवीं शताब्दी में उनका साम्राज्य सारे दक्षिण भारत में फैला हुआ था। उन्होंने कला को विशेष प्रोत्साहन दिया। वास्तुकला तथा शिल्पकला का मानो वह स्वर्ण युग था। तंजौर का बृहदीश्वर मंदिर और गंगैकोंड चोलपुरम् का मंदिर आदि उस युग की कला के निदर्शन हैं। बृहदीश्वर मंदिर का 'गोपुर' 220 फीट ऊँचा है। गोपुर में कई देवीदेवताओं के चित्र अंकित हैं। प्रत्येक छोटी बात का पूर्ण ध्यान रखकर कलाकारों ने सौंदर्य का एक महाकाव्य यहाँ निर्मित किया है।

दक्षिण भारत में कई गगनचुंबी मंदिर हैं जिनके भव्य गोपुरों के दर्शनमात्र से जहाँ भक्त के हृदय में भक्तिरस की अमृतधारा उद्वेलित होती है वहाँ सौंदर्याराधक का मन भी आनंद से उत्फुल्ल हो जाता है। 'कुंभकोणम्, चिदंबरम्, श्रीरंगम्, रामेश्वरम् आदि स्थानों में ऐसे महान मंदिर पाए जाते हैं। कांचीपुरम् दक्षिण भारत का एक तीर्थ स्थान है। यहाँ शिव तथा विष्णु दोनों के भव्य मंदिर पाए जाते हैं। दक्षिण के प्रायः प्रत्येक गाँव और नगर में शैव तथा वैष्णव संप्रदायों के मंदिर होते हैं। मंदिर का ध्वज स्तंभ, गोपुर, गर्भगृह आदि को कला की दृष्टि से एक विशिष्ट आकर्षण कहा जा सकता है। ऐसे मंदिरों में 'मदुरै' (मधुरा नगर) का 'मीनाक्षी मंदिर' विशेष उल्लेखनीय है। तिरुमल नायक (1623-59 ई. सन्) ने 'मदुरै' नगर का विस्तार तथा पुनर्निर्माण किया। उसी ने इस प्राचीन मंदिर का भी विस्तार करके उसे आज का भव्य स्वरूप प्रदान किया। इस मंदिर के कुल नौ गोपुर हैं। बाहरी गोपुर सबसे बड़ा है। उसमें असंख्य प्रतिमाशिल्पों का चित्रण किया गया है। रात के समय जब इस गोपुर में बिजली की हज़ारों बत्तियाँ जलने लगती हैं तब सौंदर्य का एक अपूर्व चित्र दर्शकों के सामने उपस्थित होता है।

तिरुमल नायक ने इस मंदिर के सामने एक विशाल भवन बनवाया, जिसमें खंभों पर नायक वंश के शासकों के चित्र अंकित हैं। यह भवन भी अपनी विशालता तथा कलात्मकता के लिए प्रसिद्ध है। श्रीरंगम् में कावेरी के किनारे भगवान विष्णु का एक विशाल मंदिर है, जो इन सब मंदिरों से बड़ा है। उसके सात प्राकार हैं। यह मंदिर काफ़ी पुराना है। स्वामी रामानुजाचार्य ने स्वयं श्रीरंगम् में रहकर इस मंदिर की व्यवस्था की जिम्मेदारी ली थी। यह भी प्राचीन कला वैभव की दृष्टि से दर्शनीय है।

कर्नाटक के बेलूरु, हलेबीडु आदि स्थानों में जो मंदिर बने हैं वे आकार में छोटे होने पर भी कला की दृष्टि से उत्तम कोटि के हैं। श्रवण बेलगोला, बादामि, बीजापुर आदि स्थानों में मनमोहक कलाकृतियाँ उपलब्ध हैं। आंध्र प्रदेश और केरल में भी भक्त और भावुक हृदय के कलाकारों ने धर्म से प्रेरणा लेकर कला की

आराधना की है। तिरुवनन्तपुरम, गुरुवायूर, शबरि मले, भद्राचल, नागार्जुनकोंडा आदि स्थानों का नामोल्लेख ही यहाँ पर्याप्त है।

एलोरा

निजाम राज्य में औरंगाबाद से सोलह मील पर एक पूरी की पूरी पहाड़ी के वक्षस्थल को चीर कर मंदिरों के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। एलोरा में सनातन धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म के 25-30 मंदिर हैं। राष्ट्रकूटों के महाप्रतापी राजा कृष्ण (760 ई.-775 ई.) के द्वारा इनका निर्माण हुआ था। इन मंदिरों में कैलाश मंदिर सबसे विशाल और भव्य है (देखें चित्र संख्या-6)। 190 × 42 × 62 फीट के द्वारों, झरोखों, सीढ़ियों, स्तंभ-पंक्तियों का यह विशाल मंदिर एक ही पत्थर का बना है। इसमें न तो कोई जोड़ है और न कोई चूना मसाला आदि है। एलोरा का मंदिर मानवीय धैर्य, अध्यवसाय और कला का अनुपम उदाहरण है। जिन किसी अचलेश के पहाड़ से दो मंजिली इमारत तराशा डालना एक ऐसा अद्भुद कार्य है कि दर्शक उसे देखकर दाँतों तले उँगली दबाते हैं। कैलाश मंदिर को काटते समय कारीगरों ने बयालीस पौराणिक दृश्य तराशे हैं। इनमें नृसिंहावतार का दृश्य, शिव-पार्वती-विवाह, रावण के द्वारा कैलाश पर्वत को उठाने का दृश्य विशेष प्रभावपूर्ण हैं। रावण कैलाश को उठा रहा है। भयभीत पार्वती शिव की विशाल भुजाओं का आलंबन ले रही हैं, किंतु अचल शिव अपने चरणों से उसे दबाकर रावण का प्रयत्न विफल कर रहे हैं। इन मंदिरों को संसार की अद्भुत कलाकृतियों में गिना जाता है।

एलिफेंटा

बंबई से छह मील दूर धारापुरी नामक टापू में स्थित पर्वत शिखरों को काट कर मंदिर और मूर्तियाँ बनाई गई हैं। इनका निर्माण काल 8वीं शती है। शैव मंदिर में तांडव निरत नटराज, त्रिमूर्ति परमशिव तथा शिव-उमा विवाह की झाँकियाँ विशेष कलापूर्ण हैं। दक्षिण में नटराज की मूर्तियों का प्रचार कदाचित् इसी के अनुकरण पर हुआ है।

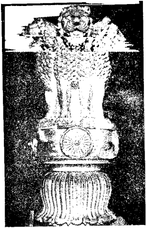
इस प्रकार पूरे मध्यकाल में दक्षिण भारत में स्थापत्य और मूर्तिकला का विकास चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुका था।

उत्तर भारतीय शैली

उत्तर भारत पूर्व मध्यकाल में राजनीतिक उथल-पुथल का केंद्र बना हुआ था, फिर भी उस घटनाबहुल काल में देश में जब शांति और व्यवस्था का समय आता था तब स्थापत्य तथा मूर्तिकला का चमत्कारिक प्रदर्शन करने वाले मंदिर, महल बनते थे। विस्तार भय से यहाँ हम उनका ब्योरा नहीं दे रहे।



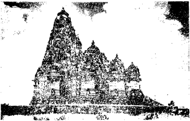
करुणावतारबुद्ध की कांस्य प्रतिमा (नालंदा)
(चित्र संख्या–1)



सारनाथ का सिंह स्कंध
(चित्र संख्या–2)



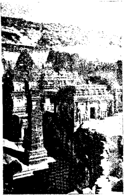
अवलोकितेश्वर (अजंता)
(चित्र संख्या–3)



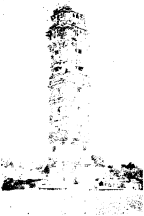
कंदर्य महादेव (खजुराहो)
(चित्र संख्या–4)



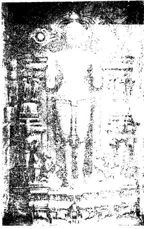
महिषासुरमर्दिनी दुर्गा (मामल्लपुरम्)
(चित्र संख्या–5)



कैलाश (एलोरा गुफा)
(चित्र संख्या–6)



विजय स्तंभ (चित्तौड़)
(चित्र संख्या–7)



सूर्य प्रतिमा (कोणार्क)
(चित्र संख्या-8)

राजपूताना

उत्तर मध्यकाल (मुगल साम्राज्य की स्थापना) के पूर्व राजस्थान को राजपूती रियासतें कला के प्रश्रय की केंद्र रही हैं। (1032-1232) के बीच आबू पर्वत पर दो मंदिर संगमरमर लगाकर बनाए गए। इनमें अलंकरण की प्रधानता है। मंदिरों का चप्पा-चप्पा विभिन्न आकार-प्रकार की जालियों, बेल-बूटों से सज्जित हैं। इन मंदिरों की नक्काशी को देखकर दर्शक मंत्रमुग्ध हो जाते है। संगमरमर ऐसी बारीकी से तराशा गया है, मानो किसी कुशल स्वर्णकार ने रेती से रेत-रेत कर आभूषण बनाए हों। छतों की सुंदरता का तो कहना ही क्या ? इनमें बनी हुई नृत्य की भाव-भंगियों वाली नर्तकियों और संगीत-मंडलियों की झाँकियों के अतिरिक्त मंदिर के बीच में एक झालर लटकी हुई है जिसकी एक-एक पत्ती में कटाव है। यहाँ पहुँचने पर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो ताज की पच्चीकारी भी इसके सामने फीकी है। स्तंभों की परंपरा में चित्तौड़ का विजय स्तंभ बहुत कलात्मक है। इसका निर्माण मेवाड़ के राना कुंभा ने 15वीं शताब्दी में किया था (देखें चित्र संख्या–7)।

ओड़िसा

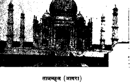
ओड़िसा के भुवनेश्वर में कोणार्क का सूर्य मंदिर प्रसिद्ध है। कोणार्क का मंदिर एक रथ के आकार का है, यह विराट पहियों पर स्थित है। रथ को संगमरमर के अश्व खींच रहे हैं। इस मंदिर में भी अलंकरण की प्रधानता है। नागकन्याओं की मूर्तियाँ विशेष आकर्षक हैं। शृंगार प्रधान चित्र भी इस मंदिर में अंकित हैं, क्योंकि ओड़िसा तंत्र-साधना का प्रधान केंद्र रहा है। तंत्रों में मैथुनिरत मूर्तियों को 'महासुख' का प्रतीक माना गया है। मुख्य मंदिर में स्थापित सूर्य प्रतिमा विशेष कलात्मक है (देखें चित्र संख्या–8)। यह मंदिर नरसिंह देव ने (1238-64) में बनवाया था। उत्तरी भारत में अन्य अनेक स्थानों पर स्थापत्य और मूर्तिकला का विकास हुआ। विस्तार भय से यहाँ सबका विवरण प्रस्तुत करना संभव नहीं है। पत्थर की मूर्तियों के साथ-साथ काँस्य मूर्तियाँ भी गढ़ी गईं जिनमें नटराज शिव की प्रतिमा बहुत भव्य है। इसी प्रकार वस्तु कला का भी मध्य युग में अच्छा विकास हुआ और भारत के बने हुए मलमल तथा जरी के वस्त्र विदेशों में अधिक लोकप्रिय हुए।

मुगल कालीन कला

महान गुप्त साम्राज्य के समान मुगल साम्राज्य भी भारतीय कला और साहित्य का स्वर्ण युग है। छह पीढ़ियों तक मुगल बादशाहों ने देश की बाह्य आक्रमणों से रक्षा की तथा आंतरिक शांति और व्यवस्था बनाए रखने की भरसक चेष्टा की। शान-शौकत में मुगल दरबारों की समता विश्व के किसी भी राजवंश ने नहीं

की जा सकती। मुगल बादशाहों में अकबर महान और शाहजहाँ विशेष रूप से कलाओं को प्रश्रय देने वाले तथा कलाप्रेमी थे। इस काल की भवन-निर्माण कला की सबसे बड़ी विशेषता भारतीय और विदेशी परंपराओं का समन्वय है। इस्लाम धर्म में किसी भी प्रकार की मूर्तियों का निर्माण—पशु-पक्षी, फूल-पत्तियों तक का अंकन-वर्जित है। अत: भारतीय कलाओं में जहाँ फूल-पौधे, पशु-पक्षी तथा मानव आकृतियों का अलंकारपूर्ण चित्रण प्रधान है वहाँ इस्लाम से प्रेरित मुगलकालीन कला में सूक्ष्म (abstract) आकारों की प्रधानता है। किंतु गुंबजों तथा प्रांगणों के निर्माण में मुगल स्थापत्य कला ने परंपरागत हिंदू कला का अनुकरण किया है। औरंगजेब के समय में इसीलिए बहुत से मंदिर बड़ी सरलता से मस्जिदों में रूपांतरित कर दिए गए। अलंकरण, विशालता और भव्यता मुगल कालीन कला की विशेषताएँ हैं।

आगरा का ताजमहल, दिल्ली और आगरा के लाल किले, हुमायूँ और अकबर के मकबरे, फतहपुर सीकरी का बुलंद दरवाजा तथा सूफी संत सलीम चिश्ती की दरगाह, जामा मस्जिद तथा मोती मस्जिद, राज दरबार (दीवाने आम, दीवाने खास) तथा आगरा और दिल्ली के किलों में सुरक्षित विभिन्न आलीशान महल मुगल स्थापत्य कला के सुंदर नमूने हैं। इन इमारतों से मुगल सम्राटों के चरित्र की उदारता तथा महत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है।



ताजमहल (आगरा)

मुगलकालीन इमारतों में ताजमहल विशेष नयनाभिराम है जो विश्व की आँखों को मानवीय प्रणय की स्वप्निल झाँकी देता है। संगमरमर की श्वेत आभा से मंडित इस ताज पर जब शरतकालीन पूर्णिमा के चंद्र की स्निग्ध शीतल चाँदनी पड़ती

है तो प्रति वर्ष ताज महल पर एक मेला लगता है जिसमें देशी और विदेशी सभी शामिल होते हैं। विश्व में ताजमहल की सानी की कोई भी इमारत आज तक नहीं बन सकी।

आधुनिक काल

आधुनिक काल समस्त भारतीय कलाओं के पुनरुत्थान का काल है, किंतु इस पुनरुत्थान में प्राचीन की ज्यों की त्यों आवृत्ति न होकर प्राचीन और अर्वाचीन का सुंदर सामंजस्य और समन्वय है। आधुनिक कला प्राचीन कला परंपराओं से उतनी ही पृथक है जितना आधुनिक जीवन परंपरागत जीवन से भिन्न है। हम इस प्राचीन तथा अर्वाचीन के समन्वय की एक सीमा अपने लिए निर्धारित कर सकते हैं, किंतु न तो आधुनिक जीवन की आवश्यकताओं की उपेक्षा करके अतीत की ओर लौट सकते हैं और न अपनी परंपराओं का परित्याग करके यूरोप-अमेरिका की पद्धतियों का अनुकरण ही कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, नगर निर्माण कला का प्रारंभिक विकास हमें मोहेंजोदाड़ो के भग्नावशेषों में प्राप्त होता है। इस प्राग् ऐतिहासिक काल से लेकर पाटलिपुत्र, इंद्रप्रस्थ (दिल्ली) आदि विभिन्न नगरों का निर्माण तत्कालीन जीवन की आवश्यकताओं के अनुरूप ठोस वैज्ञानिक सिद्धांतों पर हुआ था, किंतु आधुनिक युग में जब चंडीगढ़ जैसे एक नए नगर की स्थापना की आवश्यकता पड़ी तो सुविख्यात फ्रांस के नगर-निर्माण शिल्पियों की विशेषज्ञता का सहारा लेना पड़ा। इस प्रकार आधुनिक कला का विकास प्राचीन और आधुनिक कलाओं के सामंजस्य से हो रहा है। यह सामंजस्य भवन-निर्माण कला में राष्ट्रपति भवन, संसद भवन तथा सचिवालयों तथा बंगलौर के संसदसौध जैसी भव्य इमारतों में तथा कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, दिल्ली आदि महानगरों के विकास तथा इन नगरों में निर्मित आधुनिक भव्य भवनों के निर्माण में देखा जा सकता है। जो बात स्थापत्य कला के विषय में संगत है वही कला और संस्कृति के प्रत्येक संदर्भ में भी संगत है। अर्थात् आधुनिक भारतीय संस्कृति का विकास आधुनिक जीवन के संदर्भ में देखा जाना चाहिए और वही प्रगति का एकमात्र मापदंड है। अतीत चाहे जितना गौरवपूर्ण और महान रहा हो, कोई भी विकासशील जाति अपनी जीवन-धारा को, अतीत को और नहीं मोड़ सकती, साथ ही अतीत से सर्वथा कट कर न तो अपने वर्तमान को सुरक्षित रख सकती है और न सुंदर भविष्य का निर्माण कर सकती है। सामंजस्य और समन्वय भारतीय जीवन के परंपरागत आदर्श हैं और उन्हीं आदर्शों के साथ हमारा देश आगे बढ़ रहा है।

मध्यकालीन भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति के इतिहास में मध्ययुग की अवधि एक हज़ार वर्ष से अधिक की मानी जा सकती है। संस्कृति का इतिहास देश के राजनीतिक इतिहास से जुड़ा हुआ है। सम्राट् हर्षवर्धन (606-648 ई०) भारत का वह अंतिम सम्राट् था जिसने देश को एक सूत्र में बाँधे रखने का प्रयत्न किया। हर्षवर्धन के पश्चात् भारतवर्ष पर विदेशी आक्रमणों का ताँता लगता है, साथ ही केंद्र के कमजोर होने पर देशी सामंत राज्य-विस्तार की लिप्सा से परस्पर जूझने लगते हैं और राजनीतिक अराजकता के परिणाम स्वरूप सामाजिक विघटन और सांस्कृतिक पराभव की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। बीच में मुगलवंश का सुदृढ़ शासन भारतीय जीवन को स्थिरता प्रदान करता है। भारतीय संस्कृति पुनर्निर्माण का प्रयास करती है, किंतु मध्ययुग में ऐसा कुछ नहीं है जिस पर भारत गर्व कर सके अथवा जिससे विदेशों में भारतीय संस्कृति अपना प्रभाव डाल सके। जिस संस्कृति ने पूर्व और पश्चिम को आध्यात्मिक संदेश दिया था, जिसने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अद्भुत समृद्धि की थी, वह संस्कृति मध्यकाल में अपने आप में सिमिट कर आत्मरक्षा के प्रयासों में संलग्न रही।

गुप्त-युग भारतीय संस्कृति का स्वर्णयुग था। इस युग में भारतीय संस्कृति परमोच्च शिखर तक पहुँच गई थी। वैदिक धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म की प्रचुर सामग्री का निर्माण संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में हो चुका था। दर्शन, ज्योतिष और गणित जैसे विज्ञान के क्षेत्रों में गुप्त-युग ने महत्वपूर्ण सफलताएँ प्राप्त की थीं। बृहत्तर भारत में भारत का सांस्कृतिक प्रभाव इसी युग में बढ़ा। किंतु राजनीतिक अव्यवस्था के परिणाम स्वरूप सांस्कृतिक विकास का यह क्रम अधिक दिनों तक नहीं चल पाया। बौद्ध धर्म नाना प्रकार के 'यानों' में विभक्त होकर विलीन हो गया। जैन धर्म हिंदू धर्म का अंग बन कर दक्षिण भारत में विशेष रूप से फूला-फला, किंतु उत्तरी भारत में राजनीतिक उथल-पुथल के परिणाम स्वरूप केवल जीवित रहा; अपना विकास नहीं कर सका। जन-रुचि धीरे-धीरे पौराणिक उपासना की ओर बढ़ने लगी और पौराणिक विश्वासों के सहारे भारतीय जनता ने मध्ययुग की इस लंबी अवधि को पार किया।

सांस्कृतिक-सामाजिक परिवर्तनों के आधार पर हम मध्ययुग को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं :

(1) मुस्लिम आक्रमणों के पूर्व का युग (649-1010)
(2) मुसलमानों के विभिन्न राजवंशों का उथल-पुथल पूर्ण युग (1018-1525)
(3) मुगल काल (1525-1707)

(1) मुस्लिम आक्रमणों के पूर्व का युग (648-1018)

हर्ष के पश्चात् (606-647 ई०) बहुत दिनों तक केंद्र में कोई स्थायी शासन स्थापित न हो सका। हर्ष की मृत्यु के पश्चात् कोई योग्य शासक उसकी गद्दी पर न बैठ सका। दक्षिणी भारत पहले से ही स्वतंत्र था। उत्तर भारत में छोटे-छोटे राज्य स्थापित होने लगे। मिहिरकुल के नेतृत्व में बर्बर हूणों के आक्रमणों से उत्तरी भारत थर्रा उठा। कन्नौज के राजा यशोवर्मन ने उत्तरी भारत से हूणों को खदेड़ा अवश्य, किंतु वह कोई स्थायी विजय प्राप्त नहीं कर सका। राष्ट्रकूटों के सम्मुख उसको पराजित होना पड़ा। आठवीं शताब्दी में सिंध के रेगिस्तानी प्रांत में मुसलमानों का पहला आधिपत्य स्थापित हुआ। सन् 712 में मुहम्मदबिन कासिम के नेतृत्व में पश्चिमी भारत पर हमला हुआ, किंतु शेष भारत पर इसका कोई व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा। सातवीं शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक भारत का राजनीतिक इतिहास हिंदू सामंतों का इतिहास है। इस लंबी अवधि में भारतीय नरेश बाहरी खतरे को एक प्रकार से भूल चुके थे और निरंतर अपने प्रभाव को बढ़ा रहे थे। सन् 1018 में सुलतान महमूद गजनवी का राज्य पूरे पंजाब में स्थापित हुआ। महमूद धन का लालची था। उसने मंदिरों का विध्वंस करके मंदिरों की अपार संपत्ति लूटी; मथुरा और उज्जैन जैसे कई नगरों को लूटा और उजाड़ा। बारहवीं शताब्दी के मध्य में मुहम्मद गोरी ने गजनी के शासन को छिन्न-भिन्न करके भारत पर अनेक आक्रमण किए। पृथ्वीराज चौहान से पराजित होकर वह भागा भी, किंतु दूसरी बार दुगुने उत्साह से उसने आक्रमण किया और पृथ्वीराज को समाप्त किया। उसके एक वर्ष पश्चात् कन्नौज के राजा जयचंद को पराजित करके उसने भारत में मुस्लिम साम्राज्य की गहरी नींव डाली। वह कुतुबुद्दीन ऐबक को दिल्ली के तख्त पर बैठा कर नगरों को लूटता हुआ वापस चला गया। इस प्रकार हर्ष के साम्राज्य के विघटन से लेकर पृथ्वीराज चौहान के पराभव तक का लंबा इतिहास राजपूत शासन का युग है। यद्यपि इस युग में भोज जैसे यशस्वी राजा भी हुए, किंतु कुल मिला कर यह अवधि अशांति का युग है। भारत का बृहत्तर विश्व से जो संपर्क था वह इस युग में लुप्तप्राय हो गया है, समुद्री मार्गों पर खलीफाओं का आधिपत्य होने के परिणाम स्वरूप भारत के व्यापार को भी ठेस लगी है। गुप्त-युग में जो राष्ट्रीय चेतना और जातीय स्वाभिमान जाग्रत हुआ था वह विलुप्त होने लगा। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भी इस युग में कोई प्रगति नहीं हुई। शंकर के

अद्‌वैतवाद ने संसार को मिथ्या मानकर जीवन से पलायन की प्रेरणा दी। समाज में तांत्रिक अनुष्ठान ज़ोर पकड़ने लगे और साधना के नाम पर 'गुह्य समाज' संगठित होने लगे जिनकी साधना में मद्य, मत्स्य और मैथुन का सेवन होने लगा। कापालिक, अघोरपंथी जैसे मत सामान्य जनता को आतंकित करने लगे। समाज में वैश्यागमन की प्रवृत्ति ज़ोर पकड़ने लगी। सामाजिक जड़ता एक दीर्घकालीन तंद्रा के समान समूचे जनमानस पर छा गई।

(2) मुसलमानों के विभिन्न राजवंशों का उथल-पुथल पूर्ण युग (1018-1525)

दसवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ तक मुसलमानी शासन की कहानी उत्पात और धार्मिक अत्याचारों की कहानी है। इसमें संदेह नहीं कि बीच-बीच में न्यायी मुस्लिम राजा भी दिल्ली की गद्‌दी पर बैठे, किंतु कुल मिलाकर इस अवधि में हिंदू समाज को अनेक प्रकार के अत्याचार और अन्याय सहन करने पड़े। इस कहानी का एक भाग राज सत्ताओं का त्वरित परिवर्तन भी है। सन् 1210 से लेकर 1235 तक एक के पश्चात् दूसरा गुलाम दिल्ली के तख़्त पर बैठा। गुलाम वंश के पश्चात् खिलजी वंश सत्ता में आया। खिलजियों ने साम्राज्य का विस्तार किया। एक मेवाड़ के राणावंश को छोड़कर संपूर्ण उत्तर भारत पर खिलजियों का राज्य हो गया। बाद में सेनापति मलिक काफूर के नेतृत्व में दक्षिण के राज्यों पर विजय प्राप्त करके खिलजी साम्राज्य सुदूर दक्षिण तक पहुँच गया। किंतु खिलजी वंश का अंत भी वैसा ही हुआ जैसा गुलाम वंश का हुआ था। उसे तुगलक वंश के सामने अपनी पराजय स्वीकार करनी पड़ी।

भारत जैसे विशाल देश को जीत लेना एक बात है, किंतु उस पर स्थायी रूप से शासन कायम करना दूसरी बात है। इन सल्तनतों के संस्थापक शूरवीर अवश्य थे, किंतु उनके उत्तराधिकारी प्राय: विलासी और निकम्मे निकलते थे। कभी-कभी गद्‌दी के उत्तराधिकार के प्रश्न पर भी गृहयुद्ध छिड़ जाता था। इन परिस्थितियों का लाभ उठाकर स्थानीय शक्तियाँ अपनी शक्ति का पुर्नगठित करके स्वाधीनता की घोषणा कर देती थीं। गुलाम वंश और खिलजी वंश के अंत में यही हुआ और तुगलक वंश के अंत में भी यही हुआ। दक्षिण भारत ने कुछ दिनों की पराधीनता के पश्चात् अपनी शक्ति को पुर्नगठित करके स्वाधीनता की घोषणा कर दी। इसी प्रकार गुजरात, राजस्थान के राजपूतों ने भी अपनी शक्ति संगठित करके गुलामी का जुआ उतार फेंका। सन् 1398 में जब तैमूर का विनाशकारी तूफ़ानी आक्रमण भारत पर हुआ तब उसका प्रतिरोध करने वाली कोई केंद्रीय शक्ति देश में नहीं थी। तैमूर ने दिल्ली पर मनमाने अत्याचार किए, खज़ाने लूटे और दिल्ली के क़त्लेआम का आदेश तक दे डाला। आगे चल कर सैय्यद और लोदी सुलतानों ने भी दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया, किंतु दोनों में से कोई स्थायी शासन प्रदान न कर सका। सन् 1525 में जब मुगलवंशीय बाबर का आक्रमण हुआ तो उसका

कड़ा प्रतिरोध दिल्ली नहीं कर पाई। तुगलकों के शासन काल में तुर्कों और अफगानों की शक्ति जो जो घुन लग गया था वह शक्ति कभी फिर न उभर सकी।

मुस्लिम विजय के इस प्रथम चरण में हिंदू धर्म को अग्नि-परीक्षा जारी रही और परीक्षा से उसने विस्मयकारी प्रतिरोधात्मक शक्ति का परिचय दिया। हिंदुओं को अनेक प्रकार के प्रलोभन दिए जाते थे। जो इस्लाम धर्म में परिवर्तन स्वीकार कर लेते थे उनके लिए सब कुछ सुलभ था। राज्य में ऐसा कोई पद अथवा सम्मान नहीं था जो उनको न मिल सके। उदाहरण के लिए, खुसरो काठियावाड़ का एक जाति बहिष्कृत गुलाम था जो धर्म-परिवर्तन के परिणाम स्वरूप आगे बढ़ते-बढ़ते दिल्ली के राज-सिंहासन तक पर आरूढ़ हो सका। किंतु यह हिंदू धर्म की प्रतिरोधात्मक शक्ति का ही परिणाम था कि मुसलमानों के 600 वर्ष के शासन काल के बावजूद उत्तर प्रदेश में मुसलमानों की जनसंख्या 16प्रतिशत से अधिक न हो सकी। किंतु इस प्रतिरोधात्मक प्रक्रिया का एक दुष्परिणाम यह हुआ कि विपत्ति के समय कछुआ जैसे अपने अंगों को अपने आप में ही समेट लेता है वैसे ही हिंदू-समाज में वह लचकीलापन एवं नवीनता को आत्मसात करने की भावना-शक्ति भी सिमट गई जो इस धर्म का प्रमुख लक्षण था। एक-एक वर्ण में अनेक जातियाँ और जातियों में भी उपजातियाँ तथा उपजातियों में भी क्षेत्रीय सांस्कृतिक इकाइयाँ इतनी सुदृढ़ बन गई कि परस्पर रोटी-बेटी (सामाजिक-सांस्कृतिक) संबंध तक छिन्न हो गया। सांस्कृतिक अभिकरण—गुरुकुल तथा नालंदा जैसे विश्वविद्यालय के विनष्ट होने के परिणाम स्वरूप लोग धर्म और संस्कृति के वास्तविक स्वरूप को भूल गए एवं खानपान के बाह्य कलेवर को ही धर्म का पालन समझ कर उसी से चिपक गए।

भारत में एक धर्म के रूप में इस्लाम के आगमन से यहाँ के समाज पर अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा। इसने समाज को चीर कर उसके दो टुकड़े कर दिए। तेरहवीं शताब्दी के पूर्व समाज समतल धरातलों में बँटा हुआ था। इसके सामाजिक विभाजन में बौद्ध और जैन धर्म कोई व्यतिक्रम पैदा नहीं कर पाए थे। उनमें ऐसे विसंवादी तत्व नहीं थे जो सामाजिक संरचना में कोई दो टूक विभाजन पैदा कर सकें। शताब्दियों तक साथ-साथ रहने के पश्चात् भी दोनों समाज एक बृहद् सामाजिक समन्वय के ताने-बाने के रूप में बुने नहीं जा सके। मुस्लिम आक्रमणों का एक परिणाम यह अवश्य हुआ कि हिंदू-समाज में प्रतिरोधात्मक प्रवृत्ति अवश्य जाग्रत हुई। राजनीतिक रूप से इस का प्रतिफलन राजस्थान की राजपूत शक्तियों में हुआ तथा सांस्कृतिक रूप से विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलनों में। कबीर और नानक जैसे संतों ने हिंदू और तुर्क दोनों की धर्मांधता को फटकार कर परस्पर सत्ता के आधार पर दोनों को समीप लाने की कोशिश की। वैष्णव आंदोलन के जनव्यापक प्रभाव ने हिंदू जनता का नैराश्य मिटाने का प्रयत्न किया। इस परिपाटी ने जयदेव से लेकर मीरा तक की पीयूषवर्षी वाणी से जन सामान्य में आत्म-रक्षा की भावना को बल प्रदान किया। रामानंद, नामदेव, ज्ञानेश्वर और लिंगायतों

के आंदोलनों ने हिंदू धर्म में नई स्फूर्ति उत्पन्न की। पूर्वांचल में चैतन्य की प्रेमातिरेक से भरी हुई वाणियों ने जनता में जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न की। वैष्णव आंदोलनों के प्रसार ने वैदिक कर्मकांड, उपनिषद् का दुरूह अद्‌वैत, योगियों और सिद्‌धों की चमत्कारपूर्ण साथ ही पाखंडपूर्ण साधना पद्‌धतियों की भूल-भुलइयों से निकालकर सामान्य जन को ईश्वरभक्ति की राज डगर पर ला खड़ा किया। वैष्णव भक्तों ने जिस भक्ति-भावना पर बल दिया था वह कोई नई चीज नहीं थी, किंतु उन्होंने जनमानस को छूनेवाली जनभाषा में भगवत् शरणागति का जो सरल उपदेश दिया तथा अपने व्यक्तिगत जीवन में उसकी महत्ता को प्रत्यक्ष करके जो प्रभाव डाला वह अद्‌भुत और अनन्य था। वैष्णव संतों ने महाभारत और श्रीमद्‌भागवत के कृष्ण और वाल्मीकि रामायण के राम के चरित्रों को जन-भाषाओं के माध्यम से जनता तक पहुँचाने का प्रयास किया। इस काल में निर्मित संस्कृत और लोकभाषाओं के साहित्य का यदि अवलोकन किया जाए तो यह स्पष्ट होगा कि जहाँ एक ओर संस्कृत अपने भारी भरकम साहित्य के बोझ से दिन-पर-दिन लोकजीवन से दूर होती जा रही थी, उसमें टीका और भाष्यों की फसल फलती-फूलती जा रही थी, साथ ही अलंकारिकता और कृत्रिमता के कारण पंडितों की दिमागी कसरत की व्यायाम-शाला बनती जा रही थी वहाँ लोक साहित्य सरलता, सहजता, अकृत्रिमता के परिणाम-स्वरूप जनता के अधिकाधिक समीप आता जा रहा था। अधिकांश भारतीय भाषाओं का विकास इसी काल में हुआ। इसका अभिप्राय यह नहीं कि जनता के हृदय में संस्कृत के प्रति कोई अवमानता का भाव था। संस्कृत के प्रति उनके मन में अक्षुण्ण अनुराग था, किंतु जनभाषाएँ जनमानस की प्रतिध्वनियाँ बनती जा रही थीं। संस्कृत भाषा की सांस्कृतिक थाती अब कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक भारतीय जनभाषाओं को विरासत में मिलती जा रही थी।

(3) मुगल काल (1525-1707)

सन् 1525 में तैमूर वंशीय बाबर ने भारत पर आक्रमण किया। अप्रैल 1526 में दिल्ली पर उसने अधिकार किया। उसका शेष जीवन हिंदू शक्तियों से संघर्ष करने में बीता। 1530 में बाबर की मृत्यु के पश्चात् हुमायूँ दिल्ली के तख़्त पर बैठा। उसका अधिकांश जीवन युद्‌धों और निर्वासन में बीता। शेर ख़ाँ की शक्ति के सामने उसे पराजित होकर रेगिस्तान में भागना पड़ा, जहाँ अमरकोट में अकबर का जन्म हुआ। सन् 1555 में उसने अपनी शक्ति को संगठित करके दिल्ली के तख़्त को पुन: प्राप्त किया, किंतु वह राज्य का सुख न भोग सका। सन् 1556 में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र जलालुद्‌दीन अकबर राज सिंहासन पर बैठा। अकबर ने हिंदुओं के साथ सद्‌भाव और मेलमिलाप की नीति को अपनाया। इसका परिणाम यह हुआ कि मुगल सल्तनत की नींव दिनोंदिन गहरी होती चली गई। जहाँगीर और शाहजहाँ ने भी अकबर की नीति का अनुसरण किया, किंतु औरंगजेब ने

उस नीति का परित्याग करके कट्टर नीति अपनाई और परिणाम यह हुआ कि मुगल सल्तनत अपने ही बोझ से चरमरा कर ढह गई। दक्षिण में मरहठा शक्ति ने शिवाजी के नेतृत्व में औरंगज़ेब का विरोध किया। पंजाब में सिख संप्रदाय ने उसका डट कर मुकाबिला किया तथा राजपूतों के आक्रोश का भी उसे सामना करना पड़ा। सन् 1707 में दक्षिण में उसकी मृत्यु हुई। कहने के लिए मुगल साम्राज्य 1857 तक चलता रहा, किंतु उसमें वह दृढ़ता नहीं रह गई थी कि इतने विशाल देश को एकदम राज्य के रूप में बाँधे रहे। एक-एक करके पूरब, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण के प्रांत स्वतंत्र होते गए और पाश्चात्य समुद्री ताक़तों ने जब भारत में प्रवेश किया तब उनका प्रतिरोध करने की शक्ति किसी भी राज्य में नहीं थी।

मुगल शासन काल में भारतीय सभ्यता और संस्कृति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। मुगलकालीन सभ्यता मध्यकाल की समसामयिक विश्व की सभ्यताओं में सबसे बढ़चढ़ कर थी। मुगल दरबार के वैभव और विलास का मुकाबिला उस समय का कोई दरबार नहीं कर सकता था। उद्यान लगवाना, चित्रकारी, संगीत और भवन-निर्माण के प्रति मुगल बादशाहों में महान उत्साह था। वे सौंदर्य के उपासक थे। वे प्रत्येक क्षेत्र के गुनियों और कलाकारों को प्रश्रय देते थे। विद्वानों के प्रति अकबर उदार था, वह प्रत्येक धर्म और धार्मिक व्यक्तियों का सम्मान करता था। इस उदार नीति का परिणाम यह हुआ कि एशिया भर के विद्वान् और कलावंत मुगल दरबार की ओर आकृष्ट होने लगे। अकबर के समान ही उसके दरबारी राजपुरुष कलामर्मज्ञ और गुण-ग्राहक थे। अब्दुर्रहीम खानखाना स्वयं उत्कृष्ट विद्वान् था। उसकी सांस्कृतिक चेतना इतनी उदार और विशाल थी कि उसके रचे हुए काव्य से यह अनुमान लगा सकना कठिन होगा कि यह साहित्य किसी अहिंदू कवि का लिखा हुआ है। हिंदी को अपने इस कवि पर अभिमान है। अबुल फजल और फैजी दोनों भाई थे। वे सुप्रसिद्ध साहित्यकार थे। अबुल फजल को वर्णनात्मक और राजनीतिक साहित्य में सफलता मिली, जबकि फैजी ने संस्कृत साहित्य के महत्वपूर्ण ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद किया।

इस युग के महानतम साहित्यकार और सर्वकाल में भारत के एक महान कवि गोस्वामी तुलसीदास हुए। टोडरमल, मानसिंह और अब्दुर्रहमान उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। किंतु तुलसी एक संत थे, वे दरबारों से कोसों दूर रहे। तुलसी के अतिरिक्त सूरदास भी इस युग की महान विभूति हैं।

भारत के हिंदू-मानस पर और प्रवासी भारतीयों के मानस पर सूर और तुलसी की वाणी की अमिट छाप है।

साहित्य के समान ही संगीत का भी इस काल में पुनरुद्धार हुआ जिसमें तानसेन का नाम प्रमुख उन्नायकों में है। इसी प्रकार स्थापत्य और चित्रकलाओं में भी राजकीय प्रश्रय से महान उन्नति हुई। आगरा का ताज मुगल स्थापत्य कला की जीवंत

तस्वीर है। मुगल सम्राटों को पुस्तकों का बड़ा शौक था। उनके पास विशाल पुस्तक भंडार थे। देशी रियासतों के अपने पुस्तक भंडार इनसे अलग थे। अकबर के दरबार में संस्कृत के पंडितों का बड़ा मान था। पंडितराज जगन्नाथ अकबर के दरबार की शोभा थे। गंगालहरी के नैसर्गिक भाव-प्रभाव और कोमल-कांत पदावली में हमें संस्कृत भाषा की साहित्यिक छटा के दर्शन होते हैं। देशी भाषाओं की भक्तिवादी कविताओं में उनके साहित्यिक उत्कर्षों का नया कीर्तिमान स्थापित होता है। सूर और तुलसी की रचनाओं के साहित्यिक उत्कर्षों का अतिक्रमण आज तक नहीं रुका है।

संपूर्ण भारत के कवियों में सर्वोच्च स्थान के अधिकारी तुलसीदास हैं, जिन्हें भारतीय संस्कृति का प्रमुख गायक माना जा सकता है। उनका लोक-विख्यात रामचरित मानस केवल एक अनुपम महाकाव्य ही नहीं, (जिसमें मर्यादा पुरुषोत्तम राम के महान चरित्र का वर्णन है।) अपितु वह पर्वतराज हिमालय से ले कर विंध्याचल और पंजाब से लेकर बंगाल तक की समस्त हिंदीभाषी जनता का प्रमुख धार्मिक ग्रंथ है। वह इस विशाल जन समूह की आचार संहिता है और आध्यात्मिक उन्नति का मूलाधार है। रामचरित मानस की सूक्तियाँ सामान्य हिंदू जनता में प्रमाण मानी जाती हैं। तुलसी ने महर्षि वाल्मीकि की लोक ग्राह्य रामकथा को जनता की वाणी में प्रस्तुत किया, जो थोड़े ही समय में उत्तर भारत के लोकजीवन का प्रमुख अंग बन गई। रामायण का महत्व अन्य भारतीय भाषाओं में भी देखने को मिलता है।

तमिलनाडु में कंब रामायण बाइबिल के समान लोकप्रिय बनी। बंगाल में कृत्तिवास रामायण और केरल में एष़ुत्तच्छन की रामायण भी जनसामान्य के हृदय पर गहरा प्रभाव डालती है। तुलसीदास के पहले रामानंद, कबीर और नानक जिस धार्मिक सांस्कृतिक आंदोलन का नेतृत्व कर चुके थे उसकी सफलता हमें राम के लोकरंजक रूप की प्रतिष्ठा में तुलसी के 'मानस' में मिलती है। गोस्वामी तुलसीदास ने आध्यात्मिक सर्वोच्च सत्य को एक स्थायी और लोक मंगलकारी मानव स्वरूप प्रदान किया जिससे हिंदू-संस्कृति विभिन्न पंथों और मतमतांतर के मायाजाल में भटकने से बच गई। इसी युग में बंगाल की शस्यश्यामला भूमि पर वैष्णव संप्रदाय की भावुकतापूर्ण भक्ति की एक और रसधारा बह उठी जिसके प्रवर्तक थे चैतन्य, जिनका बंगाल के लोकहृदय पर अमिट प्रभाव पड़ा। चैतन्य राधाकृष्ण की विशुद्ध भक्ति में तल्लीन रहते थे।

मुगल शासन में जनता की आर्थिक स्थिति भी संतोषजनक थी। भारत इस समय एक उद्योगप्रधान केंद्र था और इसका व्यापार पूर्वी द्वीप समूह तथा पश्चिमी देशों के साथ होता था। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में भारत की गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ औद्योगिक देशों में की जाती थी। सूती कपड़े का उद्योग विश्वविख्यात था। वास्को-डिगामा के आने से पूर्व भी यूरोप में भारत की समृद्धि की ख्याति थी। पुर्तगालियों के आगमन से भारत की ख्याति और बढ़ गई। महान मुगलों के 150 वर्ष के शासन काल में संसार में भारत का मस्तक गौरव से उन्नत रहा और उस समय उसका नाम संसार के सभ्य देशों में एक शक्तिशाली और समृद्ध राष्ट्र के रूप में विख्यात था।

आधुनिक युग का पुनर्जागरण काल

मुगल साम्राज्य के पतन तथा एक-एक कर के भारतीय सामंतों के विदेशी चंगुल में फँसकर विनष्ट होने की कहानी बड़ी लंबी और करुण है। संतोष की बात केवल यही है कि देशी सामंतवाद के अधः पतन के साथ भारतीय आत्मा नहीं मरी थी; वह दुगुने उत्साह के साथ पुनर्जागरणकालीन सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक आंदोलनों में सक्रिय हुई। अब तक समाज का नेतृत्व सामंतवर्ग कर रहा था, किंतु उसके कुचले जाने अथवा नपुंसक बना दिए जाने के पश्चात् समाज का नेतृत्व जन नायकों के हाथ में आया। साहित्यकारों का संरक्षण भी अब देशी राज्य नहीं कर सकते थे। अतः सरस्वती की शतसहस्र धाराएँ अब उन मनीषियों के कंठों से फूटीं जो जनता के बीच में बैठकर पुनर्जागरण के गीत सुना रहे थे।

कभी-कभी विध्वंसात्मक शक्तियाँ नव निर्माण का वरदान भी सिद्ध होती हैं। अंग्रेजी शासन ने अपने साम्राज्यवादी हितों की रक्षा के लिए जिस भारी भरकम शासन-तंत्र की स्थापना की वह प्रशासनिक कुशलता में विश्व के शासनों में बेजोड़ था। विशाल अखिल भारतीय सेवाओं—आई. सी. एस., इंडियन पुलिस तथा इंडियन ऑडिट एंड एकांउट्स सर्विसेज तथा प्रांतीय सेवाओं—विशेषकर राजस्व और न्याय संबंधी सेवाओं ने एक ऐसे शक्तिशाली शासनतंत्र की स्थापना की जो 40 करोड़ लोगों के प्रशासन का भार अपने कँधे पर उठा सका। भारत में पहले जो भी साम्राज्य स्थापित हुए वे जिन वर्गों की सेवा पर आधारित थे, अंग्रेजों ने भी उन्हीं में से अपने लिए कर्मचारी चुने। इस प्रशासनिक वर्ग में उत्तर में ब्राह्मण, कायस्थ और खत्री तथा दक्षिण में ब्राह्मण और कुछ अन्य पढ़े-लिखे लोग शामिल थे। अंग्रेजी साम्राज्य ने अपनी जड़ मजबूत करने के लिए स्वयं भी एक ऐसे अंग्रेजी पढ़े-लिखे वर्ग का निर्माण करना चाहा जो जन्म और रंग से तो भारतीय हो, किंतु प्रशंसक वह अंग्रेजी सभ्यता का हो; जो भारतीय समाज में पल कर भी सामान्य जनता से अलग रह कर रुचिओं में अंग्रेजी सभ्यता का गुलाम हो। किंतु मेकाले जैसे कूट-नीतिज्ञों का यह सपना सौ फ़ी सदी साकार न हो सका। आगे चलकर स्वतंत्रता-सैनानियों में अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों की संख्या अधिक थी। अंग्रेजी साम्राज्यवाद के पोषकों की पीढ़ी तैयार करने के लिए प्रांतीय राजधानियों के बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों और राजकीय विद्यालयों की प्रणाली चालू की गई, जिसने आधुनिक विचारों के सुशिक्षित वर्ग का

निर्माण किया। इस शिक्षा ने एक ऐसे वर्ग का निर्माण किया जो भारत भर में समान शील और विचार वाले लोगों का वर्ग था और अखिल भारतीय स्तर पर सामाजिक समस्याओं पर विचार कर सकता था। इस प्रकार साम्राज्यवाद की जड़ें मजबूत करने के प्रयत्नों ने भारतीय स्वतंत्रता को पोषण करने वाली चेतनाओं के निर्माण करने में योग दिया।

भारत में भीषण शोषणकारी अंग्रेजी साम्राज्यवाद की एक शुभ प्रतिक्रिया यह हुई कि भारत का एकीकरण हो गया। पौराणिक विश्वासों में आसेतु हिमालय तक एक अखंड भारत की जो कल्पना थी तथा जिसका पोषण चंद्रगुप्त मौर्य, अशोक, गुप्तवंश तथा मुगल बादशाहों के द्वारा किया गया था उसकी उपलब्धि अंग्रेजी साम्राज्य के विस्तार के द्वारा अनायास हो गई। पुनर्जागरण काल के मनीषियों ने यह भली भाँति जान लिया था कि जब तक भारत की समस्त जनता एक जुट होकर प्रयास नहीं करती तब तक विनाशकारी साम्राज्य से देश की मुक्ति नहीं हो सकती है। अतः 19वीं शताब्दी में जन-जागरण और जन-संगठन के महान प्रयास प्रारंभ हुए। इन प्रयासों में कमी केवल इतनी ही थी कि हिंदू और मुसलमानों ने अपने आपको अलग-अलग संगठित करना प्रारंभ किया। भारत के लिए यह सबसे बड़ी दुर्भाग्य की बात थी और जिसका दुष्परिणाम आगे चलकर देश के बँटवारे के रूप में सामने आया। मुक्ति संग्रामों में जब-जब हिंदू-मुस्लिम संप्रदायों ने एक जुट होकर भाग लिया तब-तब साम्राज्यवाद की नींव हिलती हुई प्रतीत होने लगी। यह एक कटु सत्य है कि देश के ये दो महान संप्रदाय सच्चे हृदय से कभी एक न हो सके।

यह एक विरोधाभास ही है कि अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार तो इस दृष्टि से किया गया था कि भारतीय जनता अपने अतीत से कट कर पाश्चात्य संस्कृति को स्वीकार कर ले, किंतु उसी शिक्षा ने भारत के स्वर्णिम अतीत को उजागर करके जनता में स्वाभिमान और आत्मविश्वास की भावना को जाग्रत किया। इस अतीत के अनुसंधान के पाश्चात्य विद्वानों का योगदान भी सराहनीय है। प्राचीन भारतीय लिपियों को स्पष्ट करने और देश भर में बिखरे शिलालेखों तथा अन्य लेखों की सरकारी तौर से गवेषणा करने और उनके परिणामों को प्रकाशित करने से पहली बार जनता के हाथों में वह विश्वसनीय सामग्री पहुँच सकी जो भारतीय इतिहास की रचना में सहायक सिद्ध हुई। आज जब हम मौर्य, गुप्त, चालुक्य और पल्लव राजवंशों की उज्ज्वल कीर्ति की गाथाएँ पढ़ते हैं तो हमें पाश्चात्य विद्वानों के प्रति कृतज्ञता का अनुभव होता है। राष्ट्रीय भावना के पोषण में देश के सांस्कृतिक इतिहास की जानकारी का प्रमुख हाथ था। आज जिस अशोक के चक्र से हमारा राष्ट्रीय ध्वज अलंकृत है, उस अशोक की महानता का अन्वेषण इन्हीं विद्वानों ने किया था। राजनैतिक इतिहास के अनुसंधान के साथ-साथ संस्कृत, पाली और प्राकृत भाषाओं के अनुसंधान का कार्य भी अंग्रेजी शासन में प्रारंभ हुआ और हमें अपने सांस्कृतिक दाय का सम्यक बोध हुआ।

धार्मिक-सांस्कृतिक दृष्टि से 18वीं सदी का उत्तरार्ध तथा बीसवीं सदी के प्रारंभिक दशक पुनर्जागरण के महान युग सिद्ध हुए। मुस्लिम शासन काल में शासकों की उदारता का अधिक से अधिक यह परिणाम होता था कि हिंदू धर्म पर कोई अत्याचार नहीं किया जाता था और हिंदू-समाज के प्रति सहिष्णुता बरती जाती थी, किंतु ब्रिटिश पार्लिमेंट के हाथ में शासन की बागडोर पहुँचने के पश्चात् भारत के प्रत्येक धर्म के साथ समानता का बर्ताव किया गया। पुराने मठों पर फिर से सफेदी होने लगी। हिंदुओं को अपने सांस्कृतिक पुनर्निमाण की पूरी सुविधा मिली।

धार्मिक-सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के अग्रदूत राजा राममोहन राय (1772-1833 ई०) थे। राजा राममोहन राय का जन्म बंगाल के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनकी शिक्षा-दीक्षा में संस्कृत, फ़ारसी, अरबी और अंग्रेजी का सम्यक अध्ययन शामिल था। इसलिए उनका दृष्टिकोण उदार, आधुनिक और सुधारवादी था। कंपनी की उच्च नौकरी को तिलांजलि दे कर वे समाज के पुनर्निर्माण कार्य में जुट गए और आजीवन अपने सुधार कार्य में संलग्न रहे। आधुनिक विचारों से प्रभावित होकर उन्होंने भारतवासियों को अंग्रेजी शिक्षा-ग्रहण करने की सलाह दी। वे हिंदू-धर्म को मध्यकालीन रूढ़ियों और जड़ताओं से निकाल कर समसामयिक बनाना चाहते थे। सती प्रथा पर अंकुश उन्हीं के महान प्रयासों से लगा। नारी जाति का पुनरुद्धार करके उसे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अग्रसर करने का अवसर प्रदान करना उनके जीवन का प्रमुख लक्ष्य था। वे नारियों को शिक्षा प्रदान करने के हिमायती थे। वे प्राचीन शास्त्रों का सहारा लेकर तर्कपूर्वक नारियों को पुरुषों के समान अवसर और अधिकार दिलाने के पक्षधर थे। राजा राम-मोहन राय धार्मिक मामलों में समन्वयवादी थे। प्रत्येक धर्म का आदर करना उनकी शिक्षा का प्रमुख विषय था। हम उन्हें एक प्रकार से धर्मनिरपेक्ष भारतीय राष्ट्रीयता का जनक भी मान सकते हैं।

हिंदू-संस्कृति के पुनरुत्थान में गुजरात के स्वामी दयानंद का नाम अग्रगण्य है। स्वामी जी भी हिंदू धर्म को पौराणिक भूलभुलैयों और मध्यकालीन अंध विश्वासों से निकाल कर एक शक्तिशाली समाज की पुनर्रचना करना चाहते थे। स्वामी दयानंद द्वारा संस्थापित आर्य समाज वैदिक आधार पर हिंदू समाज को पुनर्गठित करना चाहता था। आधुनिक युग के बुद्धिवादी आक्रमणों से रक्षा करने में तथा अन्य संप्रदायों के आक्रमणों का प्रत्युत्तर देने में आर्य समाज ने महत्वपूर्ण कार्य किया। वस्तुतः आर्य समाज का सुधारवादी आंदोलन व्यापक राष्ट्रीय जागृति का ही एक अंग था जिसका कार्य-क्षेत्र हिंदू-समाज अवश्य था, किंतु जिसका कार्यक्रम देश की मुक्ति कामना से प्रेरित था।

विवेकानंद (1861-1902) भारत की सांस्कृति की पुनर्जागृति के एक ऐसे वैतालिक थे जिन्होंने विदेशों में जाकर भारतीय संस्कृति को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया। अमेरिका में आयोजित विश्वधर्म सम्मेलन में विवेकानंद की विजय वस्तुतः प्राचीन भारतीय

संस्कृति की दिग्विजय थी। विवेकानंद के हृदय में देश की मुक्ति कामना प्रबल थी और उनका सांस्कृतिक संदेश उसी की अभिव्यक्ति का माध्यम था। परमहंस रामकृष्ण के चरणों में बैठकर उन्होंने हिंदू धर्म की आत्मा का साक्षात्कार किया था और आजीवन देश के कोने-कोने में घूमकर उन्होंने उसी के प्रकाश को जनसामान्य में फैलाया। विवेकानंद जैसे मेधावी महापुरुषों को अपने बीच पा कर देश की जनता का मनोबल ऊँचा हुआ और जनता को यह विश्वास हुआ कि देश को कोई भी शक्ति अनंतकाल तक पददलित नहीं रख सकती। स्वामी विवेकानंद का हृदय भारत की ग़रीबी के प्रति अति संवेदनशील था। एक भाषण में उनके उद्‌गार थे—'मैं उस धर्म में विश्वास नहीं करता जो विधवाओं के आँसुओं को नहीं पोंछ सकता तथा जो भूखे-अनाथों के मुँह में रोटी का एक टुकड़ा नहीं डाल सकता।' स्वामी विवेकानंद सच्चे अर्थों में जनतंत्रवादी थे। उनके हृदय में भारत की गरीब जनता के प्रति करुणा थी। उनकी स्पष्ट घोषणा थी—'मेरे विचार से जनता की उपेक्षा करना महान राष्ट्रीय अपराध है और हमारे अधःपतन का एक प्रमुख कारण है।'

सांस्कृतिक पुनरुत्थान में पाश्चात्य विचारकों का भी महत्वपूर्ण सहयोग है। भारत में थ्योसोफीकल सोसाइटी (ब्राह्‌मविद्‌या समाज) की स्थापना कर्नल ओलकोट्ट और मेडम ब्लावस्की ने की थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में इस संस्था ने हिंदू धर्म के पुनरुत्थान में महत्वपूर्ण कार्य किया। आगे चलकर श्रीमती एनी बेसेंट ने इसी संस्था के तत्वावधान में भारतीय संस्कृति के पुनरुद्‌धार में महत्वपूर्ण कार्य किया। भारतीय अपने धर्म की महानता और उसकी शक्तियों से परिचित होने लगे और वे उस हीन भावना से मुक्त हुए जो अंग्रेजों की दासता का सहज परिणाम थी।

सन् 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की विफलता और भीषण दमन के परिणाम स्वरूप भारत में घोर निराशा छा गई थी। हिंदू और मुसलमान दोनों ही दुखी थे। किंतु मुसलमानों में विषाद की घटाएँ अधिक गहरी थीं। इस्लाम का स्वरूप एक विजेता और शासक का स्वरूप शताब्दियों तक क़ायम रहने के बाद अब एक पराजित और गुलाम संप्रदाय का रूप बन गया था। अब तक मुसलमानों का कोई जातीय संगठन भी नहीं था, क्योंकि उसकी आवश्यकता ही उन्हें महसूस नहीं हुई थी। लेकिन इस पराजय के बाद वे अपने आपको निःसहाय अनुभव करने लगे थे। वे दुनिया से बेज़ार हो रहे थे। इस निराशावादी मनःस्थिति से उभरने का एक मात्र उपाय था इस्लाम धर्म को केंद्र में रखकर जातीय संगठन करना। सबसे पहले उनके बीच जो नेता उभरा वह मुहम्मदशाह वलीउल्लाह था। वलीउल्लाह के एक शागिर्द अहमद शाह ने वहाबी संप्रदाय की स्थापना की जिसका उद्‌देश्य मुसलमानों के दृष्टिकोण में समयानुकूल परिवर्तन लाना तथा इस्लाम धर्म का पुनरुत्थान करना था। वहाबी नेताओं के बाद सर सय्यद अहमद ख़ाँ ने मुसलमानों का नेतृत्व किया। सर सैय्यद अहमद का संबंध मुगल दरबार से रहा था। जब इस्लाम में

तेजी से विघटन हो रहा था तब उन्होंने नरम तत्वों का नेतृत्व किया। उनका विश्वास था कि अंग्रेजों के कृपापात्र बन कर ही मुसलमान कुछ सुविधाएँ प्राप्त कर सकते हैं। उन्होंने मुसलमानों को अंग्रेजी शिक्षा की ओर मुड़ने की राय दी। इधर अंग्रेज सरकार भी अपनी नीति में परिवर्तन कर रही थी। सन् 1857 में उन्होंने मुस्लिम आंग्ल पौर्वात्य विद्यालय अलीगढ़ में स्थापित किया जिसका मुस्लिम विश्वविद्यालय के रूप में विकास हुआ। भारत में यही विश्वविद्यालय इस्लामी शिक्षा और संस्कृति के अध्ययन-अध्यापन का केंद्र बना। इस विश्वविद्यालय के निर्माण में भारत के उच्चवर्ग के मुसलमानों और हैदराबाद के तत्कालीन प्रधान मंत्री सालारजंग ने हाथ बँटाया। आगे चलकर यही विश्वविद्यालय मुसलमानों के संगठन और राजनैतिक नेतृत्व का भी केंद्र बना।

सन् 1907 ई० में जब भारत में राजनीति सुधारों पर मिंटो-मोर्ले योजना गढ़ी जा रही थी तब भारत सरकार से सर आगा खाँ के नेतृत्व में एक मुस्लिम शिष्ट मंडल मिला जिसकी प्रार्थना पर उसने मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन कराने का निर्णय लिया। सर सय्यद अहमद कहा करते थे कि हिंदू और मुसलमान भारत माता की दो आँखें हैं और इस कथन की ओट में वे अप्रत्यक्ष रूप से दो राष्ट्रों के सिद्धांत की वकालत करते थे। उनका वह द्विराष्ट्रीय सिद्धांत पृथक निर्वाचन में मूर्तिमान होने लगा। सन् 1907 के बाद हिंदू और मुसलमानों के मैत्रीपूर्ण गठजोड़ तो हुए, किंतु भारत में एक संयुक्त राष्ट्रीय आंदोलन के लिए गुंजाइश कम रह गई। पृथक निर्वाचन की आधारभूत सीढ़ी पर चढ़ जाने के बाद पाकिस्तान के शिखर पर पहुँच जाना एक स्वाभाविक परिणति थी। मुहम्मद अली जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग ने, जो संगठित इस्लाम का प्रतिनिधित्व कर रही थी, द्विराष्ट्रीयता के सिद्धांत पर पाकिस्तान की मांग की, जो फलीभूत हुई।

इससे यह न समझना चाहिए कि मुसलमान केवल इस्लामी आंदोलन में ही उलझे रहे और उनमें से किसी ने राष्ट्रीय मुक्ति प्रयासों में कोई हाथ नहीं बँटाया, अथवा यह कि सभी मुसलमान हिंदू विरोधी थे। जब-जब काँग्रेस ने आंदोलन चलाया तब-तब भारत की आम जनता ने (हिंदू, मुसलमान, सिख, ईसाई) उसका समर्थन किया। काँग्रेस में मौलाना अबुलकलाम आजाद, रफी अहमद किदवाई जैसे चोटी के मुस्लिम नेता शामिल थे। वस्तुत: अंग्रेजी राज्य की स्थापना और बाद को जनतांत्रिक प्रणाली में अल्पसंख्यकता का जो भूत सवार हुआ उसका सहज परिणाम भी वही था, जो हुआ।

भारत का सांस्कृतिक दाय : विविध धर्म

भारत एक धर्मप्राण देश है। धर्मप्राण केवल इसलिए नहीं कि इस देश में दुनिया के महानतम धर्म प्रचलित हैं, बल्कि इसलिए भी कि भारतवासी बड़ी निष्ठा के साथ अपने धर्मों का पालन करते हैं। प्रत्येक धर्म जीवन में समर्पण की भावना सिखाता है। अपने लिए जीना सांस्कृतिक दृष्टि से अधम स्तर का जीवन है। जो व्यक्ति स्वार्थ से जितना ऊँचा उठ कर दूसरों के लिए जितना अधिक जीता है, सांस्कृतिक दृष्टि से उसके जीवन का स्तर उतना ही ऊँचा माना जाता है और धार्मिक दृष्टि से भी वह उतना ही अधिक धार्मिक माना जाता है। परोपकार, सेवा, त्याग, सचाई, ईमानदारी ऐसे गुण हैं जिनका संस्कृति और धर्म दोनों में समान महत्व है। अतः धार्मिक निष्ठा संस्कृति के विकास में एक महत्व-पूर्ण तत्व रहा है। भारत का सांस्कृतिक दाय प्राचीनता और वैविध्य दोनों प्रकार से सुसमृद्ध है। भारत का प्राचीनतम धर्म हिंदू धर्म है। हिंदू धर्म एक विकासशील धर्म है, जिसमें न किसी एक धार्मिक ग्रंथ की प्रमुखता है और न किसी एक पुरुष की। इस धर्म में समय-समय पर अनेक सुधारक उत्पन्न होते रहे जिन्होंने अपनी जीवन-पद्धति और उपदेशों द्वारा हिंदू धर्म में अनेक सुधार किए युगानुरूप संशोधन, परिवर्तन, पुनरुत्थान किए; किंतु धर्म की मूल आत्मा का सदा संरक्षण किया। महावीर, बुद्ध और गुरु नानक ऐसे ही महापुरुष थे। इसलिए हम जैन, बुद्ध और सिख धर्मों को हिंदू धर्म का अभिन्न अंग मानते हैं। हमारा यह कर्तव्य है कि हम अपने धर्म को समझने के साथ-साथ अपने देश के अन्य धर्मों को भी समझने का प्रयत्न करें, जिससे भारतीय संस्कृति की आत्मा को पहचान सकें। इसी दृष्टि से यहाँ भारत के विभिन्न धर्मों का सामान्य परिचय दिया जा रहा है।

हिंदू धर्म

हिंदू धर्म एक सामासिक धर्म है। इसका विकास निश्चय ही अनेक विश्वास, अनेक दार्शनिक मतवाद तथा अनेक धार्मिक मतवादों के संश्लेषणों से हुआ है। समय-समय पर अनेक जातियाँ विभिन्न धार्मिक विश्वासों तथा रीत्याचारों को लेकर भारत में आती रहीं और आज जिसे हम हिंदू धर्म कहते हैं वह उनको अंगीकृत करके अपना विकास करता गया। हिंदू धर्म किसी एक धार्मिक ग्रंथ, अथवा धर्म-गुरु पर आधारित नहीं है। इसके

विकास में अलौकिक धार्मिक ग्रंथ, इतिहास, पुराण, स्मृतियाँ, धार्मिक चमत्कार और धर्म-गुरुओं की अलौकिक सिद्धियों की कहानियाँ समय-समय पर सम्मिलित होती गई हैं। उन सब पर आधारित होते हुए भी यह धर्म किसी एक पर भी निर्भर नहीं है। किसी एक के मिथ्या प्रमाणित होने पर हिंदू धर्म मिथ्या नहीं होता। हिंदुओं में बहुत से ऐसे हैं जो वेदों को अपौरुषेय मानकर उनके मंत्रों में पूज्य बुद्धि रखते हैं, किंतु पुराणों की निंदा करते हैं। दूसरे ऐसे हैं जो वेदों को कर्मकांडियों की उदर पूर्ति का साधन मानते हैं; फिर भी उनके हिंदूपन में कोई कमी नहीं आती। [illegible] को तीसरे शिव को सर्वोच्च स्थान देते हैं। [illegible] सिद्धि प्राप्त होती है तो दूसरे ऐसे हैं जो [illegible] का सहारा छोड़कर ईश्वर की शरणागति में चरम कल्याण देखते हैं। हिंदू धर्म बुद्धिवादियों को [illegible] और विश्वास [illegible] प्रदान करता है। फिर भी हम हिंदू धर्म के मूलभूत सिद्धांतों की स्थापना कर सकते हैं और हिंदू जीवन पद्धति को दूसरी जीवन पद्धतियों से पृथक कर सकते हैं।

कर्म का सिद्धांत हिंदू धर्म का मूलभूत सिद्धांत है। हिंदू धर्म यह मानता है कि प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। बिना कारण के कोई घटना या व्यापार संघटित नहीं होता। प्रत्येक कर्म से कोई न कोई परिणाम या फल अवश्य उत्पन्न होता है जो भावी कर्म का कारण बनता है। कारण कार्य का यह चक्र अनादि है।

प्रत्येक कर्म अपने अनुकूल परिणाम उत्पन्न करता है। बबूल के बोने से आम की फसल नहीं लगती। यह प्रकृति का सिद्धांत है।

कर्म का सिद्धांत यह भी स्वीकार करता है कि मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है, किंतु परिणाम पर उसका कोई नियंत्रण नहीं। इससे एक सहज निष्कर्ष यह निकलता है कि जो जैसा कर्म करेगा उसको उसी के अनुसार फल मिलेगा।

समाज में देखा जाता है कि कोई व्यक्ति स्वच्छ नैतिक जीवन का यापन करता है और कोई ऐसा कर्म नहीं करता जिससे किसी को कष्ट पहुँचे, फिर भी उसके जीवन में कुछ ऐसी दुर्घटनाएँ घटित होती हैं जिससे उसका जीवन दुःखमय बन जाता है। इसके विपरीत अशुभ आचरण करने वाले समाज में फलते-फूलते दिखलाई पड़ते हैं। इस प्रकार की शंकाओं के समाधान के लिए कर्म वाद के साथ जन्मांतरवाद की भावना हिंदू धर्म में बद्धमूल है। जन्मांतरवाद का यह विश्वास है कि प्रत्येक कर्म का त्वरित परिणाम दृष्टिगोचर नहीं होता। हम वर्तमान जीवन में जो दुःख भोग रहे हैं वे हमारे पूर्व किए हुए कर्मों के परिणाम हैं और इस जीवन में हम जो कुछ कर रहे हैं उसके परिणाम को भोगने के लिए हमें दूसरा जन्म ग्रहण करना पड़ेगा। किए हुए शुभाशुभ कर्मों का परिणाम अवश्यमेव भोगना पड़ेगा, यह भावना सामान्य हिंदू के हृदय में विद्यमान है।

कर्मवाद के साथ ही ईश्वरवाद का विश्वास हिंदू धर्म में जुड़ा हुआ है। कर्म अपने आप में जड़ हैं। वे कर्ता को स्वर्ग, नरक अथवा विभिन्न योनियों में भेजने का विधान नहीं

कर सकते। अतः विश्व में कोई ऐसी विवेकपूर्ण व्यवस्था होनी चाहिए जो कर्मों का समुचित निर्णय कर सके। हिंदू धर्म उसी व्यवस्था को ईश्वरीय न्याय मानता है, ईश्वर को उसका नियामक मानता है। उस ईश्वरीय न्याय को चाहे जो नाम दिया जाए, इससे व्यवस्था में कोई अंतर नहीं पड़ता।

छोटे से छोटे कीटाणु से लेकर ब्रह्मा पर्यंत संपूर्ण सत्ताएँ कर्मवाद के अधीन हैं। जीवन के विकास के सिद्धांत में हिंदू धर्म विश्वास करता है। एक मशक में ब्रह्मा का पद ग्रहण करने की संभावनाएँ हैं तथा ब्रह्मा में अशुभ आचरण के परिणाम स्वरूप मशक गति की प्राप्ति की संभावनाएँ हैं।

हिंदू धर्म यह विश्वास करता है कि जीवन का अंतिम लक्ष्य बंधन से मुक्ति है। मनुष्य जो भी शुभाशुभ कर्म करता है उसके संस्कार उसके मन मस्तिष्क पर पड़ते हैं। संस्कारों से शुभाशुभ वृत्तियों का निर्माण होता है। वृत्तियों की समग्रता से शील का निर्माण होता है। दुःशील प्राणी चाहे वह कितना ही ज्ञानी अथवा कर्मठ हो, प्रवृत्तियों के बंधन से मुक्त नहीं हो सकता। अतः हिंदू धर्म में ज्ञान से अधिक शील को महत्व दिया गया है। साधु असाधु की कसौटी शील है, सामाजिक स्थिति नहीं। शील सदाचार पर हिंदू धर्म में इतना बल है कि व्यापक हिंदू धर्म के वे अंग जो ईश्वरवाद अथवा आत्मा की शाश्वत स्थिति को स्वीकार नहीं करते वे भी सम्यक शील पर समान बल देते हैं। दुःख से छुटकारा पाने का एक मात्र उपाय शील, सदाचार है। इस तथ्य को एक शाश्वत और सार्वभौम सत्य के रूप में व्यापक हिंदू धर्म में स्वीकार किया गया है।

हिंदू धर्म यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक जीव आत्म विकास की विभिन्न अवस्थाओं से गुजर रहा है। विकास की अवस्थाएँ एवं स्तर भिन्न-भिन्न हैं, किंतु सब का लक्ष्य एक ही है। उसे चाहे मोक्ष नाम दिया जाए, चाहे निर्वाण, चाहे चरम श्रेय की प्राप्ति। विकास की अवस्थाओं के अनुसार कोई ज्ञान मार्ग का अनुसरण कर सकता है, कोई निष्काम कर्म का मार्ग अपना सकता है अथवा कोई अपने योग क्षेम को भगवान को अर्पण कर के भक्ति मार्ग अपना सकता है। मार्ग भिन्न होने पर गंतव्य एक ही है। गंतव्य तक पहुँचने में विभिन्न योनियों में भी भटकना पड़ सकता है और इसी जन्म में चरम लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है, किंतु कभी न कभी पहुँचना उसी तक है।

गंतव्य तक पहुँचने के विविध मार्गों को स्वीकार करने के परिणाम स्वरूप हिंदू धर्म किसी साधना पद्धति तथा विश्वास को अथवा सत्य की खोज के प्रयत्न को न तो हीन समझता है और न किसी का निरादर करता है। इसलिए हम एक सच्चे हिंदू में सर्व धर्म समन्वय तथा धार्मिक सहिष्णुता पाते हैं। वह विभिन्न धर्मों में न तो कोई विरोध पाता है और न दूसरों के धार्मिक विश्वासों में कोई शत्रुता का अनुभव करता है। भारतवर्ष के लंबे इतिहास में धर्म युद्ध की विभीषिका का एक भी उदाहरण नहीं मिलता। सच्चे हिंदू के लिए विश्व के महान धर्म ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म आदि उतने ही सच्चे और

आदरणीय हैं जितना उसका अपना धर्म। श्री मद् भगवद् गीता निभ्रांत शब्दों में यह घोष करती है कि—'जो मनुष्य जिस रूप में मेरी (ईश्वर) उपासना करते हैं उसी रूप में मैं उनकी श्रद्धा को दृढ़ता प्रदान करता हूँ।'

सब धर्मों के प्रति आदरपूर्ण दृष्टि रखने के परिणामस्वरूप हिंदू धर्म धर्म परिवर्तन करने की चेष्टा नहीं करता। गीता का स्पष्ट आदेश है—'अपना धर्म चाहे वह दूसरे धर्मों की तुलना में कम गुणवान हो, दूसरे धर्मों का अनुष्टान करने से कहीं अधिक श्रद्धास्पद है।' इसलिए हिंदू धर्म ने दूसरे धर्मानुयायियों को बहला फुसला कर अथवा लोभ लालच देकर अथवा दंड नीति के द्वारा सामूहिक धर्म परिवर्तन का कभी प्रयास नहीं किया।

इसमें संदेह नहीं कि राजनीतिक आंदोलनों के आधुनिक युग में सांप्रदायिक दंगों की विभीषिकाओं का हमने अनुभव किया है तथा धार्मिक सहिष्णुता के शांत वातावरण को समय-समय पर गंदला किया है, किंतु इन विभीषिकाओं का मूल हमें प्रतिक्रियावादी ताकतों की उन दुरभिसंधियों में खोजना चाहिए जिनके द्वारा वे भोली भाली शांतिप्रेमी जनता को बहका कर अपने निहित स्वार्थों को सिद्ध करना चाहती हैं। एक सच्चा हिंदू सब धर्मों के विश्वासों में अपने ही विश्वास की झलक पाता है। हनुमान्नाटक की एक स्तुति को उद्धृत करके मैं इस प्रसंग को समाप्त करूंगा :

> यं शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनः ।
> बौद्धा बुद्ध इति प्रमाण पटवः कर्तेति नैयायिकाः ।।
> अर्हन्नित्य जैन शासन रताः कर्मेति मीमांसकाः ।
> सोऽयं नो विदधातु वांछित फलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ।।

हिंदू जीवन दर्शन

विरोधों में समन्वय स्थापित करना, विविधता का समाहार एक व्यापक संरचना में खोजना तथा प्राचीन मूल्यों को बिना खोए नवीन मूल्यों को स्वीकार करके सामाजिक सांस्कृतिक जीवन का पुनर्निर्माण करना हिंदू जीवन दर्शन की अद्भुत् विशेषता है। इसलिए भारत में जो भी संस्कृतियाँ आईं उनको आत्मसात करके अपने बृहत् समाज में प्रतिष्ठित करने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई। आत्म-विलय की प्रक्रिया में किसी विश्वास को नकारा नहीं जाता था। किसी सभ्यता को नष्ट-भ्रष्ट नहीं किया जाता था। अपितु नए विचारों और विश्वासों को आदरपूर्वक स्वीकार करते हुए भी अपनी सांस्कृतिक परंपराओं का परित्याग नहीं किया जाता था। लंदन और हेल विश्वविद्यालयों में पौर्वात्य संस्कृति के विशारद डा० हीमन ने समन्वय और आत्म सात करने की इस क्षमता की समीक्षा बड़े सुंदर शब्दों में की है। उनका कथन है कि 'प्रभावशाली और उष्णकटिबंधीय भदृश्य वाला भारत समस्त विचार वैविध्य, विचित्र मत और विभिन्न सामाजिक

आचार विचारों को आत्मसात करने की क्षमता रखता है, किंतु इस आत्मीकरण की प्रक्रिया में वह खोता कुछ नहीं है। अपने उन नियमों को जो उसने निसर्ग से प्राप्त किए हैं, पुनः व्याख्यायित कर लेता है। इस व्याख्या में वह उन आत्मीकरण के तत्वों का पुनर्निर्वचन कर लेता है।'

'विविधता में एकता समस्त सत्ताओं, रूपों और दृष्टियों को एक संघटन में अंतर्ग्रथित करना, जीवन की एकांगी स्थिति वस्तु की और रूप की एकांगी सत्ता को संसरणशील समझना और उनका यह मौलिक विश्वास कि कोई विचार शब्द या कर्म कभी नष्ट नहीं होता, अपितु नए रूप में पुनः कर्त्ता के समक्ष प्रस्तुत होता है, भारतीय जीवन दर्शन की मौलिक विशेषताएं हैं। भारत का विचार स्वातंत्र्य कल्पना में आने वाले समस्त विचारों और विरोधों तक को आत्मसात करने की क्षमता रखता है, किंतु आत्मीकरण की इस प्रक्रिया में वह किसी का विनाश नहीं करता, अपितु प्रत्येक को पूर्ण बनाता है।'

जीवन दर्शन की उदारता तथा आत्मीकरण की इस अद्भुत क्षमता ने ही भारतीय संस्कृति को अविच्छिन्न रह सकने की क्षमता प्रदान की है।

भारतीय संस्कृति के प्रख्यात व्याख्याता डॉ० राधाकृष्णन तथा राधा कुमुद मुकर्जी के अनुसार हिंदू धर्म एक संप्रदाय अथवा मजहब (क्रीड) नहीं है वह एक विशाल और उदार जीवन पद्धति है जो न तो किसी एक धार्मिक ग्रंथ पर आधारित है, न किसी एक धर्म प्रचारक के उपदेशों पर, न किसी एक व्यवस्थित धार्मिक संस्था पर। उसमें न तो सिद्धांतों की कठोरता है और न कड़े विश्वासों की। हिंदू धर्म किसी कठोर और सुनिश्चित आचार पद्धति पर भी आश्रित नहीं है। इसलिए वह नवीन तत्वों को आत्मसात् करके अपनी संपन्नता को बढ़ाने की क्षमता रखता है। इस क्षमता का कारण यह है कि इस समुदाय का विकास विभिन्न सांस्कृतिक इकाइयों के सम्मिश्रण और समन्वय की प्रक्रिया के द्वारा हुआ है।

हिंदू संस्कृति का जटिल जातीय विधान जिन सांस्कृतिक इकाइयों के सम्मिश्रण से बना है उनमें पंजाब, राजस्थान और मध्यप्रदेश तथा बंगाल की आर्य जातियों के साथ ट्रावनकोर, कोचीन की नेग्रीटों, आदिवासियों, आदिम निषाद (आस्ट्रोलायड) असम के किरात (मंगोलायड) काठियावाड़, गुजरात और तमिलनाडु की चौड़े सिरवाली (ब्रेकीसिफेलिक) जातियां प्रमुख हैं।

इसलिए हिंदू धर्म में पर्याप्त वैविध्य है, किंतु संपूर्ण वैविध्य के नीचे एक मौलिक एकता है जिसकी छाप हमें प्रत्येक हिंदू में मिलती है। धार्मिक और साहित्यिक कृतियों ने युग-युगांतरों में इस एकता के भाव को दृढ़ किया है। धार्मिक ग्रंथों में मातृभूमि के रूप की कल्पना कर के उसकी वंदना का विधान किया गया है। इस मूर्त रूप की वंदना में सात नदियों का महत्व है—गंगा, यमुना, सरस्वती, गोदावरी, कावेरी, नर्मदा तथा सिंधु। इसी प्रकार हिंदू संस्कृति के प्रमुख सात केंद्रों को मोक्षदायक माना गया है—

अयोध्या, मथुरा, माया (हरिद्वार) काशी, काँची, अवंतिका और द्वारावती (द्वारिका पुरी)। इसी प्रकार सात पर्वतों की, जिनमें दक्षिण के मलय पर्वत से लेकर हिमालय तक सम्मिलित हैं, पुराणों में महिमा गाई गई है। मातृभूमि की समस्त मृत्तिका की पवित्रता के भाव में क्षेत्रीय भेदभाव विलीन हो जाते हैं। आसेतु हिमालय तक हिंदुओं की पूज्य मातृभूमि है। इस पूजा-आराधना की भावना में राष्ट्रीयता और जनतंत्र की आधारशिला के रूप में अखिल भारतीय दृष्टि की उपलब्धि होती है। हिंदू संप्रदाय की राष्ट्रीयता इस उदात्त वाक्य में मुखरित होती है—'जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।'

श्री सी० एफ० एंड्रूज ने एक स्थल पर महात्मा गांधी के हिंदू धर्म के विषय में अधोलिखित उद्‌गार उद्धृत किए हैं :

'मैं पैतृकता के प्रभाव में विश्वास करता हूँ और मेरा जन्म चूंकि एक हिंदू परिवार में हुआ था, इसलिए मैं हिंदू हूँ। मैंने हिंदू धर्म को तिलांजलि भी दे दी होती, अगर मुझे ऐसा लगता कि मेरे आत्मिक विकास अथवा नैतिक भावना में यह धर्म आड़े आता है। किंतु परीक्षण करने पर मुझे लगा कि जितने धर्मों की मुझे जानकारी है उन सबमें हिंदू धर्म सबसे अधिक उदार तथा सहिष्णु है, क्योंकि यह धर्म अपने अनुयायी को आत्माभिव्यक्ति की पूरी छूट देता है, हिंदू धर्म का स्वरूप अपृथकतावादी है। इसीलिए यह धर्म अपने अनुयायियों को न केवल दूसरे धर्मों का आदर करना सिखाता है, अपितु उनको यह छूट देता है कि उनमें जो कुछ भी श्रेयस्कर है उसे वे स्वीकार करें। सत्य और अहिंसा की भावना सभी धर्मों में समान है, किंतु इन भावनाओं की जितनी प्रखर अभिव्यक्ति एवं आचरण में परिणति हिंदू धर्म में मिलती है उतनी किसी अन्य धर्म में नहीं। जब मैं यह कह रहा हूँ तो बौद्ध और जैन धर्मों को हिंदू धर्म का अभिन्न अंग मान कर ही कह रहा हूँ। हिंदू धर्म न केवल मनुष्य, अपितु प्राणिमात्र की एकता में विश्वास रखता है। पुनर्जन्म जिसका अर्थ जीवन का सातत्य है, इसी एकता की भावना का सहज विकास है।'

गांधीजी के शब्दों में हिंदू धर्म तथा हिंदू संस्कृति की निर्मल आत्मा बड़े सरल रूप में अभिव्यक्त हुई है :

जैन और बौद्ध धर्मों को व्यापक हिंदू संस्कृति के सुधारवादी आंदोलन समझा जा सकता है। जब हम हिंदू धर्म पर विचार कर रहे हैं तो इन दोनों सुधारवादी आंदोलनों और इन आंदोलनों के प्रमुख प्रवर्तकों की संक्षिप्त जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है।

हिंदू संस्कृति के सुधारवादी आंदोलन

जैन और बौद्ध धर्म

800 ई० पू० से लेकर 200 ई० पू० का समय मानव-संस्कृति के विकास में अत्यंत महत्वपूर्ण है। विश्व के महानतम विचारक इसी युग में अवतीर्ण हुए। ई० पू० छठी शताब्दी में अनेक देशों में धार्मिक व्यग्रता और सांस्कृतिक विक्षोभ दिखलाई

पड़ता है। भारत में यह विक्षोभ महावीर और बुद्ध की वाणी में प्रकट हुआ। चीन में लाओत्जु और कनफ्यूशस की वाणी में, यूनान में परमेंडीज और एंपेडोक्लीज की वाणी में, फ़ारस में जरथुस्त्र और इजराईल में अनेक पैगंबरों की वाणी में अभिव्यक्त हुआ।

महावीर और बुद्ध विवेकवादी थे। उनके सांस्कृतिक सुधारों में हमें नवीन संस्कार, जिनकी जड़ प्राचीन संस्कृति में थी; दिखलाई पड़ते हैं। वस्तुतः सांस्कृतिक विकास के लिए प्राचीन और नवीन का टकराव और समन्वय आवश्यक है। बुद्ध और महावीर ऐसे विचारक थे जिन्होंने परंपरा से बहुत कुछ ग्रहण किया, किंतु आत्म-चिंतन और आत्म-निर्णय को उन्होंने परंपरा से ऊँचा ठहराया। परंपरा में वैदिक अथवा ब्राह्मण विचार धारा का प्राधान्य था। बुद्ध और महावीर श्रमण विचार धारा के अनुयायी थे। छठीं शताब्दी और उसके पूर्व हमें बहुत से श्रमण विचारकों के नाम मिलते हैं। जैसे—अजित केसकम्बली, पुराण कश्यप, मक्खारी गोशाल। इन्हें तीर्थंकर कहा जाता था तथा प्रत्येक के पीछे अनुयायियों की टोली थी। इन विचारकों में वैदिक दर्शन और कर्मकांड के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया थी। वे नास्तिक तथा संदेहवादी थे। वे न आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते थे और न कार्य-कारण नियम को। उनका न आवागमन में विश्वास था और न पुनर्जन्म अथवा स्वर्ग और नरक में। ऐसे घोर नास्तिकों तथा निराशावादी श्रमणों की परंपरा में महावीर और बुद्ध ने अपना स्थान बनाया था।

काल क्रम में जैन धर्म बौद्ध धर्म से अधिक प्राचीन है। अतः हम जैन धर्म और उसके महान प्रवर्तक महावीर का परिचय पहले प्राप्त करेंगे।

जैनधर्म और उसके प्रवर्तक

'जिन' शब्द का अर्थ है जीत लिया है राग द्वेष जिसने। उसे 'अर्हत' भी कहा जाता है। अतः जैन धर्म का दूसरा नाम अर्हत धर्म है। जैन साधु परिग्रही नहीं होते। वे अपनी गाँठ में कुछ भी बाँध कर नहीं चलते। इसलिए उन्हें निर्ग्रंथी कहते हैं तथा उनके धर्म को निर्ग्रंथ धर्म भी कहा जा सकता है अथवा उन्हें निर्ग्रंथ इसलिए भी कहा जा सकता है कि वे अविद्या की ग्रंथि का विमोचन कर डालते हैं।

जैन धर्म इस अर्थ में एक नास्तिक दर्शन है कि वह सृष्टिकर्त्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करता। जैन धर्म का विश्वास है कि संसार तो एक स्वचालित चक्र है जिसमें संहार और सृजन का क्रम स्वतः तथा निरंतर चलता रहता है। किंतु जैन धर्म आत्मा की सत्ता तथा पूर्वजन्म में विश्वास करता है। इसलिए वह आस्तिक भी कहा जा सकता है।

जैन धर्म मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य मानता है। मोक्ष का अर्थ है आत्मा का पूर्ण विकास। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक प्राणी अपने आपमें अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य रूप है। किंतु उक्त गुण बाह्य प्रभाव के दबाव के कारण

अवरुद्ध कहते हैं। यह प्रभाव कर्म परिणामों का है। कर्मों का बंधन जिन प्रभावों के कारण होता है उन्हें 'आस्रव' कहते हैं। इस प्रभाव को रुक जाना 'संवर' कहलाता है तथा संचित कर्मों का नाश 'निर्जरा' कहलाता है। आस्रव का कारण कर्म बंधन है। जैन दर्शन में इसे पाँच [illegible] गया है :



महावीर स्वामी

(1) मिथ्यात्व--मिथ्यात्व से तात्पर्य है उन बातों में श्रद्धा होना जो कर्म बंधन की ओर ले जाती हैं। जैसे--कुदेव की उपासना, कुगुरु से विद्या पाना तथा कुधर्म का अनुगमन करना।

(2) अविरति--पाप कर्मों में आजीवन संलग्न रहना, उनसे निवृत्त न होना।

(3) प्रमाद--अकर्मण्य जीवन व्यतीत करना तथा आत्मानुशासन में ढील रखना।

(4) कषाय--क्रोध, मान, माया, लोभ आदि बुराइयाँ कर्म बंधन की कषाय हैं, जिनके कारण चित्त निर्मल नहीं हो पाता।

(5) योग--मन, वचन तथा कर्म की अशुभ प्रवृत्तियाँ, जिनके योग से प्राणी अशुभ कर्मों में लीन रहता है।

उपर्युक्त अशुभ कर्मों का संश्लेष (बंध) शुद्ध ज्ञान को ढक देता है और

आत्मा को विपरीत दिशा में (अशुभ) कर्मों में ले जाता है। मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य इस कर्म संवर को रोकना है जिससे उसे निर्जरावस्था प्राप्त हो सके। संचित शुभाशुभ कर्मों का नाश ही निर्जरावस्था है और जैन धर्म के अनुसार यही निर्वाणावस्था है।

दार्शनिक चिंतन में जैन धर्म अनेकांतवादी है। वह निरपेक्ष सत्य के विषय में किसी एक परिणाम को स्वीकार नहीं करता। इस तर्क पद्धति को स्यादवाद भी कहते हैं। यदि कोई जैन दार्शनिक से प्रश्न करे कि क्या लोक सत्य है, तो वह निम्नलिखित सात प्रकार (सप्त भंगी) से उत्तर देगा :

(1) स्यादस्ति—स्यात् प्रत्येक लोक सत्य है।
(2) स्यान्नस्ति—शायद वे असत हैं।
(3) स्यादस्तिनास्ति—शायद देश काल आदि की अपेक्षा से न तो उन्हें सत्य कहा जा सकता है और न असत्य।
(4) स्यादवक्तव्य—शायद दोनों ही अवक्तव्य अथवा अनिर्वचनीय दशाएँ हैं।
(5) स्यादस्ति अवक्तव्य—शायद उनकी असत्यता अनिर्वचनीय है।
(6) स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य—शायद दोनों ही स्थितियाँ वक्तव्य नहीं है।
(7) स्यान्नास्ति अवक्तव्य—शायद उनकी असत्यता अनिर्वचनीय है।

इस प्रकार जैन दर्शन अंतिम तथा निरपेक्ष सत्य की अनेक संभावनाओं को स्वीकार करता है। जैन दर्शन यह भी स्वीकार करता है कि जो सत्य है वह अनिर्वचनीय भी हो सकता है तथा उसका विभिन्न प्रकार से निर्वचन भी किया जा सकता है। जैन दर्शन में हठवादिता को कोई स्थान नहीं है।

जैन धर्म अपने आप को उतना ही प्राचीन मानता है जितना वैदिक धर्म है। संभव है : जैन विचार धारा का उत्स श्रमण विचार धारा के रूप से और भी प्राचीन हो। जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभ देव हैं, जिनका वेदों में नामोल्लेख मिलता है। श्रीमद् भागवत् में इनकी चर्चा है। वेद और पुराण दोनों में ही ऋषभ देव ऋषि तुल्य सम्माननीय हैं। उनका व्यक्तित्व सर्व मान्य महापुरुष का है। इसके बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ हैं जो श्री कृष्ण के चचेरे भाई कहे गए हैं। इस प्रकार जैन धर्म प्रारंभ से ही हिंदू धर्म का एक विवेकशील अंग रहा है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता नैतिक मूल्यों की स्थापना तथा आचरण की शुद्धता है। वैदिक धर्म में ब्राह्मण के जो दस लक्षण कहे गए हैं वे सब जैन धर्म में भी स्वीकार किए गए हैं। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दया, अस्तेय और अपरिग्रह का दोनों में समान रूप से विधान है। दोनों ही पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं तथा कर्मों की कार्य-कारण श्रृंखला को स्वीकार करते हैं। जैन धर्म तपस्या और कृच्छ-साधनाओं में विश्वास करता है, जैसा कि ब्राह्मण धर्म का विश्वास है। किंतु उसकी सृष्टि की कल्पना ब्राह्मण धर्म से कुछ भिन्न है। उपनिषदों में ब्रह्म को सृष्टि का उपादान

तथा निमित्त कारण स्वीकार किया गया है। वस्तुतः जैन दर्शन पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के सब व्यक्त और अव्यक्त रूपों को चैतन्य गुण युक्त मानता है। इन्हीं के द्वारा परमाणुओं के परस्पर मिलने से सृष्टि की रचना होती है। परमाणुओं के सिद्धांत में वह आधुनिक परमाणुवाद के वैज्ञानिक दर्शन के अधिक समीप है तथा सृष्टि के अनादि अस्तित्व की दृष्टि से वह सांख्य दर्शन के अधिक समीप है। कर्म के परमाणुओं को जैन दर्शन में 'पुद्गल' कहा गया है। समस्त शुभाशुभ कर्म पुद्गल युक्त हैं। मनुष्य जो भी शुभाशुभ कर्म करता है उसके पुद्गल उसके अस्तित्व को आच्छादित कर लेते हैं। कठोर तपस्या से जब पुद्गल का आवरण नष्ट हो जाता है तब जीव निर्जरावस्था को प्राप्त कर कृत कृत्य हो जाता है।

लिच्छवी गणराज्य में अवतरित महावीर जैन धर्म के ऐतिहासिक महापुरुष हैं। उन्हें बुद्ध का समकालीन माना जाता है। महावीर जैन धर्म के 24वें तथा अंतिम तीर्थंकर हैं। उन्हें 'जिन' तथा 'अर्हत' पदों से संबोधित किया जाता है। 'जिन' का अर्थ है मानव स्वभाव की दुर्बलताओं पर विजय तथा अर्हत का अर्थ है कामक्रोधादि शत्रुओं पर विजय। वे 'महावीर' कहलाए, क्योंकि उन्होंने आंतरिक द्वंद्व को वीरता पूर्वक जीता। वर्धमान महावीर ने सुखपूर्वक 30 वर्ष की अवस्था तक गृहस्थाश्रम का निर्वाह करके यति अथवा श्रमणधर्म स्वीकार किया तथा 13 वर्ष की कठोर तपस्या के पश्चात् 'जिन' पद प्राप्त किया। अतः महावीर के चरित्र में हमें एक ऐसे व्यक्ति का आदर्श मिलता है जिसने सांसारिक सुख-सुविधाओं का परित्याग करके मानव जीवन की उच्चतम स्थिति प्राप्त की। महावीर की स्थिति तक पहुँचने वाले व्यक्ति को पाँच प्रकार के व्रत स्वीकार करने पड़ते हैं :

(1) मैं किसी प्राणी की हिंसा नहीं करूँगा।

(2) मैं असत्य भाषण नहीं करूँगा।

(3) मैं उस वस्तु को स्वीकार नहीं करूँगा जो मेरी नहीं है अथवा जो मुझे दी नहीं गई है।

(4) मैं पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा।

(5) मैं बाह्य वस्तुओं से मिलने वाले सुख का परित्याग करूँगा।

जैन धर्माचरण में निम्नलिखित आठ प्रकार के अहंकारों को त्याग बतलाया गया है:

(1) अपनी बुद्धि का अहंकार, (2) अपनी धार्मिकता का अहंकार, (3) अपने वंश अथवा कुलीनता का अहंकार, (4) अपनी जाति का अहंकार, (5) अपने शारीरिक बल तथा बुद्धि बल का अहंकार, (6) अपनी चमत्कार दिखा सकने वाली शक्ति का अहंकार, (7) अपनी साधना का अहंकार तथा (8) अपने रूप-सौंदर्य का अहंकार। उपर्युक्त आठ प्रकार के अहंकारों का परित्याग करके ही मनुष्य 'अर्हत' पद प्राप्त कर सकता है।

अर्हत पद की प्राप्ति के पश्चात् वर्धमान महावीर ने अपना सारा जीवन मानवता के कल्याण के लिए अर्पित कर दिया। उन्होंने आजीवन भ्रमण करके जैन धर्म का उपदेश दिया। महावीर का निर्वाण गौतम बुद्ध के पूर्व 72 वर्ष की अवस्था में हुआ।

महावीर की वाणी

महापुरुष किसी एक देश या समाज की संपत्ति नहीं होते। वे किसी समुदाय विशेष की कल्याण कामना तक अपनी वाणी को परिसीमित नहीं रखते। उनका परिवार अखिल मानवता होती है तथा उनकी कल्याण कामना जीवनमात्र तक परिव्याप्त होती है। महावीर जैसे युग पुरुष की वाणी जीवन के कल्याण का अजस्र स्रोत है। इस स्रोत का एक घूंट पीने भर से मनुष्य का कल्याण हो सकता है। महावीर की धर्म-साधना का स्वरूप मानव संस्कृति के उच्चतम आदर्शों से समन्वित है। उनकी वाणी का एक अंश यहाँ प्रस्तुत है :

(1) सभी प्राणियों से मैं क्षमा याचना करता हूँ। वे सभी मुझे क्षमा करें। मेरा मैत्री-भाव सभी प्राणियों के प्रति हो, किंतु शत्रुभाव किसी से न हो।
(2) मैंने मन, वचन और काया से जो भी पाप किए हों, वे सब मिथ्या हो जाएं।
(3) अहिंसा, संयम और तप सर्वोत्तम कल्याणकारी धर्म हैं। जिसका मन इसमें लगा हुआ है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।
(4) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह---ये पाँच महाव्रत हैं। यही जिन का उपदेश है।
(5) वह व्यक्ति अपने लिए वैर भाव बढ़ाता है जो या तो स्वयं हिंसा करता है या कराता है अथवा हिंसा का समर्थन करता है।
(6) अपने स्वार्थ साधन के लिए असत्य वचन न तो स्वयं बोलना चाहिए और न दूसरों से बुलवाना चाहिए।
(7) बिना दी हुई दाँत कुरेदने की सींक भी नहीं लेनी चाहिए।
(8) मात्रा से अधिक आहार नहीं करना चाहिए। किसी को भी मात्रा से अधिक भोजन हितकारी नहीं है। जैसे पवन से प्रेरित दावाग्नि शांत नहीं होती उसी प्रकार अधिक भोजन करने वाले की इंद्रियाग्नि भी शांत नहीं होती।
(9) जो व्यक्ति कठोर ब्रह्मचर्य का पालन करता है उसे सभी नमन करते हैं।
(10) आठ गुणों से युक्त पुरुष शिक्षित अथवा सुसंस्कृत कहा जा सकता है। सुसंस्कृत वह है (1) जो हर समय हास-परिहास में लिप्त नहीं रहता, (2) जो निरंतर इंद्रिय-निग्रह करता है, (3) जो मर्म वचन नहीं बोलता, (4) जो सुशील है, दुराचारी नहीं है, (5) जो इंद्रिय रस लोलुप नहीं है, (6) जो सत्य में निरत रहता है, (7) जिसे क्रोध नहीं आता तथा (8) जो सदा शांत रहता है।

(11) अविनीत को विपत्ति तथा विनीत को संपत्ति प्राप्त होती है।

(12) जीवन का धागा एक बार टूटने के पश्चात् फिर नहीं जुड़ता। इसलिए एक क्षण को भी प्रमाद मत करो। प्रमाद, हिंसा और असंयम में यौवन को गँवाने के बाद जब बुढ़ापा आएगा तब क्या करोगे, किसकी शरण लोगे?

(13) वीतराग वह है जिसे रूप से विराग हो गया है। वह पद्मपत्रवत् जल में रह कर अलिप्त रहता है।

(14) प्रीति का नाश क्रोध करता है।
विनय का नाश मान करता है।
मित्रता का नाश कपट करता है।
और लोभ तो सारे सद्गुणों का विनाशक है।

(15) क्रोध को शांति से, अभिमान को नम्रता से, कपट को सरलता से और लोभ को संतोष से जीतना चाहिए।

(16) ज्यों-ज्यों लाभ होता है, लोभ भी त्यों-त्यों बढ़ता जाता है।

(17) मनुष्य को सोना और चांदी के पर्वत प्राप्त हो जाने पर भी तृप्ति नहीं होती। तृष्णा आकाश के समान अनंत है।

(18) पापी के दुःख को न तो जाति बँटा सकती है और न पुत्र अथवा भाई-बंधु। कर्म अपने कर्ता का ही पीछा करता है और किसी का नहीं।

(19) हर माह लाखों की गौवों का दान करने वालों से सदाचारी श्रेष्ठ है।

(20) निःश्रेयस का मार्ग यह है—सद्गुरु तथा वृद्धों की सेवा करना और मूर्खों की संगति से दूर रहना। अच्छे साहित्य का अध्ययन करना और उसकी गहराई तक पहुँचने का प्रयास करना, साथ ही अंतःकरण में अचल शांति रखना।

(21) दमन अपने आप का ही करना चाहिए।
यह निश्चय ही कठिन है। अपने आपका दमन करने वाला इहलोक और परलोक में सुख पाता है।

(22) सर्वोत्तम विजय आत्मविजय है। लाखों योद्धाओं को जीतने से भी आत्मविजय श्रेष्ठ है।

(23) पूज्य कौन है?
जो परनिंदा नहीं करता।
जो समाज में कलह बढ़ाने वाली बातों से दूर रहता है।
जो ऐसी भाषा नहीं बोलता जिससे दूसरों को कष्ट हो।

(24) पूज्य कौन है?
जो दूसरों का अपमान नहीं करता। चाहे वह बालक हो, वृद्ध हो, स्त्री या पुरुष हो, साधु या गृहस्थ हो।

(25) सिर मुंडा लेने मात्र से कोई श्रमण नहीं बन जाता।
केवल प्रणव की जाप से कोई ब्राह्मण नहीं बन जाता।
वन में रहने मात्र से कोई यती नहीं बन जाता।
कुशा के बुने हुए वस्त्रों के पहनने मात्र से कोई तपस्वी नहीं बन जाता।

(26) श्रमण होता है समता की भावना से।
ब्राह्मण होता है ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने से।
मुनि होता है ज्ञान प्राप्त करने से।
तपस्वी होता है तप साधना से।

(मूल वाणी के लिए परिशिष्ट देखें)

बौद्ध धर्म

जैसा कि पहले कहा जा चुका है: ईसा की छठीं शती आध्यात्मिक अशांति और धार्मिक चंचलता का युग है। इस युग में अनेक प्रकार की विचार धाराओं का अस्तित्व मिलता है जिनमें वैदिक धर्म अथवा ब्राह्मण धर्म प्रमुख था। छठी शती ई० पू० तक आते आते वैदिक धर्म में कर्मकांड प्रधान हो गया था। इस युग में धर्म का सात्विक स्वरूप कर्म-कांड से ढक चुका था जिसकी प्रतिक्रिया हम उपनिषदों में भी पाते हैं। उपनिषद् आत्म ज्ञान और आत्मा की उपलब्धि के लिए आत्म-चिंतन पर बल देती हैं तथा कर्म (याज्ञिक कर्मकांड) का विरोध करते हैं। इन यज्ञों में निरीह पशुओं का वध होता था और यज्ञों के द्वारा स्वर्ग प्राप्ति का प्रलोभन दिया जाता था। विवेकशील मनुष्य इस हिंसापूर्ण धर्माचरण को स्वीकार नहीं कर सकते थे। हम इस यज्ञवाद के विपरीत प्रतिक्रिया श्रमण अथवा तीर्थंकरों में पाते हैं जिनका उल्लेख बौद्ध और जैन दोनों ग्रंथों में हुआ है। ये विवेकवादी श्रमण जीवन में घोर निराशावादी थे। ये न तो आत्मा की नित्य सत्ता में विश्वास करते थे और न परलोक में। कर्म सिद्धांत में भी उनका विश्वास नहीं था। जीवन के पुरुषार्थों के प्रति ये दार्शनिक संदेहवादी थे। इन्हें सृष्टि के कारण-कार्य नियमों के विषय में यदृच्छावादी अथवा नियतिवादी कहा जा सकता है। अर्थात् वे जीवन और मृत्यु की समस्याओं को सुलझाने में विवेक पर बल तो देते थे, किंतु किसी तर्कसंगत समाधान पर न पहुँच सकने के कारण वे सृष्टि को एक आकस्मिक घटना के रूप में स्वीकार करते थे। विश्व के व्यापार में किसी नियम में उनका विश्वास नहीं था। इसलिए जन्म और मृत्यु इनके लिए आकस्मिक घटनाएँ थीं। जब सब कुछ आकस्मिक अथवा पूर्व निश्चित है तो जीवन में पुरुषार्थ के लिए कोई स्थान नहीं है। ऐसे घोर निराशावादी युग में महावीर ने नैतिक पवित्रता और आत्मानुशासन का मार्ग चुना, किंतु श्रमण धर्म में कठोर तपस्या का विधान था। गौतम बुद्ध ने भी साधना के प्रारंभ में कठोर तपस्या का मार्ग चुना था, किंतु जब उससे उन्हें कोई लाभ न हुआ तो उन्होंने उसका परित्याग कर दिया। बुद्ध के समक्ष एक ओर यज्ञादि कर्मकांड से परिपूर्ण वैदिक प्रवृत्ति मार्ग था तो दूसरी ओर श्रमणों की कठोर तपस्या का निवृत्ति मार्ग। गौतम ने दोनों अतिवादों का परित्याग करके बीच का मार्ग चुना। इसलिए बौद्ध धर्म मध्यममार्गी धर्म कहलाता है। बौद्ध धर्म में न तो जीवन के सुख और मृत्यूपरांत स्वर्गवैभव का प्रलोभन है और न कठोर कृच्छ साधना

है। बुद्ध प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों में संतुलन के प्रचारक हैं। कदाचित् बौद्ध धर्म की सफलता और उसके विश्वव्यापी प्रचार का यही एक प्रमुख कारण है।

गौतम बुद्ध का जन्म शाक्य वंशीय राजा शुद्धोदन के यहाँ हुआ था। उनका जन्म 567 ई० पू० लुंबिनी नामक स्थान पर एक उद्यान में हुआ था। वे एक छोटे से राज्य–कपिलवस्तु के राजकुमार थे। उनका लालन-पालन ऐश्वर्य और विलास के वातावरण में हुआ था। यशोधरा नामक राजकुमारी से उनका विवाह हुआ था तथा उनके पुत्र का नाम था राहुल। उनके जीवन के विषय में प्रचलित आख्यानों से प्रकट होता है



गौतम बुद्ध

कि जिन चार अवसरों पर वे राज प्रासाद से बाहर निकले उनमें से एक में उनकी भेंट वृद्ध पुरुष से हुई जिसे देखकर उनको यह महसूस हुआ कि एक दिन वे भी जराजीर्ण अवस्था को प्राप्त होंगे। दूसरे अवसर पर उनकी मुलाक़ात एक बीमार आदमी से हुई जिसे देखकर उन्हें लगा कि एक दिन बीमारी उनको भी धर-दबोचेगी। तीसरे अवसर पर उन्हें एक शव दिखाई दिया जिसे लोग श्मशान की ओर लिये जा रहे थे। उसे देख कर उन्हें अनुभव हुआ कि किसी दिन उनकी भी मृत्यु होगी। चौथे अवसर पर उनकी भेंट एक संन्यासी से हुई जिसके चेहरे पर अपूर्व शांति थी और जिसने सत्य के अन्वेषण

का [illegible] अपना रखा था। बुद्ध ने मध्यमार्ग के मार्ग पर चल कर बुढ़ापा, रोग और मृत्यु से छुटकारा पाने का संकल्प किया।

[illegible] गृह त्याग के पश्चात् उन्होंने छह वर्षों तक धर्म के निगूढ़ तत्वों को समझने के लिए कठोर तप किया। उन्होंने कल्पना की थी कि इंद्रिय दमन और [illegible] सत्य को पा सकेंगे। किंतु इस साधना से उन्हें कोई लाभ न हुआ। उन्होंने कठोर साधना का परित्याग करके सामान्य जीवन बिताने का निश्चय किया। एक दिन उन्होंने [illegible] नदी के जल से स्नान किया और सुजाता नामक एक गृहिणी के हाथ की परोसी हुई खीर स्वीकार की। शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक शांति प्राप्त करके वे सात सप्ताह तक बोधि वृक्ष (पीपल) के नीचे गहनतम ध्यान की अवस्था में बैठे रहे। उन्हें समाधि लग गई। एक दिन उषाकाल में उनकी प्रज्ञा जाग्रत हुई और उन्हें संबोधि (ज्ञान) की प्राप्ति हुई। तभी से उनका संबोधन तथागत अर्थात् '[illegible] वाला' हो गया।

अपनी दार्शनिक चर्चा में बुद्ध [illegible] दस प्रश्नों का उत्तर नहीं देते थे। वे इन प्रश्नों को [illegible] थे। उनका भिक्षुओं को उपदेश था कि इन प्रश्नों की चर्चा उनसे नहीं करनी चाहिए :

(1) क्या विश्व अनादि है ?

(2) क्या विश्व सादि है ?

(3) क्या वह अनंत है ?

(4) क्या वह सांत है ?

(5) [illegible] आत्मा एक है ?

(6) क्या वे परस्पर भिन्न हैं ?

(7) क्या बुद्ध मृत्यु [illegible] हैं ?

(8) क्या वे नहीं रहते ?

(9) क्या वे रहते भी है और नहीं भी रहते ?

(10) क्या वे न रहते है और न कहीं रहते ?

इन प्रश्नों को [illegible] करने में बुद्ध का उद्देश्य मानव बुद्धि को उस [illegible] ज्ञान से मुक्ति दिलानी थी जहाँ तक मानव बुद्धि नहीं पहुँच सकती। वे विवेकवादी थे तथा [illegible] में उनका विश्वास था।

बुद्ध ने जिस सत्य की प्राप्ति की थी उसको उन्होंने 'आर्य सत्य' कहा और उसे चार भागों में विभक्त करके जनता में उपदेशित किया। वे चार आर्य सत्य इस प्रकार हैं :

(1) पहला आर्य सत्य है दुःख। अर्थात् जीवन दुःखों से भरा हुआ है। जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, प्रिय-वियोग तथा अप्रिय की प्राप्ति आदि सभी दुःख हैं।

(2) दूसरा आर्य सत्य है कि दुःख अकारण नहीं है; दुःख का कारण है।
(3) तीसरा आर्य सत्य है कि दुःख से छुटकारा मिल सकता है।
(4) और चौथा आर्य सत्य है दुःख से छुटकारा पाने के लिए उचित आचरण, जिसे अष्टांगिक मार्ग कहा जा सकता है। दुःख से छुटकारा पाने के आठ मार्ग हैं— जीवन के प्रति सम्यक दृष्टि, मन से सम्यक संकल्प, सम्यक वाणी, सम्यक उद्योग, सम्यक स्मृति, सम्यक आजीविका, सम्यक ज्ञान तथा सम्यक समाधि।

बुद्ध ने दुःख की कल्पना एक बारह अंकों वाले (द्वादश) आयतन वाले चक्र से की है जो इस प्रकार है :

(1) जरा-मरण मूलक दुःखों का कारण है :
(2) जन्म ग्रहण करना, किंतु जन्म तब ग्रहण करना पड़ता है जब
(3) जीवन की तृष्णा होती है। भव की तृष्णा—
(4) विषय की तृष्णा को जन्म देती है; अर्थात् जन्म लेने की तृष्णा के मूल में विषय-भोग की तृष्णा प्रधान है; किंतु
(5) विषय-सुख विषयों के इंद्रियों के साथ सन्निकर्ष से प्राप्त होता है, जिसे
(6) बौद्ध दर्शन में वेदना कहा गया है। वेदना का मूल कारण है—
(7) षडायतन अर्थात् छह घर जिनमें पाँच ज्ञानेंद्रियाँ और छठा मन सम्मिलित है।
(8) षडायतन का आधार है नाम और रूप।
(9) नाम रूप का आधार है चेतना का गर्भ में प्रवेश।
(10) यह संबंध विज्ञान के कारण होता है।
(11) विज्ञान का कारण है संस्कार और
(12) संस्कार का कारण है अविद्या अथवा मिथ्याज्ञान जो इस चक्र का परिचालन करता है। बौद्ध साधक इस 12 आयतन के प्रतीक के रूप में 12 मणियों की माला फेरते हैं। वर्तमान जीवन में हमें जो दुःख प्राप्त हो रहे हैं उनका कारण है अतीत जीवन और हमारा वर्तमान जीवन भावी जीवन का हेतु है। काल क्रम की दृष्टि से 12 आयतनों को तीन भागों में विभक्त किया गया है :
   (क) **अतीत जीवन**—अतीत जीवन में अविद्या के संसर्ग से असुख को सुख समझना जिसका परिणाम वासनामय संस्कारों में होता है।
   (ख) **वर्तमान जीवन**—अतीत संस्कार वर्तमान जीवन में विज्ञान को जन्म देते हैं। विज्ञान का पर्याय है अहंकार। अहंकार से नाम रूपात्मक संसार की प्राप्ति होती है, जिसे मनुष्य 5 ज्ञानेंद्रियों और मन के द्वारा प्राप्त करता है। इस प्राप्ति की प्रक्रिया है स्पर्श, अर्थात् बाह्य विषयों और इंद्रियों का सन्निकर्ष। बाह्य विषयों के क्षणिक संसर्ग से जिस सुख का आभास मिलता है, उसे वेदना कहते हैं। वेदना उपादान मूलक है। **अर्थात् यह**

विषयासक्ति को उत्पन्न करती है और विषयासक्ति अमिट तृष्णा बन जाती है। वह तृष्णा ही नवीन जन्म ग्रहण करने की इच्छा को उत्पन्न करती है।

(ग) **भावी जीवन**—भावी जीवन को जाति अथवा पुनर्जन्म भी कहा जा सकता है, जिसकी अनिवार्य परिणति है जरा-मरण।

इस प्रकार यह द्वादश आयतन वाला चक्र निरंतर चलता रहता है, जब तक चेतना अविद्या का परित्याग नहीं कर देती।

आधुनिक भौतिक विज्ञान प्राचीन नियतिवादियों के समान जीवन को एक आकस्मिक घटना मानता है। आधुनिक वैज्ञानिक यह मानते हैं कि पंचभूतों के विशेष सम्मिश्रण से वनस्पतियों से लेकर मनुष्य योनि तक सब रूपाकार प्राप्त होते हैं। किंतु बौद्ध दर्शन जीवन को आकस्मिक घटना न मानकर तृष्णा का परिणाम मानता है। भव की तृष्णा जड़-चेतन अस्तित्व का मूल कारण है। अर्थात् पर्वत, लता गुल्म से लेकर मनुष्यों तक में अस्तित्व की तृष्णा सक्रिय है। इस प्रकार संपूर्ण अस्तित्व तृष्णा के ही विविधाकार हैं।

बुद्ध जहाँ जीवन को दुःख का परिणाम घोषित करते हैं वहाँ दुःख को सकारण घोषित करते हैं तथा दुःख से छूटने की संभावना को भी स्वीकार करते हैं। उनके विचार से दुःख के निरोध का नाम ही निर्वाण है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन को निराशावादी दर्शन नहीं माना जाना चाहिए। सम्यक विवेक, सम्यक आचरण और बुद्ध विचारों के मार्ग से मनुष्य दुःख से छुटकारा पा सकता है। बुद्ध का कार्य-कारण श्रृंखला में, जो भारतीय चिंतन की मौलिक कल्पना है, अटूट विश्वास है। बुद्ध दर्शन में इसे प्रतीत्य समुत्पाद नाम दिया गया है। प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ है कि प्रत्येक नई स्थिति किसी पूर्व स्थिति से कारण श्रृंखला में जुड़ी रहती है। वर्तमान अवस्था में अतीत अवस्था के परिणाम स्वरूप अस्तित्व में आती है तथा नई अवस्था को जन्म देकर क्षणमात्र में समाप्त हो जाती है। इस श्रृंखला अथवा प्रवाह का आदि अंत नहीं खोजा जा सकता। इस प्रवाह की परिसमाप्ति निर्वाण में होती है। 'निर्वाण' शब्द का प्रयोग एक रूपक का अर्थ रखता है। दीपक तभी तक जलता है जब तक वह उसमें तेल रहता है। यदि दीपक में तेल का आयात बंद कर दिया जाए तो जितना तेल उसमें संचित है उसके जल जाने पर दीपक का निर्वाण हो जाएगा। इसी प्रकार विषयभोगों का आस्राव चेतना से समाप्त कर दिया जाए तो संचित भोगों की तृष्णा स्वतः समाप्त हो जाएगी।

बुद्ध के व्यक्तित्व और वाणी में अद्भुत शक्ति थी। जो कोई एक बार उनके संपर्क में आ जाता था वह उन्हीं का हो जाता था। उन्होंने महलों से लेकर झोंपड़ी तक सत्य का संदेश दिया। वे 45 वर्षों तक निरंतर भ्रमण करते हुए जीवन की सादगी, त्याग और परोपकार का उपदेश देते रहे। मानव मानव के बीच में उन्हें किसी भी प्रकार का भेदभाव स्वीकार न था। अस्सी वर्ष की आयु में वे कुशी नगर की ओर जा रहे थे कि अचानक बीमार

पड़ गए। उनका प्रिय शिष्य आनंद उनके साथ था। वे एक रमणीक पहाड़ी पर विश्राम करने को रुके। हिरण्यवती नदी के तट पर शालवृक्षों के एक कुंज में उन्होंने आनंद को पर्णशैया तैयार करने की आज्ञा दी। उनकी गिरती हुई अवस्था को देख कर अपने प्रिय गुरु के भावी वियोग की संभावना से आनंद फूट-फूट कर रोने लगा। आनंद को स्नेह सिक्त वाणी में शांतिपूर्वक सांत्वना देते हुए बुद्ध ने कहा—'रो मत आनंद ! मनुष्य को अपनी सभी प्रिय वस्तुओं से विदा लेनी ही पड़ती है। यह कैसे हो सकता है कि जिसने जन्म लिया है वह मरे नहीं। संभवतः तुम यह सोचते हो कि तुम्हारा कोई गुरु न रहेगा—तुम ऐसा मत सोचो। मैंने तुम्हें आज तक जो उपदेश दिए हैं वे ही तुम्हारे गुरु हैं।' यही बुद्ध के अंतिम शब्द थे।

बुद्ध वाणी

भगवान बुद्ध के उपदेश मानव संस्कृति की अक्षय निधि हैं। उस वाणी में जीवन का ऐसा सत्य निहित है कि उनका एक एक शब्द सीधा हृदय पर प्रभाव डालता है। यहाँ उनकी अमर वाणी के कुछ अंश उद्धृत किए जाते हैं—

(1) इस संसार में बैर के द्वारा बैर शांत नहीं होता। बैर तो अबैर के द्वारा शांत होता है। यही सनातन धर्म है।

(2) जैसे भली प्रकार आच्छादित घर में वर्षा का जल प्रवेश नहीं कर पाता वैसे ही सुभावित चित्त में राग प्रवेश नहीं पाता।

(3) इस लोक में पापकर्मी शोक में डूबा रहता है। वह अपने पापों का स्मरण करके परलोक के विषय में चिंता में डूबा रहता है।

(4) उद्योग, अप्रमाद, संयम और इंद्रियदमन के द्वारा अपने लिए एक ऐसे द्वीप का निर्माण करना चाहिए जिसे तृष्णा की बाढ़ डुबा न सके।

(5) राग को जिसने जीत लिया है और द्वेष जिसके चित्त से दूर हो गया है, ऐसे निष्पाप पुरुष को कोई भय नहीं।

(6) चंदन और अगरु, कमल और जुही की सुगंधि से शील की सुगंधि उत्तम है।

(7) उसी काम को करना अच्छा है, जिसे कर के पीछे पछताना न पड़े और जिसका फल प्रसन्नतापूर्वक सुलभ हो।

(8) पर्वत जैसे झंझाओं से कंपित नहीं होता वैसे ही पंडित निंदा और स्तुति में विचलित नहीं हुआ करते।

(9) बहुत आसान है बुरे कामों का करना, जिससे अपना ही अहित होता है, अत्यंत कठिन तो ऐसे काम करने हैं जो हितकारी और अच्छे हैं।

(10) एक भी पाप कर्म न करना, पुण्य कर्मों का संचय करना और अपने चित्त को विशुद्ध रखना—यही बुद्ध का अनुशासन है।

(11) आरोग्य सबसे बड़ा लाभ है, तृष्णा से ही भय है।
जो तृष्णा से मुक्त हो गया है उसके लिए कोई शोक नहीं है, फिर भय कहाँ से होगा ?

(12) सच्चा रथी तो मैं उसी को कहूँगा जो चढ़ते हुए क्रोध को भटके हुए रथ की तरह क़ाबू में कर लेता है।
दूसरे तो केवल लगाम थामनेवाले होते हैं।

(13) क्रोध को अक्रोध से, बुराई को भलाई से,
कंजूस को दान से तथा झूठ को सत्य से जीतना चाहिए।[1]

(14) न तो राग के समान कोई आग है, न द्वेष के समान कोई अनिष्टकारी ग्रह है।
मोह जैसा कोई जाल नहीं और तृष्णा जैसी कोई नदी नहीं।[2]

(15) प्राणियों की हिंसा करने से कोई आर्य नहीं हो जाता। आर्य तो उसे कहना चाहिए जो कभी किसी की हिंसा नहीं करता।

(16) एसे लोग बहुत थोड़े हैं जो असल में पार जाने की इच्छा रखते हैं। अधिकांश तो एसे ही हैं जो किनारे किनारे दौड़ते रहते हैं।

(17) युद्ध में सहस्रों को जीतने वाले की अपेक्षा वह कहीं अधिक युद्ध विजयी है जो एक अपने आप को जीत लेता है।

(18) आलस्य और अनुद्योग के सौ वर्षों के जीवन से ऐसा एक दिन का जीना कहीं उत्तम है जो दृढ़ उद्योग से युक्त हो।

(19) सत्कर्म करने में शीघ्रता की जाए और पाप से चित्त को हटा लिया जाए, पुण्य कर्म करने में जो ढिलाई करता है उसका मन पाप पंक में सन जाता है।

(20) दंड से सभी डरते हैं। जीवन सभी को प्यारा है। अपनी ही तरह दूसरों को जान कर न तो स्वयं मारना चाहिए और न किसी दूसरे को मारने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

(21) मनुष्य की बुद्धि न तो नग्न रहने से शुद्ध होती है और न जटा बढ़ाने से, शरीर पर पंक लपटने से भी नहीं और न उपवास करने से, न कड़ी जमीन पर सोने से और न मिट्टी मलने से अथवा उकड़ूँ बैठने से; जब तक उसकी तृष्णा शांत नहीं होती।

(22) दूसरों को उपदेश देने से पहले अपने आपको ही सही रास्ते पर लाना चाहिए।

(23) मनुष्य अपना स्वामी आप है, दूसरा कौन उसका स्वामी होगा। जिसने अपने आप पर ठीक तरह से नियंत्रण कर लिया है वही दुर्लभ स्वामित्व पाता है।

(24) दूसरों को दुःख देकर कोई भी मनुष्य सुखी नहीं रह सकता।

(25) उत्तम है एक भी पाप न करना, क्योंकि बुरा काम करने वाला पीछे पछताता है। उत्तम है सत्कर्म करना, जिसे करने से पछताना नहीं पड़ता।

(26) ब्राह्मण न तो जटा बढ़ाने से होता है और न कुल विशेष में जन्म लेने से। वही पवित्र है और वही ब्राह्मण है जो सत्यवान और धर्मप्रिय है।

(27) ब्राह्मण तो मैं उसे कहता हूँ जो विषय भोग में लिप्त नहीं होता, जैसे—कमल के पत्ते पर जल की बूँदें और आरे की नोंक पर सरसों नहीं ठहरती।

(मूलवाणी के लिए देखिए परिशिष्ट)

यज़दानी अथवा पारसी धर्म

इस्लाम और ईसाई धर्मों के समान यज़दानी धर्म भी मसीही धर्म है। किंतु यह उक्त दोनों धर्मों से कहीं अधिक प्राचीन है। 'जंद-अवेस्ता' कुरान और बाइबिल के समान इनकी धर्म पुस्तक है, किंतु यह एक सारगर्भित और संक्षिप्त पुस्तक है। यज़दानी अथवा अग्निपूजक पारसी धर्म ग्रंथ का बड़ी श्रद्धा और भक्ति से पाठ करते हैं।

जिस समय ईरान पर मुस्लिम धर्म का आक्रमण हुआ, उस समय ईरान और फ़ारस में यज़दानी धर्म का प्रचार था। धार्मिक अत्याचारों से बचने के उद्देश्य से बहुत से यज़दानी धर्मानुयायियों ने भारत में शरण ली और भारत के पश्चिमी भाग में आकर बस गए। तब से अब तक पारसी समाज व्यापक भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग है। पारसी समाज स्वभाव से शांत और परिश्रमी तथा सुसंस्कृत समाज है। उद्योग और व्यापार इस समाज का मुख्य पेशा है। शुभ आचार, शुभ वचन और शुभ कर्म यही इस धर्म का मूल मंत्र है और मानवीय संस्कृति की आत्मा भी इसी मूल मंत्र में निहित है। वेदों में जिस प्रकार ईश्वर को सत्, चित् और आनंदमय माना गया है उसी प्रकार मानवीय संस्कृति को भी मन-वचन-कर्म की शुद्धता माना जाना चाहिए। यज़दानी धर्म का यही विश्वास है।



ज़रथुस्त्र

यज़दानी धर्म के प्रवर्तक ज़रथुस्त्र मसीह हैं जिनका जन्म ईसा से छह सौ वर्ष पहले माना जाता है।

जरयुस्त के विषय में भी उसी तरह से अनेक चमत्कारी घटनाएं प्रसिद्ध हैं। जैसे—प्राय: प्रत्येक धर्म प्रवर्तक के जीवन के विषय में प्रचलित हुआ करती हैं। इनका जन्म फ़ारस के प्रसिद्ध नगर आज़र बाईजान में हुआ था जो मीडिया प्रांत के पश्चिम की ओर है। इनको बचपन से ही विरोधों का सामना करना पड़ा। महात्मा ज़रथुस्त्र आजीवन मनुष्य की विकृतियों के विरुद्ध संघर्ष करते रहे और मानवीय सद्गुणों के प्रचार में इन्होंने महात्मा ईसा के समान आत्मबलिदान भी किया। बालक प्रह्लाद को जिस प्रकार उसी के पिता हिरण्यकश्यपु के द्वारा नाना प्रकार की यातनाएँ दी गई थीं, उनके प्राण लेने के लिए अग्नि तक में जलाया गया था, इसी प्रकार तत्कालीन फ़ारस के राजा ने इन्हें कभी भूखे भेड़ियों के आगे डाला, कभी प्रज्वलित अग्नि में झोंका, तो कभी जानवरों के रास्ते में कुचलने को फेंका, किंतु ईश्वर की इच्छा से इनका कभी बाल बाँका न हुआ।

हज़रत जरथुस्त असाधारण प्रतिभा संपन्न कुशाग्र, विद्याव्यसनी अध्यवसायी, परिश्रमशील, अपूर्व साहसी और शूरवीर थे। अल्पकाल में ही इन्होंने धार्मिक शिक्षा प्राप्त कर ली थी और फ़ारस के प्रचलित मत के पुजारियों को धर्म चर्चा में पराजित किया था। पंद्रह वर्ष की अल्प आयु में आप सत्य की खोज में घरबार छोड़ कर निकले और जो कोई भी इन्हें छेड़ता उससे केवल एक प्रश्न करते—वह कौन है जो मुझे अटल, ध्रुव सत्य का साक्षात्कार करा सके और कहाँ है वह ? अंत में महात्मा बुद्ध के पास पहुँचे और कहा जाता है कि उनके उपदेश से इन्हें सत्य का साक्षात्कार हुआ। भगवान बुद्ध के समान इन्होंने निर्जन गिरि गुहा में प्रवेश करके कठोर तपस्या की। सिलान नामक पर्वत पर समाधि की अवस्था में इन्हें 'इल्हाम' हुआ और वहीं इन्होंने ईश्वर का साक्षात्कार किया। ईश्वर की आज्ञा से हज़रत जरथुस्त्र ने धर्म प्रचार करना आरंभ किया। उन्होंने एक विरक्त संन्यासी के रूप में अपना जीवन व्यतीत किया और नास्तिकता से आस्तिकता की ओर जनता को मोड़ा। कहा जाता है कि आहुर मज़्द ने इल्हाम की हालत में अवेस्ता नामक धर्म ग्रंथ प्रदान किया। 'अवेस्ता' का एक भाग 'जंद' कहलाता है। 'जंद-अवेस्ता' एक छोटा सा धर्म ग्रंथ है जिसे पारसी लोग अपने धर्म ग्रंथ के रूप में पूजते हैं। अग्नि की उपासना इस धर्म की प्रमुख विशेषता है। प्रत्येक पारसी धर्मानुयायी के घर में पवित्र अग्नि निरंतर जलती रहती है। महात्मा जरथुस्त्र का कथन है—'अग्नि सबको शुद्ध तथा निर्मल बनाती है। अग्नि जीवन का प्रतीक है'।

हज़रत जरथुस्त्र के मुख्य आदेश निम्नलिखित हैं :

1. तू ईश्वर को प्यार करेगा।
2. तू नित्य प्रति अपने स्रष्टा और पालक को शीश नवाएगा और अपनी संतान को भी ऐसा करने की शिक्षा देगा।
3. तू अपने माता-पिता का सम्मान करेगा और उनकी आज्ञाओं का पालन करेगा।

4. तू वह वस्तु नहीं लेगा जो तेरी नहीं है।
5. तू अपनी किसी वस्तु पर घमंड नहीं करेगा, क्योंकि इस संसार में कोई भी वस्तु तेरी नहीं है।
6. तू असत्य भाषण से दूर रहेगा।
7. तू परनिंदा नहीं करेगा।
8. तू आलसी और अकर्मण्य नहीं बनेगा।
9. तू ईर्ष्या नहीं करेगा और न किसी पुरुष, स्त्री अथवा बालक की हत्या करेगा। तू अपने मन में हिंसा का भाव किसी के प्रति नहीं रखेगा।
10. तू उपवास के दिन शुद्ध और पवित्र रहेगा।
11. तू अपने ही गोत्र की स्त्री के साथ विवाह नहीं करेगा। हाँ पाँचवीं पीढ़ी के बाद गोत्र संबंध में ढील दी जा सकती है।

इस प्रकार ने जुरथुस्त्र यज़दानी धर्म में नैतिक पवित्रता को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। यदि हिंदू धर्म अथवा बौद्ध धर्म से हम इस धर्म की मूल बातों की तुलना करें तो हमें दोनों में अधिकांश बातें समान मिलेंगी। भारत की सामासिक संस्कृति के विकास में यज़दानी धर्म का महत्वपूर्ण योगदान है।

ईसाई धर्म और ईसा मसीह

ईसा मसीह का जन्म यूरोशलम के समीप एक यहूदी परिवार में हुआ था। हजरत मसीह असाधारण रूपवान उज्जवल कांति और गौरवर्ण के थे। उन दिनों यूरोशलम नगर में कहनों के अत्याचार हो रहे थे। उस समय का शासनकर्ता हेरोडेस था जो एक अत्याचारी शासक था। उसने इनके माता पिता को पकड़वाना चाहा किंतु वे मिश्र देश चले गए। कई वर्ष तक यूसुफ और मरियम मिश्र देश में रहे और वहीं बालक मसीह की शिक्षा-दीक्षा हुई। हेरोडेस की मृत्यु के पश्चात यूसुफ फिर यूरोशलम लौट आए।

कहा जाता है कि शैतान ने मसीह को पाप की ओर खींचने की अनेक बार कोशिश की, किंतु मसीह का मन कभी भी विचलित न हुआ। हजरत मसीह की वाणी में जादू था। जो कोई भी इनके उपदेशों को सुनता वही मुग्ध हो जाता। मसीह लोगों को भ्रातृ-भाव और प्रेम की शिक्षा देते थे। वे अमीरों और सूदखोरों को गरीबों पर अत्याचार करने से रोकते थे। मसीह मूर्तिपूजा के विरुद्ध एक अद्वितीय परमात्मा की पूजा करने का उपदेश देते थे। धीरे-धीरे मसीह के चारों ओर अनुयायियों की भीड़ एकत्र होने लगी और इसी कारण बड़े-बड़े मठाधीश इनसे शत्रुता मानने लगे।



ईसा मसीह

ईसा मसीह की कथनी और करनी में कोई अंतर नहीं था। वे जैसा उपदेश देते थे उसी के अनुसार आचरण करते थे। वे पापियों से घृणा नहीं करते थे और जो कोई भी व्यक्ति उनके समीप आता था उसे वे प्रेमपूर्वक धर्म का उपदेश देते थे। विधवा के मृतक पुत्र को पुनर्जीवित करने जैसी अनेक चमत्कारी घटनाएँ भी इनके विषय में प्रसिद्ध हैं।

मसीह के समय में सन्मार्ग के प्रचार में कैसी बाधाएँ थीं, इनका अनुमान शिष्यों को धर्म प्रचार की आज्ञा देते समय कहे गए ईसा के अधोलिखित शब्दों से लग सकता है : 'मेरे नाम के कारण सब लोग तुम्हारे प्रति बड़ा विरोध और द्वेष प्रकट करेंगे। धर्म प्रचार का कार्य बड़ा ही दुस्तर है। जिन लोगों के बीच तुम प्रचार करने जाते हो वे मेरा नाम सुनते ही तुम्हें कोड़े मारेंगे और तुमको अपने नगर से बाहर खदेड़ देंगे। वे तुम्हें पकड़ कर न्यायालयों में भी ले जाएँगे, पर तुम घबड़ाना मत। तुम्हें चाहिए कि जब तुम नगर में सताए जाओ, तब वहाँ से दूसरे नगर में चले जाओ और वहाँ मन लगाकर धर्म प्रचार के पुनीत कार्य में प्रवृत्त रहो। तुमको उचित है कि तुम अपने कमरबंद में सोना व चाँदी कुछ न रखो। रास्ते के लिए न झोली लेना, न तो कुर्ते, न जूतियाँ और न लाठी ''' इत्यादि।'

मसीह ने आजीवन प्रेम और भ्रातृभाव का उपदेश दिया। लेकिन षड्यंत्रकारियों ने इनके क्रांतिकारी विचारों से असहमत होने के कारण इन्हें प्राण दंड दिलाया। सूली पर लटकते समय मसीह ने अपने विरोधियों के लिए ईश्वर से प्रार्थना की—हे पिता! इनका अपराध क्षमा कर दे, ये नहीं जानते कि ये क्या कह और कर रहे हैं।

मसीह का जीवन एक आदर्श, अति उच्च तथा नितांत पवित्रतामय था। वह मृत्यु तक लोगों को सत्य और न्याय का पथ दिखाते और समझाते रहे। वे बाल ब्रह्मचारी थे। उनका कट्टर से कट्टर विरोधी उनके चरित्र में एक भी दोष नहीं निकाल सका। बाइबिल में ईसा की जीवनी और उपदेश संकलित हैं, जो ईसाइयों का धर्म ग्रंथ है।

ईसा मसीह की शिक्षा

सबसे बड़ा आदेश यह है कि ईश्वर एक है और वही हमारा स्वामी है। उस भगवान को तू समूचे प्राणों से, अपनी समस्त बुद्धि और सामर्थ्य से प्यार कर।

तू अपने पड़ोसी को अपने समान प्यार कर।

अपने भाइयों को प्यार करना सब प्रकार की उपासना से बढ़कर है।

प्रभु प्रेम है। सब के साथ प्रेम का बर्ताव कर।

अपने अमूल्य जीवन का एक दिन भी आलस्य में न गँवा। सदा सचेष्ट और प्रयत्नशील और तैयार रह।

धन्य हैं वे जो ग़रीब हैं। कारण स्वर्ग उन्हीं का है। धन्य हैं वे जो शोकातुर हैं, क्योंकि वे सांत्वना के अधिकारी होंगे। धन्य हैं वे जो सत्य तथा न्याय के भूखे और प्यासे हैं, क्योंकि वे ही संपत्तिशाली होंगे। धन्य हैं वे जो दयावान हैं, क्योंकि उनके प्रति दया दिखाई जाएगी। धन्य हैं वे जिनका हृदय पवित्र और निर्मल है, क्योंकि उन्हें प्रभु का साक्षात्कार मिलेगा। धन्य हैं वे जिन्हें धर्म तथा सत्य के कारण कष्ट झलने पड़ते हैं। वस्तुतः स्वर्ग के राज्य के अधिकारी वे ही ठहरेंगे।

जो व्यक्ति परायी स्त्री पर कुदृष्टि डालता है वह मन से उसके साथ व्यभिचार कर चुका। इसलिए यदि तेरी दाहिनी आँख किसी स्त्री को बुरी नियत से देखे तो उसे निकाल दे। एक अंग न होना अच्छा है, पर यह अच्छा नहीं कि एक अंग के कारण पूरे शरीर को नरक यातनाएँ झेलनी पड़े।

जो व्यक्ति व्यभिचार के अतिरिक्त और किसी अपराध से अपनी पत्नी को घर से निकालता है, उससे व्यभिचार कराता है और जो ऐसी परित्यक्ता स्त्री के साथ विवाह करता है वह मानो उसके साथ व्यभिचार करता है।

कहा गया है कि अपने पड़ोसी के साथ मित्रता रख और अपने शत्रु के साथ शत्रुता का बर्ताव कर। परंतु मैं कहता हूँ कि अपने शत्रु को तू प्यार कर, जो तुझे धिक्कारे उसके लिए ईश्वर से प्रार्थना कर, जो तुझसे ईर्ष्या द्वेष रखे उसके प्रति उपकार कर, जिससे तू अपने पिता (ईश्वर) की योग्य संतान कहला सके। वह पिता दुष्ट और सज्जन दोनों पर समान रूप के सूर्य का प्रकाश और चंद्रमा की शीतल चाँदनी फैलाता है। वह अच्छे और बुरे दोनों पर समान रूप से जल बरसाता है। यदि तू केवल उन्हें ही प्यार करता है जो तुझसे प्यार करते हैं तो इसमें तेरा गौरव क्या है? ऐसा तो सभी करते हैं। तू प्रभु के समान पूर्ण बन।

प्रतिहिंसा के बदले में कहा जाता है कि आँख के बदले में आँख और दाँत के बदले में दाँत निकाल लो। परंतु मैं तुमसे कहता हूँ कि अत्याचारी और आततायी का सामना न करना, वरन् यदि कोई तुम्हारे दाहिने गाल पर तमाचा मारे तो तुम दूसरा भी उसकी ओर फेर दो।

यदि तू चाहता है कि प्रभु को तू पसंद आए, तो तू अपने पुण्य कर्मों को लोगों के सामने न दिखला। जब तू दान दे तो ऐसे ढंग से दे कि तेरा दाहिना हाथ दे तो बाएँ हाथ को उसका पता न चल सके। पाखंडियों के समान सड़कों और गलियों के सामने प्रार्थना न कर, जिससे लोग तुझे देखकर धर्मात्मा समझें। जब तू व्रत-उपवास कर, तब कपटी और ढोंगियों की तरह दूसरों के सामने उसका प्रदर्शन न कर।

तुम ईश्वर और लक्ष्मी दोनों की एक साथ सेवा नहीं कर सकते।

विश्वास और निश्चय के साथ प्रार्थना करो। माँगो, तुम्हें दिया जाएगा। खोजो, तुम पाओगे। खटखटाओ, दरवाजा तुम्हारे लिए खोल दिया जाएगा। तुम में से कौन ऐसा स्त्री-पुरुष है जिसका पुत्र उससे रोटी माँगे और वह उसको पत्थर दे अथवा यदि वह मछली माँगे तब उसको सर्प दे! जब तुम बुरे होकर भी अपने पुत्रों को अच्छी वस्तुएँ देना जानते हो तब तुम्हारा स्वर्गीय पिता, उन्हें जो उससे याचना करते हैं, कितनी बहुत अच्छी वस्तुएँ प्रदान करेगा?

जो तुम चाहते हो कि लोग तुम्हारे साथ भला करें तो वैसा तुम भी उनके साथ करो। धर्म की सारी शिक्षा का निचोड़ यही है कि दूसरों के छिद्र देखने से बचो, जिससे

तुम्हारे छिद्र भी न ढूंढ़े जा सकें। जिस मीटर से तुम दूसरों को नापते हो उसीसे तुमको भी नापा जाएगा। तुम्हें अपने भाई की आँख में तिनका तो दिखाई देता है, किंतु अपनी आँख में कड़ी नहीं दीख पड़ती। पहले अपनी आँख से शहतीर निकाल डालो, पीछे अपने भाई की आँख से तिनका निकालना।

कहा गया है कि तू झूठी शपथ न खा और शपथपूर्वक जो प्रतिज्ञा की है उसे पूरा कर। किंतु मैं कहता हूँ कि तू शपथ कभी न खा; न तो आकाश की, क्योंकि वह प्रभु का सिंहासन है और न अपने सर की, क्योंकि तू अपने सर का एक बाल भी काला या सफ़ेद नहीं कर सकता।

इस्लाम धर्म

जो लोग यह समझते हैं कि भारत में इस्लाम धर्म केवल तलवार से फैला है व मानव मनोविज्ञान तथा इस्लाम धर्म दोनों के प्रति अनभिज्ञता पर्दाशित करते हैं। वस्तुतः भारत में मुसलमानी शासन, इस्लाम धर्म का प्रचार, हिंदू और मुसलमानों के पारस्परिक संबंधों का ठीक-ठाक लेखा-जोखा हो नहीं पाया है।

मानव मनोविज्ञान की यह विशेषता है कि मनुष्य ऐंद्रिय भोगों की ओर झुकता है। योनि सुख समस्त ऐंद्रिय सुखों का केंद्र है। किंतु जब वैयक्तिक रूप से या सामूहिक रूप से मनुष्य भोगवाद का गुलाम बन जाता है तो उसकी चेतना में भोगवाद के प्रति तीव्र विरक्ति उत्पन्न होने लगती है। हिंदू समाज ने अतिवाद से बचने के लिए अपने जीवन को चार भागों (आश्रमों) में बाँट लिया था। इनमें से केवल गृहस्थ आश्रम को दांपत्य-रति के लिए निर्धारित किया गया था, किंतु गृहस्थ आश्रम सामाजिक ऋणों से इतना अधिक अनुशासित था कि उसमें केवल भोगों में लिप्त रहने की गुंजाइश ही नहीं थी। अतः हिंदू संस्कृति किसी भी युग में भोगवादी संस्कृति नहीं रही। जीवन के पुरुषार्थों में 'काम' का महत्वपूर्ण स्थान था, किंतु एक ओर वह धर्म से अनुशासित था, दूसरी ओर मोक्ष की ओर अनुप्रेरित था जिसे जीवन का चरम लक्ष्य निर्धारित किया गया था। हज़रत मुहम्मद ने जिस समय अरब की भूमि पर ईश्वरीय संदेश के रूप में नए धर्म का प्रचार किया उस समय अरबों का नैतिक और सांस्कृतिक चेतना का तापमान शून्य डिग्री तक उतर चुका था। सामान्य जनता असंख्य देवताओं की पूजा करती थी, जिनकी मूर्तियों का ढेर वहाँ के हर एक मंदिर में लगा हुआ था। अंधविश्वास और रूढ़ियों के जाल में बद्ध समाज, इस्लाम के प्रचार के पहले का अरब समाज उलझा हुआ था। ऐंद्रिय भोग जीवन का केंद्र बन चुका था और वेश्या वृत्ति योनि सुख की मुख्य साधन थी। समाज में नारी वर्ग की स्थिति बहुत शोचनीय थी। उनका न तो सामाजिक गौरव था और न कोई मानवीय अधिकार। आम जनता भयंकर ग़रीबी का शिकार हो रही थी और सूदखोरी जनता का निर्मम शोषण कर रही थी। ऊँच-नीच की खाई भी इस समाज में काफ़ी चौड़ी थी, किंतु जुआ और शराब की दुर्बलता पूरे समाज में विद्यमान थी। अतः अरब की संतृप्त भूमि अपने परित्राता की प्रतीक्षा कर रही थी और यह परित्राण उसे हज़रत मुहम्मद के संदेशों में मिला। प्रत्येक मुसलमान इन संदेशों को ईश्वरीय संदेश मानता है। इसलिए मुहम्मद

साहब को पैगंबर या नबी कहा जाता है। इन्हीं संदेशों का संग्रह मुहम्मद साहब की मृत्यु के पश्चात् खलीफा अबूबक्र ने कुरान शरीफ में किया।

'इस्लाम' अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ होता है शांति में प्रवेश करना। इस्लाम धर्म बहुत सरल धर्म है। इसमें न तो कर्मकांड की जटिलताएँ हैं और न दार्शनिक मतवादों की उलझनें। इस्लाम धर्म मानव में कोई स्तर निर्धारित नहीं करता, जैसे कि हिंदू धर्म में ब्राह्मणादि चार स्तर निर्धारित किए गए हैं। इस्लाम धर्म समता और भाईचारे पर आधारित है। जिस समय आम जनता ने उसका स्वागत किया, किंतु जिनके हाथों में समाज की बागडोर थी उन्होंने उनका कड़ा विरोध किया। विरोध यहाँ तक बढ़ा कि मुहम्मद साहब के समर्थकों और विरोधियों के बीच में सत्य का निर्णय तलवार की धार की कसौटी पर होने लगा। मुहम्मद साहब साधक थे, फकीर थे। उनके पास केवल सत्य का बल था। उनके पास न तो धन की शक्ति थी और न सैनिक शक्ति थी। विरोधियों के कड़े प्रतिरोध के परिणाम स्वरूप उन्हें मक्का से भाग कर मदीना में शरण लेनी पड़ी। जंगलों और पहाड़ों में छिपना पड़ा। अंत में सत्य की विजय हुई। प्रकाश ने अंधकार पर काबू पाया और अरब भूमि ने खुले हृदय से मुहम्मद साहब को अपना पैगंबर कबूल किया। 'सुन्नत' नामक पुस्तक में मुहम्मद साहब के व्यक्तित्व और कृतित्व का प्रामाणिक लेखा-जोखा है। उनके उपदेश 'हदीस' में संकलित हैं, किंतु समाधि की अवस्था में उन्हें जो ईश्वरीय संदेश मिले वे कुरान में संकलित हैं, जो संपूर्ण विश्व के मुसलमानों का पवित्र ग्रंथ है।

कुरान के पदों को आयतें कहा जाता है। ये आयतें मुहम्मद साहब को 22-23 वर्षों की अवधि में समय-समय पर प्राप्त हुई थीं। इन 23 वर्षों की अवधि में मुहम्मद साहब 13 वर्ष मक्का तथा 10 वर्ष मदीना रहे। मक्का और मदीना मुसलमानों के पवित्र तीर्थ स्थान हैं। प्रत्येक मुसलमान की यह दिली ख्वाहिश होती है कि वह एक बार इन पवित्र तीर्थों की यात्रा कर सके।

जैसा कि आरंभ में कहा गया है कि मुहम्मद साहब के आगमन के पूर्व तत्कालीन समाज में मूर्ति-पूजा का प्रचलन था और उसकी प्रतिक्रिया में इस्लाम धर्म का उदय हुआ था। इसलिए इस्लाम धर्म में मूर्ति पूजा पुण्य नहीं, बल्कि पाप माना जाता है। इसी प्रकार बहुदेव वाद की प्रतिक्रिया में मुसलमान धर्म में एकेश्वरवाद का उदय हुआ। कुरान शरीफ की यह आयत कि 'अल्लाह के सिवा और कोई पूजनीय नहीं है और मोहम्मद उसके रसूल हैं' (ला-इलाहा इल्लिल्लाह मुहम्मदर्रसूलिल्लाह) इस्लाम धर्म का मूल मंत्र है। ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म में अनेक बातें समान हैं, क्योंकि दोनों धर्म सामी (सिमेटिक) समुदाय की उपज हैं। किंतु इस्लाम धर्म ईश्वर के अस्तित्व को निराकार मानता है। अतः वह ईसा ईश्वर का पुत्र है, इस बात को नहीं मानता, क्योंकि संतति उत्पादन कार्य से वह मानव कोटि में आ जाएगा। कुरान में इस प्रकार की

आयतें हैं 'यदि ईश्वर को संतानोत्पादक कहोगे तो आकाश फट जाएगा और धरती उलट जाएगी'।

कुरान में शक्तिशाली और न्यायी ईश्वर की कल्पना है जो कोप और अनुग्रह दोनों करता है। दुष्टों के प्रति वह जितना क्रूर है, भक्तों के प्रति उतना ही अनुग्रहशील है। यह ईश्वरवाद भारतीय भक्ति भावना के अनुकूल है। अंतर केवल इतना है कि भक्तिवाद में ईश्वर अवतार लेकर दुष्टों का दलन और भक्तों पर अनुग्रह करता है, जबकि कुरान में साकार ईश्वर की कोई कल्पना नहीं। फिर भी उसका सिंहासन सातवें आसमान पर माना जाता है। बुरे कर्मों का परिणाम बुरा होता है और अच्छे कर्मों का अच्छा। यह सिद्धांत भी हिंदू धर्म और इस्लाम धर्म में समान रूप से स्वीकृत है। मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग नरक का फैसला होता है। पापियों को नरक (दोजख) और पुण्यात्माओं को स्वर्ग (बहिश्त) नसीब होता है—यह विश्वास भी दोनों धर्मों में समान है। यद्यपि क़यामत की कल्पना इस्लाम धर्म की अपनी कल्पना है तथा विभिन्न योनियों में भटकने की कल्पना इस्लाम धर्म में नहीं है। हिंदू धर्म जिस प्रकार जीवन का लक्ष्य सारूप्य, सालोक्य मुक्ति को मानता है उसी प्रकार इस्लाम धर्म भी मानव जीवन का लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति मानता है।

इस्लाम धर्म मुहम्मद साहब को ईश्वर का पूर्ण पैगंबर मानता है, किंतु वह यह नहीं कहता कि मुहम्मद ही एक मात्र ईश्वर के पैगंबर हैं। कुरान की स्पष्ट आयतें हैं कि भटकी हुई आत्माओं को प्रकाश देने के लिए प्रत्येक युग में और प्रत्येक मानव समुदाय में पैगंबरों का अवतार होता है जो मनुष्य को ईश्वर का मार्ग दिखाते हैं। यह कल्पना भी गीता के उस उपदेश से मिलती-जुलती है जिसमें धर्म का परित्राण करने के उद्देश्य से ईश्वर के अवतार की बात कही गई है।

मुहम्मद साहब के वचन (हदीस)

मुसलमानो ! किसी का ईमान तब तक ठीक नहीं होता जब तक वह दूसरे के लिए वही न चाहे जो स्वयं अपने लिए चाहता है।

जो दूसरों पर दया नहीं दिखाता है उस पर अल्लाह भी दया नहीं दिखाता।

वही मनुष्य श्रेष्ठ है जो दूसरों की भलाई करता है।

ईश्वर उसी मनुष्य को प्यार करता है जिसका हृदय कोमल और प्रेम से परिपूर्ण है।

ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रयत्न न करना हराम है।

बलवान वह है जिसमें इतना आत्मबल है कि अपने क्रोधावेश को क़ाबू में कर सके, न कि वह जो दूसरों को बल पूर्वक पराजित कर सके।

मुसलमान को यह नहीं भाता कि आप तो पेट भरलें, किंतु पड़ोसी भूखा मरे।

अल्लाह तुम्हारे भाव और कर्म देखता है, धन दौलत नहीं।

जो व्यक्ति किसी की भूमि को दबाएगा, क़यामत में उसे सज़ा मिलेगी।

इस लोक में अत्याचार करने वाले और उनके सहायक सब जहन्नुम में जाएँगे। अत्याचार से पीड़ित दुर्बल मनुष्य की ठंडी आहें सीधे खुदा के पास पहुँचती हैं।

जो जैसा करेगा उसे वैसा ही फल मिलेगा।

न्याय पूर्ण विचार की एक घड़ी सत्तर वर्ष की उपासना से कहीं बेहतर है।

पर्वतों से भी भारी, लोहे से भी कड़ी, आग से भी शक्तिशाली जल और वायु से अधिक वेगवाली यदि कोई वस्तु है तो दानशीलता।

भारत का सांस्कृतिक दाय

भारत की आधुनिक भाषाएँ और उनकी साहित्यिक परंपराएँ

भारत की आधुनिक भाषाओं में से असमिया, उड़िया, बंगला, हिंदी, कश्मीरी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगु, कन्नड और मलयालम भाषाओं को क्षेत्रीय तथा संवैधानिक मान्यता प्राप्त है। अपने-अपने राज्यों की ये भाषाएँ राज्य भाषाएँ हैं। सिंधी, उर्दू तथा संस्कृत ऐसी भाषाएँ हैं जिन्हें संवैधानिक मान्यता तो प्राप्त है, किंतु इनका प्रयोग किसी निश्चित क्षेत्र में नहीं होता। उर्दू भाषा इस्लामी संस्कृति की संवाहिका है, सिंधी विस्थापित सिंधी-समाज की और संस्कृत भारतीय संस्कृति की। उपर्युक्त प्रत्येक भाषा की अपनी समृद्ध साहित्यिक परंपराएँ हैं।

भारतीय संस्कृति का विकास मुख्य रूप से आर्य संस्कृति से हुआ है जिसकी अभिव्यक्ति का माध्यम संस्कृत भाषा थी। संस्कृत साहित्य का प्रणयन किसी एक क्षेत्र में नहीं हुआ। इसलिए संस्कृत के प्रति संपूर्ण देश में श्रद्धा की भावना विद्यमान है, साथ ही संस्कृत के महाकाव्यों ने किसी एक भाषा को प्रभावित नहीं किया, अपितु, उर्दू को छोड़कर भारत की सभी भाषाओं ने सांस्कृतिक दाय के रूप में वेद, शास्त्र, पुराण, महाकाव्य आदि से बहुत कुछ लिया है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति के समन्वय और उसकी विविधता में एकता का सूत्र संस्कृत साहित्य में ही मिलता है। भारतीय भाषाओं के आदि और मध्य युगों के साहित्यों में जो अद्भुत समानताएँ परिलक्षित होती हैं उनका आधार भी संस्कृत साहित्य ही है। भारतीय भाषाओं की साहित्यिक परंपरा के सिंहावलोकन के पूर्व संस्कृत भाषा की उन साहित्यिक परंपराओं का संकेत करना अभीष्ट है जिसने अतीत काल से हमें एकता के सूत्र में बाँधे रखा है जिससे हम उस राष्ट्रीय दृष्टि को अपना सकें जो क्षेत्रीय सीमाओं का उल्लंघन करके संपूर्ण नागरिकों को एकता के सूत्र में बाँधे रखने में समर्थ है।

संस्कृत

संस्कृत भाषा जिस प्रकार उत्तरी भारत की संपूर्ण भाषाओं का मूल स्रोत है उसी प्रकार संस्कृत का साहित्य भारतीय संस्कृति का मूल स्रोत है। यह सत्य है कि दक्षिणा-पथ की भाषाओं का मूल स्रोत संस्कृत भाषा नहीं है, किंतु द्रविड परिवार की ऐसी

कोई भाषा नहीं जो संस्कृत के साहित्य से प्रभावित न हुई हो और जिसकी श्रेष्ठतम साहित्यिक कृतियों पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव न पड़ा हो। यह इसलिए हुआ कि अतीत काल से दक्षिण भारत भारतीय संस्कृति का सुदृढ़ केंद्र रहा है। मध्यकाल में जिस समय उत्तरी भारत मुसलमानों और अन्य जातियों के आक्रमणों का शिकार हो रहा था, दक्षिणी भारत में भारतीय संस्कृति फल-फूल रही थी। शंकर से लेकर रामानुज, मध्व, निम्बार्क तथा वल्लभ जैसे आचार्यों ने संस्कृत के माध्यम से भारतीय संस्कृति की नवीन व्याख्या की। नवीन सांस्कृतिक आंदोलनों को जन्म दिया तथा डगमगाते हुए भारतीय संस्कृति के पोत का सफल नेतृत्व किया। वस्तुतः संपूर्ण प्राचीन भारतीय संस्कृति संस्कृत मूलक है और आज के वैज्ञानिक युग में भी हम आध्यात्मिक प्रकाश और नैतिक उत्थान के लिए संस्कृत के ग्रंथों के पन्ने उलटते हैं। संस्कृत वाङ्मय में जीवन का कुछ ऐसा अजस्र-स्रोत है जो युग-युग तक यह भारतीय संस्कृति का पोषण करता रहेगा।

भारतीय संस्कृति के ऐतिहासिक विकास के सर्वेक्षण में हमने वैदिक साहित्य, उपनिषद्, पुराण, रामायण और महाभारत के विषय में बहुत कुछ कहा है। यहाँ संस्कृत साहित्य के शेष पक्षों के विषय में कुछ कहना समीचीन होगा।

ऋग्वेद संस्कृत भाषा का आदि ग्रंथ है। ऋग्वेद के पहले इस भाषा का क्या रूप था, इसका कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है।

वैदिक संस्कृति अथवा आर्य संस्कृति का प्रचार जब संपूर्ण देश में हो गया तो वैदिक संस्कृति का प्रयोग वे अनार्य लोग भी करने लगे जिनकी मातृभाषा संस्कृत नहीं थी। उनके उच्चारण और प्रयोग में अशुद्धियाँ और त्रुटियाँ होना स्वाभाविक था। इस-लिए शिक्षा-ग्रंथ लिखे जाने की आवश्यकता महसूस हुई और वैदिक युग में ही व्याकरण, निरुक्त तथा शिक्षा-ग्रंथ लिखे जाने लगे थे। आर्य संस्कृति में यज्ञ-याग की प्रधानता थी। जब संपूर्ण देश में यज्ञों का प्रचलन प्रारंभ हुआ तो यज्ञ-विधान के लिए भी निर्देशक साहित्य की आवश्यकता हुई। जिस साहित्य के द्वारा इस अभाव को दूर किया गया उसे वेद का व्याख्यात्मक अंग होने के परिणाम स्वरूप 'वेदांग' कहा गया। वेदांग छह हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष। शिक्षा-ग्रंथों में वेद मंत्रों के शुद्ध उच्चारण की रीति का विधान है। कल्प सूत्रों में यज्ञ-याग का विधान है। हिंदू धर्म के धार्मिक रीत्याचार, संस्कार और अनुष्ठानों का विधान भी कल्प सूत्रों में है। अतः कल्प-शास्त्र तीन उपवर्गों में बंटा हुआ है—श्रौत, गृह्य और धर्म। यज्ञ-याग का विधान श्रौत सूत्रों में, गर्भाधान से लेकर मृत्यु तक के संस्कारों का विधान गृह्य सूत्रों में तथा वर्णाश्रम का विधान धर्म सूत्रों में किया गया। कालांतर में स्मृतियों की रचना इन्हीं धर्म सूत्रों के आधार पर हुई। स्मृतियों में मनुस्मृति अधिक लोकप्रिय हुई। मध्यकाल में हिंदू धर्म का निदेशन मनुस्मृति के द्वारा होता रहा।

वैदिक संस्कृत पर अनेक व्याकरण लिखे गए जिनमें शौनक और कात्यायन

के प्रातिशाक्य अधिक प्रसिद्ध हैं। व्याकरण ग्रंथों में पाणिनि का अष्टाध्यायी व्याकरण लौकिक संस्कृत पर लिखा गया। यह सूत्र रूप में लिखा गया तथा पतंजलि ने इस पर महाभाष्य लिखा। वैदिक संस्कृत के पारिभाषिक शब्दों की एक सूची 'निघंटु' कहालती है। इस पर यास्क का 'निरुक्त' एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। निरुक्त में शब्दों की व्युत्पत्ति और व्याख्या प्रस्तुत की गई है। भाषाशास्त्र की दृष्टि से निरुक्त का विशेष महत्व है।

वैदिक छंदों का वर्णन पिंगल शास्त्र में किया गया है। इसे पिंगल नाम के किसी छंद शास्त्री ने लिखा है। यज्ञों के लिए समय निर्धारित करने की दृष्टि से ज्योतिष शास्त्र की रचना की गई।

लौकिक साहित्य में रामायण, महाभारत और पुराणों का विशेष महत्व है जिनकी चर्चा भारतीय संस्कृति के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में की जा चुकी है। संस्कृत साहित्य में महाकवि कालिदास का मूर्धन्य स्थान है। कालिदास ने प्रबंध काव्य, मुक्तक और नाटक तीनों प्रकार की साहित्यिक विधाओं में अपनी महान प्रतिभा प्रदर्शित की है। 'शकुन्तला' कालिदास का विश्वविख्यात नाटक है। जिसकी प्रशंसा पाश्चात्य विद्वानों ने की है। 'कुमार संभव' और 'रघुवंश' कालिदास के महाकाव्य हैं। 'कुमारसंभव' में शिव-पार्वती चरित्र का वर्णन है। रघुवंश में सूर्यवंशी राजा रघु की वंश परंपरा का वर्णन है जिसमें राम ने अवतार लिया था। 'मेघदूत' कालिदास का खंड काव्य है जिसमें वियोग श्रृंगार का सुंदर प्रतिपादन किया गया है। 'ऋतुसंहार' एक मुक्तक काव्य है जिसमें षड् ऋतु वर्णन किया गया है। कालिदास की प्रतिभा की टक्कर का कोई दूसरा कवि संस्कृत साहित्य में नहीं हुआ।

महाकवि कालिदास का समय अभी तक निश्चित नहीं हो सका है। कुछ विद्वान महाकवि को राजा विक्रमादित्य का सभारत्न मानते हैं जिन्होंने ई० पू० ५७ में शकों को पराजित करके अपने नाम से एक नया संवत चलाया था। दूसरे विद्वान कालिदास को ईसा की तीसरी चौथी शताब्दी अर्थात् गुप्त राजवंश के युग का कवि मानते हैं।

ईसा की छठीं शताब्दी में महाकाव्य को एक नई दिशा प्रदान करने वाले महा कवि भारवि हुए। ये दक्षिण के चालुक्यवंशी राजा विष्णुवर्द्धन के सभा पंडित थे। 'किरातार्जुनीय' नाम से आपने एक महा काव्य की रचना की है। 'किरातार्जुनीय' का कथानक जैसा कि इसके नाम से प्रकट होता है, महाभारत से लिया गया है। अर्जुन को अस्त्र-विद्या प्रदान करने के पूर्व शिव ने किरात वेष धारण कर के अर्जुन की परीक्षा ली थी। किरात रूप में शिव और अर्जुन के युद्ध का इस महाकाव्य में वर्णन है। भारवि का काव्य अर्थगौरव की दृष्टि में विशेष महत्वपूर्ण है।

ईसा की सातवीं शती में गुजरात प्रांत के एक प्रतिभाशाली कवि माघ ने महाभारत से ही कथानक ले कर 'शिशुपाल वध' महा काव्य की रचना की है।

संस्कृत में महाकाव्यों की परम्परा 12वीं शताब्दी तक अबाध रूप से जारी रही, किंतु परवर्ती कवियों में कालिदास सरीखे भावों का सहज उन्मेष नहीं मिलता। शैली की कृतिमता तथा भाषा की सजावट में भाव पक्ष दब गया है। ध्यान रखने की बात यह है कि संस्कृत साहित्य का सृजन किसी एक प्रांत तक सीमित नहीं था। कश्मीर से ले कर कन्याकुमारी तक तथा गुजरात से लेकर बंगाल तक संस्कृत साहित्य का सृजन और रसास्वादन शताब्दियों तक जारी रहा। इसका सांस्कृतिक प्रभाव यह पड़ा कि राजनीतिक रूप से खंडों में विभक्त होते रहने पर भी सांस्कृतिक दृष्टि से भारत एक भावात्मक सूत्र में बँधा रहा। यही बात लोक भाषाओं के इतिहास पर भी लागू होती है। सिंध जैसे एकाध सीमावर्ती तथा मुख्य भूमि से मरुस्थल के द्वारा कटे हुए प्रांतों की भाषाओं पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव भले ही नगण्य हो, किंतु शेष भाषाएँ वर्तमान समय तक संस्कृत साहित्य की भाव राशि से प्रेरणा ग्रहण करती आ रही हैं।

संस्कृत साहित्य में साहित्य की सभी विधाओं का सम्यक विकास हुआ और एक-एक विधा में इतना उत्कृष्ट साहित्य उपलब्ध है कि भारत अपने सांस्कृतिक दाय पर गर्व कर सकता है।

नाटक भी महाकाव्य का दृश्य रूप है। देशी नरेश रंगमंच का संरक्षण करते थे। इसलिए संस्कृत साहित्य में नाटकों की एक समृद्ध परंपरा विद्यमान है। महाकवि भास संस्कृत के प्रथम और महान नाटककार हैं। भास के लिखे हुए 15 नाटकों की खोज अब तक की जा चुकी है। जिनमें "स्वप्नवासवदत्ता' अधिक महत्वपूर्ण है। भास के बाद कालिदास संस्कृत के मूर्धन्य नाटककार हैं। विक्रमोर्वशी, मालविकाग्निमित्र और 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' कालिदास के श्रेष्ठ नाटक हैं। विशाखदत्त, (मुद्राराक्षस, चौथी शती) शूद्रक (मृच्छकटिक, पाँचवीं शती) हर्षवर्धन (रत्नावली, सातवीं शती), भट्ट नारायण (वेणी संहार, सातवीं शती) भवभूति (उत्तररामचरित, मालतीमाधव, दसवीं शती) संस्कृत के सुविख्यात नाटककार हैं। भवभूति करुण रस के नाटककार हैं। इनका उत्तर रामचरित करुण रस के परिपाक की दृष्टि से एक श्रेष्ठ नाटक है।

संस्कृत का कथा साहित्य भी उतना ही समृद्ध है जितना नाटक साहित्य। कुछ कथानकों के अनुवाद तो ईसा की छठीं शताब्दी में विश्व की अन्य भाषाओं में हो चुके थे और वे उन्हीं भाषाओं की संपत्ति बन चुके थे। गुणाढ्य (बृहत्कथा), क्षेमेन्द्र (बृहत्कथा-मंजरी) सोमदेव (कथा सरित् सागर) शिवदास (बेताल पंचविंशति) आदि महत्व-पूर्ण कहानी संग्रह हैं। मनोरंजक और उपदेशात्मक कहानियों में कश्मीर के विष्णु-शर्मा की लिखी हुई 'पंचतंत्र' की कहानियाँ बहुत लोकप्रिय हुईं। इस कहानी संग्रह में चरित नायक पशुपक्षी हैं और इनके माध्यम से नीति और लोक व्यवहार का बहुत मनोरंजक ढंग से प्रतिपादन किया गया है। इसका सर्वप्रथम अनुवाद 533 ई० में फ़ारसी में हुआ। फ़ारसी से सीरियन और सीरियन से अरबी भाषा में हुआ और अरबी से पश्चिमी

देशों की ग्रीक, लैटिन, इटालियन, फ्रैंच, जर्मन और अँग्रेजी भाषाओं में हुआ। चीनी भाषा में भी इसका अनुवाद हुआ।

मनोरंजक कथा साहित्य के साथ साथ काव्यात्मक एवं अलंकृत गद्य की साहित्यिक परंपरा भी संस्कृत में विद्यमान है। सुबन्धु की 'वासवदत्ता' बाणभट्ट की 'कादंबरी' और 'हर्षचरित', दण्डी का 'दशकुमार चरित' धनपाल की 'तिलक मंजरी' सोड्ढल की 'उदयसुन्दरी कथा' तथा वामन भट्ट बाण की 'वेमनचरित' संस्कृत गद्य साहित्य की निधि में हैं। अलंकृत गद्य लेखकों में बाणभट्ट सबसे अधिक दक्ष हैं।

संस्कृत भाषा शास्त्रों का खजाना है। सच तो यह है कि संस्कृत के पश्चात् मौलिक रूप से शास्त्र रचना भारत में हुई ही नहीं। वर्तमान समय में जो शास्त्र और विज्ञान साहित्य लिखे जा रहे हैं वे केवल अन्य विदेशी भाषाओं के अनुवाद मात्र हैं। इसका कारण देश की दीर्घकालीन पराधीनता है।

काव्य-शास्त्र की एक समृद्ध परंपरा संस्कृत में विद्यमान रही जिसे चार संप्रदायों में बाँटा गया है। अलंकार संप्रदाय, रीति संप्रदाय, वक्रोक्ति संप्रदाय और ध्वनि संप्रदाय। प्रत्येक संप्रदाय का प्रचुर साहित्य संस्कृत में अब भी विद्यमान है। अर्थशास्त्र में कौटिल्य अथवा चाणक्य का अर्थ शास्त्र एक महत्वपूर्ण रचना है। इसके अंतर्गत कृषि, वाणिज्य, व्यापार के साथ-साथ राजनीति का भी समावेश है। वात्स्यायन का काम शास्त्र भौतिक जीवन को सुखमय बनाने की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण रचना है। दर्शनशास्त्र का तो यह देश मूल उत्स रहा है। अतः वैदिक दर्शन के अतिरिक्त न्याय, योग, सांख्य, वैशेषिक जैसे आस्तिक दार्शनिक सांप्रदायों के अतिरिक्त चार्वाक जैसे नास्तिक दर्शन शास्त्रों का प्रभूत साहित्य भी संस्कृत भाषा में विद्यमान है।

संस्कृत में विज्ञान साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में लिखा गया। अंकगणित, बीजगणित, रेखा गणित, भौतिकी, रसायन, खगोल और आयुर्वेद की एक समृद्ध परंपरा संस्कृत में विद्यमान रही है। सातवीं शती के पश्चात् जैसे ही केंद्रीय शासन द्वारा देश विदेशी आक्रमणों से आक्रांत होने लगा, विज्ञान की इस समृद्ध परंपरा का आगे विकास न हो सका। सातवीं शताब्दी के पश्चात् जो भी शास्त्रीय अथवा वैज्ञानिक चिंतन हुआ वह केवल व्याख्यात्मक था।

संस्कृत साहित्य का सृजन यत्किंचित् वर्तमान युग में भी हो रहा है, किंतु वह विशाल भारतीय जन संख्या की दृष्टि से नगण्य है। आज तो विज्ञान और शास्त्रीय विषयों से संबंधित नई शब्दावली का निर्माण प्रायः संस्कृत भाषा को आधार बनाकर ही हो रहा है। संस्कृत भाषा में उपसर्ग और प्रत्यय लगा कर नए शब्द निर्मित करने की अद्भुत क्षमता है। संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रति सम्मान की भावना आज भी सारे देश में विद्यमान है।

बंगला

बंगला भाषा आर्य भाषा परिवार की पुत्री है। पुराणों में 'बंग' राज्य के विषय में एक कथा आती है। प्राचीन काल में चंद्रवंशी क्षत्रियों में राजा बालि एक प्रतापी राजा हुए हैं। वे पूर्वी भारत पर राज्य करते थे। उनके अंग, बंग, कलिंग, पुंड्र और सुह्म नामक पाँच पुत्र थे। राजा ने अपने राज्य का विभाजन इन पुत्रों में किया और जो क्षेत्र जिस राजकुमार के शासन में आया उस क्षेत्र का नाम अपने शासक के नाम पर विख्यात हुआ। इस प्रकार प्राचीन काल में अंग, बंग जैसे क्षेत्रीय नाम प्रचलित हुए। जिस क्षेत्र पर राजकुमार बंग का शासन था वह बंग कहलाया। बाद को इसे बंगाल कहा जाने लगा। बंगाल में आर्यभाषा परिवार की मागधी प्राकृत तथा मागधी अपभ्रंश तो प्रचलित थीं ही, साथ ही आस्ट्रिक परिवार की कोल, मुंड्रा जैसी जनजातीय भाषाएँ भी प्रचलित थीं। अतः बंगला भाषा में कोल, मुंड्रा जैसी भाषाओं के शब्द भी प्रचलित हैं।

उत्तर भारत की अन्य भाषाओं के समान बंगला भाषा और साहित्य का विकास भी प्राकृत और अपभ्रंश के सोपानों से हुआ है। मागधी अपभ्रंश की दो उपशाखाएँ विकसित हुईं—एक बंगीय तथा दूसरी बिहारी। मध्यकाल में इन दोनों में घनिष्ठता थी। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में असम, बंगाल और ओड़िया ये तीन रूप मागधी अपभ्रंश से उभर कर आए। अतः बंगला का आदि काल 13वीं शताब्दी से माना जाना चाहिए। बंगला के साहित्यिक रूप का परिचय हमें बौद्ध साधकों के चर्या-पदों से मिलता है। इन चर्या-पदों की उपस्थिति 13वीं शती के लगभग ओड़िया साहित्य में भी मिलती है। ओड़िया उस समय सहजयानी सिद्धों की प्रमुख साधना पीठ के रूप में विख्यात थी।

बंगला साहित्य के आदि काल के अंतिम चरण में हमें सगुण साकार उपासना का साहित्य भी मिलता है। अनंत बड़ु चंडीदास का 'श्री कृष्ण कीर्तन' इस उपसाहित्य की प्रमुख रचना है। इसका रचनाकाल 15वीं शताब्दी माना जाता है। डा. इन्द्रनाथ चौधरी के मतानुसार—'इसमें असमी, ओड़िया एवं प्राचीन बंगला का सम्मिश्रण उपलब्ध है।' इसके उपरांत बंगला भाषा के इतिहास में मध्य युग में ईसा की पंद्रहवीं शती से सत्रहवीं शती तक माना गया है। मध्य युग में बंगला भाषा अपभ्रंश से संपूर्ण रूप से मुक्त नहीं हो पाई थी। तुर्की आक्रमण और उनके साम्राज्य विस्तार के फलस्वरूप इस समय की भाषा में अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग भी दिखाई देता है। इस युग के प्रारंभ में मालाधर वसु ने 'श्री कृष्ण विजय' की रचना की। 'कृत्तिवास' की रामायण की रचना भी इसी युग में हुई। काशीराम दास ने 'महाभारत' की रचना की। शाक्त साहित्य में मुकुंदराम चक्रवर्ती की चंडीमंगल प्रमुख रचना है। मध्ययुग के अंत में चैतन्य की प्रेमाश्रयी कृष्ण भक्ति से बंगाल गूंज उठता है। मध्य युग में कृष्ण भक्ति के साथ-साथ ब्रजभाषा भी बंगाल में पहुँची और वहाँ 'ब्रजबुली' के नाम से फली-फूली।

कृष्ण की मधुर भक्ति के आधार पर शृंगारप्रधान गीति काव्य की जो परंपरा जयदेव के 'गीतगोविन्द' से चला आ रही थी उसका सुंदर विकास भावुकता प्रधान बंगला साहित्य में हुआ। इस युग में बंगला पर मैथिली का विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। मैथिलकोकिल विद्यापति को बंगला प्रेमी अपना कवि मानते हैं। हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियों का समन्वय हम 'बाउलगीत' साहित्य में पाते हैं। ये गीत सूफी प्रणय की पीर लिये हुए हैं। मध्य युग के बंगला साहित्य में हम नाथ पंथी योगियों के आख्यानक भी पाते हैं। इन आख्यानकों में राजा गोपीचन्द्र रानी मयना और गोरखनाथ के चरित्रों का वर्णन है। बीच-बीच में हठयोग की साधना और अलौकिक चमत्कारों का भी समावेश है।

अठारहवीं शताब्दी में बंगाल ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकार में आ जाता है। साम्राज्यवादी शोषण के परिणाम स्वरूप बंगाल में एक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है और इस प्रतिक्रिया की बंगाल साहित्य में अभिव्यक्ति 19वीं शताब्दी के प्रथम चरण से होने लगती है। अतः हम बंगला साहित्य को आधुनिक युग का नेतृत्व प्रदान करने वाला साहित्य कह सकते हैं। भारतीय संस्कृति का पुनर्जागरण जिस प्रकार बंगाल से प्रारंभ होता है उसी प्रकार भारतीय साहित्य का पुनर्जागरण भी बंगला साहित्य से प्रारंभ होता है। राजा राम मोहन राय, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, रामकृष्ण परम हंस नव जागृति के अग्रदूत थे। राजा राममोहन राय और ईश्वर चन्द्र विद्यासागर आधुनिक बंगला साहित्य के भी जन्मदाता थे। गद्य साहित्य—विशेषकर कथा साहित्य और पत्रकारिता के क्षेत्रों में बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय का शीर्षस्थ स्थान है। माइकेल मधु सूदन दत्त ने बंगला साहित्य में आधुनिक नाटकों का सूत्रपात किया। उपन्यास साहित्य के क्षेत्र में शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय का नाम भी उल्लेखनीय है। काव्य जगत में आधुनिक कवियों में जितना सम्मान रवीन्द्रनाथ ठाकुर को मिला है उतना भारत के किसी अन्य कवि को नहीं। सन् 1913 में वे नोबेल पुरस्कार से पुरस्कृत हुए। यह पुरस्कार उन्हें 'गीतांजलि' के अंग्रेजी अनुवाद पर मिला था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर प्रथम भारतीय हैं, जिन्हें इस पुरस्कार से सम्मानित किया गया। रवीन्द्र ने भारतीय साहित्य को प्रभावित किया। आधुनिक हिंदी साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में बंगला साहित्य का प्रभाव पड़ा। बंगला का समसामयिक साहित्य समृद्ध और विकासशील है। बंगालियों को अपनी क्षेत्रीय संस्कृति पर गर्व है।

असमिया

असमिया, बंगला और ओड़िया भाषाएँ मागधी अपभ्रंश के क्रोड़ से विकसित होने के परिणाम स्वरूप एक दूसरे से अधिक निकट हैं। सांस्कृतिक परंपरा की दृष्टि से तीनों भाषाओं में बहुत कुछ समानताएँ हैं। वज्रयानी सिद्धों, तांत्रिकों और नाथपंथी

हठयोगियों का प्रभाव हम तीनों भाषाओं की साहित्यिक परंपरा में समान रूप से पाते हैं। तीनों भाषाओं की लिपि की प्रकृति में भी अत्यधिक समानता है। यह समानता अक्षरों की वर्तुल बनावट में स्पष्ट परिलक्षित होती है। प्राचीन काल में कागज के आविष्कार के पूर्व लेखन का माध्यम ताड़पत्र अथवा भोजपत्र था। भोजपत्र पर सीधी रेखाएँ खींचना तो संभव था, किंतु ताड़पत्र पर तिरोरेखा जैसी सीधी रेखाएँ नहीं खिंच सकती थीं। अतः लिपि में गोलाई आना स्वाभाविक था।

असमिया और बंगला दोनों भाषाओं पर तिब्बत बर्मी तथा आस्ट्रिक परिवार की बोलियों का प्रभाव है। असमिया की उच्चारण पद्धति में कुछ ध्वनियों का परिवर्तन होता है। जैसे :

च/छ → स, श/ष → ह तथा क्ष → ख।

मध्यकाल में असम पर मुसलमानी सल्तनत का आधिपत्य रहा जिसके परिणाम-स्वरूप असमिया में अरबी-फारसी शब्दों का प्रचलन हुआ। बंगला भाषा के समान असमिया का भी लिखित साहित्य 13वीं शताब्दी से प्राप्त होता है। इसके पहले की जो भी परंपरा थी वह मौखिक थी और उसमें लोक-संस्कृति का प्राधान्य था। असमिया साहित्य के आदि काल में हम प्राचीन भारतीय संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठा का प्रयत्न पाते हैं। इस प्रतिष्ठा के लिए संस्कृत के मूल ग्रंथों का असमिया अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत के ग्रंथों के अनुवाद में बीच-बीच में असमिया लोकजीवन के अंशों को भी जोड़ दिया गया है। हेम सरस्वती, रुद्र कंदलि और माधव कंदलि जैसे प्रतिभाशाली कवियों ने पुराण महाभारत और रामायण की असमिया भाषा में अवतारणा की। हेम सरस्वती के 'हर गौरी संवाद' में देवी भागवत और शिवपुराण की नूतन उद्‌भावना है। रुद्र कंदलि ने महाभारत के चुने हुए अंशों का असमिया में अनुवाद प्रस्तुत किया। माधव कंदलि ने वाल्मीकि रामायण का असमिया में अनुवाद किया। यह असमिया भाषा की एक बहुमूल्य साहित्य-सृष्टि है। हिंदी भाषी जनता में तुलसी के रामचरित मानस का जो स्थान है वही स्थान असमिया भाषा में माधव कंदलि की रामायण को प्राप्त है। यह 14वीं शताब्दी की कृति होने के परिणामस्वरूप विशेष गौरव की अधिकारिणी है, क्योंकि तब तक किसी अन्य भाषा में रामायण की अवतारणा नहीं हुई थी। हिंदी में जिस प्रकार तुलसी दास को श्रेष्ठ कवि माना जाता है उसी प्रकार असमिया साहित्य में माधव कंदलि को सर्वश्रेष्ठ कवि माना जाता है। माधव कंदलि ने एक प्रकार से महान वैष्णव संत शंकर देव के लिए वैष्णव भक्ति के प्रचार की पूर्व पीठिका तैयार कर दी थी।

चौदहवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक असमिया साहित्य में वैष्णव भक्ति साहित्य का सृजन होता रहा। सांस्कृतिक और साहित्यिक नेतृत्व शंकर देव के हाथ में रहा। शंकर देव ने भजन कीर्तन की जो परंपरा चलाई वह परंपरा उनके

पश्चात् उनके शिष्य और प्रशिष्यों ने क़ायम रखी। शंकर देव का जन्म असम में हुआ था, किंतु उन्होंने ब्रजभूमि में आकर वर्षों तक सत्संग किया और 12 वर्ष के तीर्थाटन के पश्चात् जब वे असम लौटे तो उन्होंने वैष्णव भक्ति—विशेष कर कृष्ण भक्ति का असम में प्रचार किया और इस प्रचार के लिए उन्होंने साहित्य की सभी महत्वपूर्ण विधाओं का सहारा लिया। उन्होंने लोक साहित्य की एक विधा 'बर गीत' के माध्यम से कृष्ण भक्ति का प्रचार किया। लोकमंच के माध्यम से असमी जनता को कृष्ण भक्ति की ओर आकृष्ट किया। 'कालिय दमन', 'रुक्मिणी हरण' जैसे छोटे-छोटे लीला प्रधान अनेक नाटकों का इन्होंने सृजन किया और उन्हें अभिनीत भी करवाया। 'कीर्तन घोषा' शंकर देव की अमर रचना है। इसमें भारतीय संस्कृति के मूलस्रोत—पुराण, गीता, महाभारत आदि के चुने हुए अंशों का असमिया अनुवाद है। शंकर देव ने असमिया संस्कृति और असमिया साहित्य पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है। 120 वर्ष की अवस्था में सन् 1568 में इस संत का शरीरांत हुआ। आगे चलकर शंकर देव की 'नामघोषा' कीर्तन परंपरा का विकास माधव देव ने किया। माधवदेव ने अपने गुरु की नाटक परंपरा का भी विकास किया और श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं को केंद्र में रखकर रासलीला के समकक्ष अनेक लघु नाटकों का सृजन किया। शंकर, माधव के अतिरिक्त अनंत कंदलि, राम सरस्वती, श्रीधर कंदलि और भट्ट देव वैष्णव भक्ति शाखा के विख्यात साहित्यकार हैं। राम सरस्वती का महाभारत का असमिया अनुवाद एक अनुपम ग्रंथ है। भट्ट देव असमिया गद्य साहित्य के जन्मदाता माने जाते हैं। इन्होंने संस्कृत की अनेक रचनाओं का गद्यानुवाद किया है।

सत्रहवीं शती के पश्चात् असमिया साहित्य में एक नया मोड़ आता है। सत्रहवीं शताब्दी में अहोम राजवंश अपनी सत्ता दृढ़ कर चुका था। उसने कवियों और साहित्यकारों को आश्रय दिया और राजवंश का गौरव गान करने को उन्हें प्रेरित किया। उत्तर मध्यकाल में हिंदी साहित्य में जिस प्रकार शृंगार प्रधान मुक्तक काव्य लिखा गया उसी प्रकार अहोम काल में भी कवियों की रुचि शृंगार की ओर अधिक रही। अंतर केवल इतना है कि हिंदी का रीतिकाल राजवंश की विरुदावली गाने का काल नहीं है, जबकि असमिया साहित्य में 'दामोदर चरित', 'वरदेव चरित', 'रामगोपाल चरित' जैसे राजवंश की प्रशस्ति परक चरित काव्य लिखे जाते रहे।

असमिया साहित्य में आधुनिक काल का आरंभ 19वीं शती का द्वितीय चरण माना जाता है, जबकि असम प्रांत अंग्रेजों के आधिपत्य में आ जाता है। असमिया भाषा को बंगला के प्रभाव से मुक्त कर के एक स्वतंत्र भाषा के रूप में विकसित करने का बहुत कुछ श्रेय ईसाई मिशनरियों को है। राजभाषा के रूप में असमिया का प्रयोग होने के परिणामस्वरूप असमिया भाषा का विकास द्रुतगति से हो रहा है। असम के साहित्यकार अपनी मातृभाषा की समृद्धि के लिए सतत प्रयत्नशील हैं।

ओड़िया

बंगला और असमिया के समान ओड़िया भाषा का विकास भी मागधी अपभ्रंश से हुआ है। ओड़िया का दक्षिणी भाग द्रविड भाषा परिवार का स्पर्श करता है। इसलिए तथा अन्य ऐतिहासिक कारणों से ओड़िया भाषा के विकास में द्रविड भाषाओं का भी महत्वपूर्ण योगदान है। साथ ही शबर, कंध, कोल्ह, संताल, हो, मुंडारी, परजा, गदला, उराउं आदि जन जातियों की जन्म भूमि होने के परिणाम स्वरूप ओड़िया भाषा में जन-जातियों की भाषाओं के शब्द भी प्रचलित हैं, यद्यपि इन जातियों की अपनी-अपनी भाषाएँ पृथक्-पृथक् हैं। ओड़िया लिपि का विकास भी बंगला और असमिया के समान ब्राह्मी लिपि के कुटिल रूप से हुआ है।

कामरूप के समान ओड़ीसा भी प्राचीन काल में बौद्ध सहजिया सिद्धों का सिद्ध पीठ रहा है। जिन सिद्धों को इतिहासकार हिंदी भाषा की सिद्ध परंपरा में परिगणित करते हैं वे वस्तुतः इसी अंचल के साधक थे। इसलिए हमें ओड़िया के आदिकाल में (600-1000 ई० पू०) में कंडुपाद, शरवपाद जैसे तांत्रिकों की रहस्यमयी वाणी मिलती हैं। कहा जाता है कि प्रसिद्ध जगन्नाथ जी का मंदिर तथा मूर्ति भगवान बुद्ध से संबंध रखती थी। सिद्ध इन्द्रभूति ने 'प्रज्ञोपाय', 'विनिश्चय सिद्ध' ग्रंथ में उड्डियान के देवता बुद्ध रूपी जगन्नाथ जी की स्तुति की है। कालिका पुराण में तांत्रिक उड्डियान पीठ को उड्रपीठ की अधिष्ठात्री देवी कात्यायनी को विमला देवी तथा देवता को जगन्नाथ कहा गया है। इस प्रकार ओड़िया संस्कृति बौद्ध, शाक्त और वैष्णव संस्कृतियों का अद्भुत् समन्वय है।

वैष्णव आंदोलन ने जिस प्रकार देश के अन्य भागों से सहजिया और वज्रयानी तांत्रिक साधना पद्धतियों का सफाया किया उसी प्रकार ओड़िया से भी, किंतु इन तांत्रिकों के भग्नावशेष अब भी उदयगिरि, ललितगिरि, रत्नगिरि आदि स्थानों पर विद्यमान हैं तथा लोकस्मृति में जीवित हैं।

बारहवीं शताब्दी के लगभग नाथ पंथियों की वाणी भी ओड़िया साहित्य में मिलती है। नाथ पंथी योगी आज भी घर-घर अलख जगाते हुए भीख की झोली फैलाए ओड़िसा में देखे जा सकते हैं।

पंद्रहवीं शताब्दी में सरला दास ने महाभारत की रचना ओड़िया भाषा में की। इस ग्रंथ पर भी योग साधना की अमिट छाप है। महाभारत के वनपर्व में गुरु गोरखनाथ ने रामचन्द्र को योग की दीक्षा दी थी। इस प्रकार के उल्लेख सरला दास के महाभारत में मिलते हैं। गोरखनाथ के भजन ओड़िया लोक साहित्य में भी आज प्रचलित हैं। सरला दास ओड़िया साहित्य के वास्तविक जन्मदाता माने जाते हैं।

पंद्रहवीं शती के पश्चात् ओड़िया भाषा में ज्ञानयोग समन्वित निराकार उपासना के स्थान पर प्रेममूला वैष्णव भक्ति का प्राबल्य हुआ। गौरांग चैतन्य की कृष्ण-भक्ति के

स्वर ओड़िसा के वायुमंडल में गूंजने लगे। रामायण और महाभारत के आख्यानकों को लेकर भक्ति परक रचनाएँ हुई। जगमोहन रामायण, प्रवणनार गीता, विष्णुगर्भ पुराण, भागवत् का ओड़िया अनुवाद ओड़िया की लोकप्रिय रचनाएँ हैं।

पंद्रहवीं शती और उन्नीसवीं शती के बीच में ओड़िया साहित्य में रीतिवादी शृंगारिक तथा कलात्मक साहित्य का भी सृजन हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ओड़िसा पर अंग्रेजों का अधिपत्य स्थापित हुआ। ईसाई मिशनरियों ने ओड़िसा के माध्यम से ईसाई धर्म का प्रचार शुरू किया। बाइबिल का ओड़िया में प्रकाशन हुआ। सन् 1866 में 'उत्कलदीपिका' के नाम से कटक से एक पत्रिका प्रकाशित हुई।

आधुनिक युग में ओड़िया भाषा के साहित्य का प्रचुर विकास हो रहा है। असमिया के समान ओड़िया का रंगमंच भी लोकप्रिय है।

कश्मीरी

कश्मीरी का भाषा क्षेत्र उत्तर में शीना, पश्चिमोत्तर में कोहिस्तानी, पश्चिम में लहंदा, दक्षिण-पश्चिम में डोगरी एवं पूर्व में लद्दाखी जैसी जन भाषाओं से घिरा हुआ है। कश्मीर संस्कृत भाषा का एक प्रसिद्ध विद्यापीठ रहा है। इसलिए शताब्दियों तक कश्मीर के पंडितों ने जन भाषा में रचना न करके संस्कृत को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। कश्मीरी की लोकसाहित्य की अपनी समृद्ध परंपरा रही है, किंतु वह एक मौखिक परंपरा थी। जिन लोकगीतों से कश्मीर की घाटियाँ प्रतिध्वनित होती रहीं वे लिखित रूप के अभाव में अपना कोई साहित्यिक इतिहास न बना सके।

कश्मीरी भाषा को विद्वानों ने दरद परिवार की भाषा माना है। दरद परिवार का संबंध प्राचीन भारतीय ईरानी शाखा से माना जाता है। प्राचीन काल में कश्मीर में ब्राह्मी लिपि के कुटिल रूप (शारदा लिपि) का व्यवहार होता था। बीच में मुसलमानी काल में फ़ारसी लिपि का प्रचलन हुआ, किंतु वर्तमान समय में देवनागरी लिपि का प्रयोग होने लगा है।

कश्मीरी भाषा का लिखित साहित्य 13वीं-14वीं शताब्दी से उपलब्ध होता है। कश्मीरी भाषा के प्रथम दार्शनिक कवि शिति कंठ को माना जाता है, जिन्होंने संस्कृत का परित्याग करके जनभाषा में 'महा आर्यप्रकाश' नाम के पद्यबद्ध ग्रंथ का प्रणयन किया। इस ग्रंथ में शैवदर्शन का प्रतिपादन किया गया है।

लल्लेश्वरी, जिनके अध्यात्म विरह के गीतों से आज भी कश्मीर की घाटियाँ गूंजती हैं, चौदहवीं शताब्दी की रहस्यवादी कवयित्री हैं। लल्लेश्वरी के गीत संग्रह का नाम 'ललद्यद' है। रहस्यवादी सूफी शाखा में नूरुद्दीन एक प्रसिद्ध सूफी संत हुए हैं। 'ऋषिनामा' इनका प्रामाणिक ग्रंथ है। रहस्यवादी काव्य

शाखा में ही अलकेश्वरी का नाम आता है, जो लल्लेश्वरी के समान योग मार्ग से प्रभावित थीं।

इस प्रकार कश्मीरी भाषा में एक ओर जहाँ अध्यात्म प्रणय के गीत लिखे गए वहीं उनकी प्रतिक्रिया में लौकिक शृंगार का भी प्रचलन हुआ। लौकिक प्रणय काव्य के गायकों में 16वीं शताब्दी की कवयित्री हब्बा खातून का नाम विशेष उल्लेखनीय है। खातून बचपन में चाँद के समान सुंदर थीं। अपने प्रथम पति से तलाक लेने के बाद उसका दूसरा प्रेम विवाह कश्मीर नरेश यूसुफ शाह के साथ हुआ था। कुछ कारणवश यूसुफ शाह मुगल दरबार के कोप भाजन बने और अकबर ने उन्हें आजीवन कारावास में डाल दिया। हब्बा खातून अपने दिलदार के वियोग में आजीवन तड़पती रही। उसके विरही हृदय से जो गीत निकले वे आज कश्मीरी साहित्य की अमूल्य निधि बने हैं। खातून के समान ही 18वीं शती के मध्य में पति से उपेक्षिता एक दूसरी नारी अरणिमाल के कंठ से भी प्रणय-गीत फूटे हैं। अरणिमाल के विरहगीत कश्मीरी साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। लिखित साहित्य के अभाव में वर्तमान समय में कश्मीरी साहित्य की बहुत बड़ी निधि कालकवलित हो चुकी है।

उन्नीसवीं शती के रसूल मीर कश्मीरी के बिहारी हैं। इनका नखशिख वर्णन कश्मीरी साहित्य में बेजोड़ है। इस शती में ही कश्मीरी में चरित काव्य की भी परंपरा मिलती है। पंडित रामप्रकाश ने वाल्मीकि रामायण के आधार पर 'रामावतार चरित की' रचना की है। इसी प्रकार स्वामी परमानंद दास का 'सुदामा चरित' भी कश्मीरी का एक सफल चरित काव्य है।

बीसवीं शती में कश्मीरी साहित्य में आधुनिक साहित्य का सूत्रपात हुआ। राष्ट्रीय आंदोलन के प्रभाव ने साहित्य की परंपरा में आमूल परिवर्तन किया। कविवर महजूर ने आधुनिक राष्ट्रीय काव्य का प्रतिनिधित्व किया। डोगरा शाही के विरुद्ध जन-जागृति फैलाने में महजूर के गीतों ने आग का काम किया। महजूर के गीतों में अपने देशवासियों के दलित, शोषित वर्ग का करुण चित्रण है। महजूर के शिष्य आजाद ने जन-विद्रोह की कविताओं का प्रतिनिधित्व किया। वर्तमान समय में कश्मीरी साहित्य विकास के पथ पर अग्रसर हो रहा है। कश्मीरी भाषा के लिए नागरी और फ़ारसी दोनों लिपियों को अपनाया जा रहा है। कश्मीर प्राकृतिक सौंदर्य का खजाना है और उसी के अनुकूल शृंगार रस का लोकसाहित्य और आध्यात्मिक काव्य दोनों में सुंदर परिपाक हुआ है।

पंजाबी

पंजाबी पंजाब राज्य की राजभाषा है। देश के विभाजन के पूर्व संयुक्त पंजाब में अरबी लिपि का प्रचार था और उर्दू का बोलबाला था। स्वतंत्रता के पश्चात् पृथक

पंजाब राज्य की स्थापना हुई और गुरुमुखी लिपि में लिखित पंजाबी को राजभाषा के रूप में स्वीकार किया गया। प्रायः यह समझा जाता था कि भोजपुरी, मगही आदि के समान पंजाबी भाषा भी बृहत्तर हिंदी का लोक प्रचलित रूप है। गुरुमुखी लिपि ब्राह्मी का ही एक विकसित रूप है। नागरी लिपि और गुरुमुखी के अधिकांश अक्षर मिलते-जुलते हैं और कुछ की आकृतियाँ भिन्न हैं।

पंजाबी आर्य भाषा परिवार की एक भाषा है जिसका विकास हिंदी के समान पालि, प्राकृत, अपभ्रंश के माध्यम से हुआ है। इसका लिखित साहित्य हमें गुरु नानक देव की वाणी में मिलता है। नानक देव पंजाब के निवासी थे और इन्होंने पंजाब की लोक-भाषा में अपने उपदेशों का प्रचार किया। हिंदी के विद्वान् गुरु नानक को अपना कवि मानते हैं। पंजाब प्रांत में मुसलमानों की जनसंख्या भी पचास फ़ी सदी के लगभग थी। इसलिए पंजाबी में फ़ारसी अरबी शब्दों का प्रचलन भी काफ़ी रहा। स्वयं गुरु नानक की वाणी में हमें अरबी-फ़ारसी के शब्द मिलते हैं।

फ़रीद शंकरगंज नामक सूफ़ी संत को पंजाबी का प्रथम कवि माना जाता है जिन्होंने अध्यात्म प्रणय के गीत तत्कालीन जनभाषा में सुनाए थे। फ़रीद के 'श्लोक' गुरु ग्रंथ साहिब में भी संकलित हैं। फ़रीद बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पैदा हुए थे और तेरहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हमें इनकी वाणी मिलती है। इसलिए हम कह सकते हैं कि हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय का प्रयास सबसे पहले सूफ़ी कवियों की वाणी में हुआ। सगुण-साकार ईश्वर के स्थान पर एक निराकार, निर्गुण, सर्वव्यापक ईश्वर की कल्पना की गई जिसे चाहे राम कहा जाए, चाहे रहीम।

सूफ़ी विचारधारा का पंजाबी साहित्य में पूरे मध्यकाल तक प्रचार रहा। बुल्लेशाह, शाह हुसैन, सुल्तान बाहू, अली हैदर, करम अली शाह, शेख शरफ़ गुलाम जीलानी, हाशिम, हृदायतुल्ला, गुलामरसूल आदि मध्य युग के प्रमुख पंजाबी कवि हैं। जिन्होंने पंजाब की जनभाषा में सूफ़ी विचारों का प्रचार किया।

पंजाबी साहित्य में एक महत्वपूर्ण परंपरा प्रणय आख्यानकों की रही है। इन आख्यानकों में लौकिक प्रणय का वर्णन है। लेखक प्रायः मुसलमान कवि हैं। हीर-रांझा, मिर्ज़ा-साहिबाँ, सस्सी-पुन्नू, सोहनी-महिवाल पंजाबी के लोकप्रिय प्रणय आख्यानक हैं। शैली वही सूफ़ी कवियों की है, किंतु इन आख्यानकों में आध्यात्मिकता का कोई संकेत नहीं मिलता। प्रायः फ़ारसी-अरबी के लोक प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया गया है। जैसे—एक नमूना देखिए :

कहीं हीर दी करे तारीफ़ शायर,
मत्थे चमकदा हुसन महताब दा जी। (वारिस शाह, हीर रांझा)

इन दो पंक्तियों में 'तारीफ़' 'शायर' 'हुसन' तथा 'महताब' फ़ारसी शब्द हैं। वाक्य संरचना पंजाबी की है। पंजाबी में इस शैली को हड़ी शैली कहते हैं। विभाजन के

पूर्व हिंदू और मुसलमान जनता में यह शैली समान रूप से प्रचलित थी। पंजाबी में फ़ारसी के प्रणय-आख्यानकों का भी खूब प्रचलन रहा। हाशिमशाह के शीरी-फरहाद और 'लैला-मजनूं' के किस्सों का पंजाबी में खूब प्रचार हुआ।

पंजाबी साहित्य में आधुनिकता की लहर प्रथम महायुद्ध के पश्चात् आई। सिख मत और सिख सभ्यता का प्रचार इस लहर के मुख्य उद्देश्य हैं। दूसरी लहर में अकाली दल के नेतृत्व में पंजाब को पंजाबी भाषा के आधार पर एक राज्य के रूप में संगठित करने की माँग प्रबल हुई। इस माँग को स्वीकार कर लिये जाने के पश्चात् पंजाबी भाषा और साहित्य में आधुनिक युग की सभी प्रवृत्तियों का प्रकाशन हो रहा है तथा गद्य और पद्य की सभी विधाओं का विकास हो रहा है।

सिंधी

सिंध प्रदेश भारत का भाग है जिस पर मुहम्मद बिन कासिम ने 711 ई० में अपना अधिकार जमा लिया था। भारत की जनता ने इस विजय पर विशेष ध्यान नहीं दिया, जब तक कि गजनी और गोरी के आक्रमणों ने दिल्ली को नहीं रौंद डाला। वस्तुतः दिल्ली और अन्य देशी सामंत पारस्परिक युद्धों में इतने उलझे रहे कि किसी ने इन तुर्कों को भारत से खदेड़ने की कोशिश नहीं की। इस उपेक्षा का कारण कदाचित् यह हो सकता है कि सिंध प्रांत का पूर्वी भाग रेगिस्तान है जो इसे पंजाब और राजस्थान से पृथक करता है। तुर्कों अधिकार का परिणाम यह हुआ कि सिंध प्रदेश में एक विशेष मिली-जुली संस्कृति का विकास हुआ, जिसकी जड़ें तो भारत की मिट्टी में ही जमी रहीं और उससे पोषण पाती रहीं, किंतु उसकी टहनियों में तुर्की और अफ़गानी संस्कृति की क़लमें लगा दी गई थीं।

अन्य भारतीय भाषाओं के समान सिंधी का विकास भी अपभ्रंश से माना जाता है, जिसे विद्वानों ने व्राचड अपभ्रंश कहा है। किंतु उसका कोई साहित्यिक रूप अब उपलब्ध नहीं है। प्राचीन सिंधी लिपि का विकास भी ब्राह्मी लिपि से हुआ था जिसका प्रयोग महाजनी खातों में शताब्दियों तक होता रहा, किंतु तुर्कों के आधिपत्य के पश्चात् सिंध प्रदेश का इस्लामीकरण प्रारंभ हुआ। बहुत बड़ी संख्या में धर्म-परिवर्तन हुआ तथा हिंदुओं की कुछ संख्या धर्म-परिवर्तन के भय से राजस्थान, गुजरात आदि समीपवर्ती प्रदेशों में आकर बस गई। जो रह गई उन्हें अरबी लिपि को स्वीकार करना पड़ा।

सिंधी साहित्य के इतिहास को आदि काल (1000 से 1522), मध्यकाल (1522 से 1843) तथा आधुनिक काल (1843 से आज तक) इन तीन भागों में बाँटा गया है। आदिकाल और मध्यकाल के साहित्य-निर्माता सब मुसलमान कवि हुए हैं। आधुनिक काल में देश के विभाजन के पश्चात् दस लाख के लगभग सिंधी हिंदू भारत में आए और गुजरात, राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा महाराष्ट्र में बस गए।

वर्तमान समय में सिंधी इन विस्थापितों की सांस्कृतिक भाषा है और इसे राष्ट्रीय भाषाओं की सूची में स्थान प्राप्त है। यह स्थान इसे 7 अप्रैल 1967 में प्राप्त हुआ है।

आदि काल के सिंधी साहित्य में प्रेम आख्यानक लिखे गए, जैसा कि पंजाबी साहित्य में परिलक्षित होता है। हिंदी के मुक्तक काव्य में जिस प्रकार दोहा छंद लिखे गए उसी प्रकार सिंधी भाषा में 'बैतों' का प्रचलन रहा। 'समुई-पुन्हू', 'मूमलराणो', 'उमर-मारूई', 'लीला-चनेसर', 'सुहणी-मेहार', आदि युग के कुछ लोक प्रचलित प्रणय आख्यानक हैं। बैत छंद में प्राय: सूफ़ी कवियों के आध्यात्मिक उपदेश लिखे गए। काजी काजन इस युग के प्रतिभाशाली कवि हैं।

काजी काजन मध्यकाल में भी जीवित रहे और उनकी साहित्यिक परंपरा का निर्वाह शाह करीम, शाह इनात और शाह लतीफ ने किया। पीर मुहम्मद और उस्मानी भी इस युग के प्रतिभाशाली कवि हैं। मध्यकाल में सूफी और ज्ञानमार्गी संत कविता का अच्छा विकास हुआ, किंतु वैष्णव भक्ति का जो उन्मेष हम संपूर्ण भारतीय भाषाओं में पाते हैं वह सिंधी साहित्य के मध्यकाल में परिलक्षित नहीं होता। सगुण भक्ति की कोई परंपरा वहां विकसित न हो सकी। इसका कारण यह था कि वेदांत और सूफ़ीवाद का मेल तो संभव था, किंतु अवतार के लिए इस्लाम धर्म से प्रभावित संस्कृति में कोई स्थान नहीं था।

सिंधी साहित्य में आधुनिक काल 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से प्रारंभ होता है। सिंध प्रांत 1843 में अंग्रेजों के अधिकार में आ गया था। सन् 1855 में सिंधी भाषा के लिए अरबी लिपि निर्धारित की गई। भारत के शेष प्रांतों में जिस प्रकार पुनर्जागृति की लहर उठी और अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध राष्ट्रीय चेतना का उदय हुआ; उसी प्रकार सिंधी साहित्य में भी। सन् 1914 से 1947 तक पत्र पत्रिकाओं के माध्यम से राष्ट्रीय भावनाओं का प्रचार किया गया।

सन् 1947 में भारत स्वतंत्र हुआ, किंतु खंडित रूप में। अत: सिंधी हिंदुओं को भारत के विभिन्न प्रांतों में आकर बसना पड़ा। वर्तमान समय में सिंधी भाषा और साहित्य भारतीय सिंधियों की पारस्परिक सांस्कृतिक एकता का सूत्र है। सिंधी समुदाय एक सुसंस्कृत समुदाय है और सिंधी भाषा के समसामयिक साहित्य में न्यूनाधिक रूप में वे सभी प्रवृत्तियाँ परिलक्षित हो रही हैं जो अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य में हैं।

मराठी

मराठी अथवा 'मरहट्ट' भाषा का विकास महाराष्ट्री प्राकृत से हुआ है। कात्यायन जैसा वैयाकरण 'महाराष्ट्री' को 'प्रकृष्ट प्राकृत' का पर्याय मानता है। ईसा की 10वीं-11वीं शती में मराठी का साहित्यिक रूप उभरने लगा था। यशचन्द्र नामक जैन कवि ने 11वीं शताब्दी में मराठी में 'राजमती प्रबोध' नामक नाटक लिखा

था । बारहवीं शती में 'विवेक सिंधु' जैसा वेदांत का ग्रंथ मराठी में लिखा गया। तेरहवीं शताब्दी में 'लीलाचरित' तथा 'ज्ञानेश्वरी' जैसा प्रौढ़ ग्रंथ संस्कृतनिष्ठ मराठी में लिखा गया।

मध्ययुग में मुस्लिम आक्रमणों के परिणाम स्वरूप इस भाषा में संस्कृत के साथ-साथ फ़ारसी शब्दों का भी प्रचलन हुआ। सोलहवीं शताब्दी में महानुभाव पंथ जवकृष्णी संप्रदाय के रूप में विकसित होकर पंजाब तक पहुँचा। नामदेव के पदों का संग्रह 'गुरु ग्रंथ साहिब' में किया गया है। अंग्रेजी, पुर्तगाली तथा फ्रेंच भाषा के शब्द भी मराठी में आए। ईसाई पादरी स्टीफन्स ने 'क्रिस्त पुराण' की रचना 1922 में मराठी में की। अन्य भारतीय भाषाओं के समान मराठी में आधुनिक युग में नवीनता की ओर अग्रसर हुई।

मराठी और हिंदी दोनों ने देवनागरी लिपि को स्वीकार किया है। प्राचीन काल से ही दोनों में पारस्परिक आदान-प्रदान चला आ रहा है। मराठा दरबार में हिंदी के कवियों को सम्मान मिलता था। शिवाजी तथा छत्रसाल के दरबारों में भूषण को आश्रय मिला था। कबीर ज्ञानदेव और नामदेव के नामों को बड़ी श्रद्धा के साथ लेते हैं। आधुनिक युग में भी ऐसे बहुत से साहित्यकार हैं जिन्होंने हिंदी और मराठी दोनों भाषाओं की श्री वृद्धि की है।

मराठी के साहित्यिक इतिहास का समय विभाजन प्रायः महान साहित्यकारों के नामों के आधार पर किया गया है। उसके आदि, मध्य और आधुनिक काल को अधोलिखित सात शीर्षकों में विभक्त किया गया है :

(1) आदि काल — अपभ्रंश अथवा प्राकृत से जब मराठी का रूप निखर रहा था।

(2) प्राचीन काल — जब ज्ञानेश्वर और नामदेव जैसे संतों ने संस्कृत मिश्रित मराठी को अभिव्यक्ति का साधन बनाया।

(3) पूर्व मध्यकाल — एकनाथ काल।

(4) उत्तर मध्यकाल — तुकाराम-रामदास काल

(5) पंडित काल — वामन, मोरोपंत आदि विद्वानों की साहित्यिक साधना का काल

(6) शाहीर और लावणी का काल।

(7) समसामयिक काल।

आदिकाल

हिंदी के समान मराठी का आदिकाल भी नाथपंथियों की वाणी से भरपूर है। नाथपंथी साधु रमते जोगी थे। अतः उनकी वाणी में ऐसी सामान्य जनभाषा का रूप

मिलता है जिसे पूरे उत्तरी भारतवर्ष में समझा जा सकता है। हिंदी के कवियों की भाँति इनकी हठयोग की क्रियाओं की अभिव्यक्ति सांध्यभाषा में उलट बाँसियों की शैली में हुई है।

ज्ञानेश्वर, नामदेव जैसे संत कवियों ने मराठी कविता को प्रौढ़ता प्रदान की। ज्ञानेश्वर ने बनारस तक की यात्रा की थी। बहुत छोटी आयु में ज्ञानेश्वर ने गीता पर पद्यबद्ध टीका लिखी जिसका नाम ज्ञानेश्वरी है। यह ग्रंथ साहित्य और दर्शन दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है।

ज्ञानेश्वर के पश्चात् नामदेव (1270-1380) का नाम संत कवियों में उसी प्रकार से विख्यात है जैसे कबीर का हिंदी में। नामदेव जाति के दर्जी थे। नामदेव के 20000 पद मिलते हैं जिनमें से 61 का संग्रह गुरु ग्रंथ साहिब में किया गया है। 13 और 14वीं शताब्दियों में अनेक ज्ञानमार्गी संत कवि हुए, किंतु वे सब विट्ठल भक्त थे। कबीर जब गाते हैं—"गोकुल बारो बीठुला, मोर मनु लागो तुम्ह रे" तो इस वाणी में हम महाराष्ट्र के संत कवियों की वाणी की प्रतिध्वनि पाते हैं। कबीर के समान ही ये संत कवि समाज के उस वर्ग से आविर्भूत हुए थे जो वर्ण मर्यादा में हीन समझा जाता था। सेना नाई, गोरा कुम्हार, नरहरी सोनार, बंका महार, चोखा मेला, सावता माली, सजन कसाई, कान्हों वैश्या, विठोबा खेचर कुछ प्रसिद्ध नाम हैं।

भक्ति का प्रतिपादन करने के साथ-साथ इन संत कवियों ने कबीर के समान समाज की कुरीतियों पर प्रहार किए हैं। इन कवियों ने संस्कृतनिष्ठ मराठी के स्थान पर बोलचाल की भाषा को अपनाया।

एकनाथ, मुक्तेश्वर, तुकाराम और समर्थ रामदास का संबंध भगवद् भक्ति शाखा के 'वारकरी' संप्रदाय से था जिसका अर्थ होता है—योजनाच्छादन की चिन्ता छोड़कर पूर्णरूप से भगवद्भक्ति में लीन हो जाना। इसी प्रकार 'दत्त' संप्रदाय भी भक्तिवादी संप्रदाय था। संत एकनाथ (1553-99) मध्यकालीन भक्ति संप्रदाय के एक महान कवि हैं। इन्होंने 'ज्ञानेश्वर' को लिपिबद्ध करने के साथ साथ भागवत् और रामायण पर आधारित एकनाथ भागवत् तथा भावार्थ रामायण की रचना की।

संत रामदास मध्यकालीन भक्त कवियों में अंतिम प्रमुख कवि हैं। शिवाजी को हिंदुत्व की रक्षा की प्रेरणा समर्थ रामदास से ही मिली थी। दास बोध (1959) आपकी भक्तिवादी तथा उपदेशात्मक रचना है। संत रामदास की रचना ओजपूर्ण है।

मध्य युग में लोक संस्कृति का उन्नयन करने वाले लोकनायक कवियों की भी एक सुदृढ़ परंपरा मिलती है जो पंत कवि अथवा पंडित कवियों के नाम से विख्यात हैं जो इकतारा और डफ जैसे वाद्य यंत्रों के साथ गीता, कृष्ण चरित तथा रामायण के आख्यानकों को सुर और ताल में बांध कर सुनाते थे। अकेले वामन पंडित ने समश्लोकी गीता, गंगालहरी, भर्तृहरि शतक का मराठी अनुवाद, कृष्ण कथा परक आख्यानक तथा

रामकथा पर गुरुनांक ग्रंथों की रचना की है। इसी प्रकार पंडित कवि ने 108 रामायणें लिखी हैं जिनमें से 99 अब भी उपलब्ध हैं। इस परंपरा में और भी अन्य कवि हुए हैं जिन्होंने राजनैतिक सांस्कृतिक पराभव के युग में लोक संस्कृति का उन्नयन किया तथा भगवद् भक्ति का प्रचार किया।

हिंदी की वीर गाथा परंपरा से अधिक सशक्त वीर गाथाओं की परंपरा मराठी में मिलती है। कारण मराठी में जिन वीर-गाथाओं का निर्माण हुआ उनके नायक वीर शिवाजी के समान लोक रक्षक भी थे। उनके युद्ध केवल राज्य विस्तार के लिए ही नहीं लड़े गए थे, बल्कि साथ में लोकरक्षण की भावना भी विद्यमान थी। उदाहरण के लिए अगिनदास का पहला 'पोवाड़ा' (1659) में अफजल खाँ के वध पर लिखा गया है। इस वीर गाथा में शिवाजी की युद्ध योजना का ओजपूर्ण निरूपण है। शिवाजी के अतिरिक्त अन्य मराठा वीरों पर भी पोवाड़े लिखे गए। वीर रस के साथ-साथ इनमें शृंगार का भी गहरा पुट है।

उन्नीसवीं शताब्दी में जिस प्रकार अन्य भारतीय भाषाओं पर नव जागरण का प्रभाव पड़ा उसी प्रकार मराठी पर भी। मराठी का आधुनिक साहित्य भी अन्य भाषाओं के समान समृद्ध है।

गुजराती

गुजराती और हिंदी सगी बहिनें हैं, क्योंकि दोनों भाषाओं का विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है जिसका केंद्र मथुरा है। हिंदी भाषी क्षेत्र सांस्कृतिक दृष्टि से भी गुजराती भाषी क्षेत्र के सन्निकट हैं। महाभारत काल में जरासंध के आक्रमण से त्रस्त होकर कृष्ण ने यादवों के साथ द्वारकापुरी को अपनी राजधानी बनाया था। मीरा को हिंदी साहित्य की निधि माना जाता है, किंतु गुजराती भाषी मीरा को गुजराती की संपत्ति मानते हैं।

ईसा की पाँचवीं-छठीं शताब्दी में गुर्जर जाति ने भारत में प्रवेश किया था। यह जाति राजस्थान में फैलती हुई गुजरात तक गई। दक्षिण भारत में भी गुर्जरों ने प्रवेश किया। इस प्रकार पश्चिमोत्तर और दक्षिण-पश्चिम भूभागों में एक पृथक जाति के रूप में इसका फैलाव हुआ। गुर्जर जाति के नाम पर ही गुजरात प्रांत का नामकरण हुआ है। सुरती, चरोतरी, भीली, हलारी, अहमदाबादी और कच्छी गुजराती की बोलियाँ हैं। गुजरात पर मुसलमानी शासन सोलहवीं शताब्दी में आरंभ हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप गुजराती शब्दकोश में फ़ारसी-अरबी के शब्द प्रचुर मात्रा में संग्रहीत हुए।

गुजराती भाषा का आदिकाल 1185-1450 माना जाता है। इस काल में गुजराती में रासा साहित्य का प्रचार रहा। रासा की परंपरा नृत्य-गीतात्मक है, रचयिता प्रायः जैन कवि हैं। रासा साहित्य में अनुराग और विराग का अद्भुत सम्मिश्रण है। जैन कवियों ने चरित नायकों को पहले स्त्री-सुख में डुबाया है। प्रचुर भोगों का

उपभोग करा के उन्हें वैराग्यमय जैन धर्म की दीक्षा दिलाई है। मालभद्र सूरि, महेन्द्र सूरि, विजयसेन, शालिभद्र, जयशेखर, सोम सुन्दर आदि रासा साहित्य के प्रसिद्ध कवि हैं। रासा परंपरा 18वीं शती तक चलती रही है। जैन रासा लेखकों में कुशललाभ जैसे कवि भी हुए हैं जिन्होंने "माधवानल काम कंदला चउपाई" जैसा अद्भुत श्रृंगार प्रधान प्रबंध काव्य लिखा है।

पंद्रहवीं शताब्दी में गुजराती साहित्य में वैष्णव भक्ति परंपरा का विकास हुआ। नरसिंह मेहता जैसे प्रसिद्ध कृष्ण भक्त कवि का आविर्भाव एक युग परिवर्तनकारी घटना थी। कहा जाता है कि श्रीकृष्ण भगवान का नरसिंह से प्रत्यक्ष साक्षात्कार हुआ था तथा अनेक अवसरों पर विभिन्न रूप धारण कर कृष्ण ने अपने भक्ति की सहायता की थी। नरसिंह ने 'शामल सगानो विवाह' और 'मारेरू' जैसे काव्यों में व्यक्तिगत अनुभूतियों का मार्मिक आख्यान किया है। मीरा का अंतिम समय द्वारिकापुरी में व्यतीत हुआ था। अतः मीरा के सरस पद आज भी गुजराती में गाए जाते हैं। कृष्ण भक्ति के साथ-साथ गुजरात में वैष्णव आंदोलन सक्रिय हुआ और रामायण, महाभारत तथा पुराणों का गुजराती भाषा में प्रणयन किया गया। वैष्णव भक्ति के साथ-साथ जैन और शाक्त भक्तिधारा का भी गुजराती में प्रचलन हुआ।

मध्यकालीन गुजराती साहित्य में वीर काव्य, कथा साहित्य, गद्य साहित्य का भी निर्माण हुआ। यह साहित्य सृजन संस्कृत साहित्य के आधार पर हुआ था। गरबा, गरबी (पौरुष तथा कोमलता प्रधान नृत्य गीत) का प्रचार शिव और शक्ति के आधार पर हुआ था, जो आज भी लोक नृत्य के रूप में संपूर्ण गुजरात में प्रचलित है।

गुजराती साहित्य में आधुनिक युग का समावेश उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण से होता है। सन् 1808 में ईसाई धर्म के प्रचार की सुविधा की दृष्टि से प्रथम गुजराती व्याकरण लिखा गया। सन् 1822 में प्रथम गुजराती समाचार पत्र 'मुंबई समाचार' पत्र प्रकाशित हुआ। सन् 1827 में 'एलफिंस्टन इंस्टीट्यूट' की स्थापना हुई, जिसने नर्मद और नवलराम जैसे साहित्यकारों को जन्म दिया। अन्य भारतीय भाषाओं के नवजागृतिकालीन साहित्यकारों की भाँति नर्मद एक सुधारवादी तथा समन्वयकारी साहित्यकार थे। गांधी विचारधारा का आधुनिक गुजराती साहित्य पर अधिक प्रभाव पड़ा है।

आज का गुजराती साहित्य संपूर्ण साहित्यिक विधाओं के साथ विकासशील है। समसामयिक गुजराती साहित्य में हिंदी के समान आधुनिकता का समावेश है।

उर्दू

उर्दू भाषा का अपना कोई क्षेत्र विशेष नहीं है। हिंदी की वाक्य संरचना में अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग किए जाने पर उर्दू नाम दे दिया जाता है। उर्दू की लिपि अरबी है जो दाहिने से बाईं ओर लिखी जाती है। मध्यकाल में भारत में जब मुसलमानी सल्तनतों

सांस्कृतिक-सामाजिक एकता का एक सूत्र है और भारत के किसी भी क्षेत्र में बसने वाला मुसलमान उर्दू को अपनी मातृभाषा कहने में सांस्कृतिक गौरव का अनुभव करता है।

उर्दू भाषा का विकास 11-12 वीं शताब्दी से माना जाता है, जो वस्तुतः खड़ी बोली के विकास का समय है। 11वीं शताब्दी में महमूद गज़नवी के आक्रमण के समय और उसके कुछ बाद तुर्क, ईरानी और अफ़ग़ान भारत में आकर बसे। इसके परिणाम-स्वरूप एक ऐसी बोली का विकास हुआ जिसका वाक्य-साँचा खड़ी बोली का था। किंतु जिसमें तुर्की, अरबी, फ़ारसी, पश्तो के शब्द पूरी स्वतंत्रता से प्रचलित हुए। प्रयोग में आते-आते ये शब्द प्रायः तद्भव रूप में हिंदी शब्द कोश का अंग बन गए। इनका प्रयोग हमें साहित्यिक हिंदी में भी मिलता है। इस मिली-जुली भाषा के प्रयोग की सबसे पहली परंपरा उन सूफ़ी कवियों की रचनाओं में देखी जा सकती है जिन्होंने देशी भाषाओं को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। अतः कश्मीरी, पंजाबी, गुजराती, सिंधी आदि भाषाओं के जो मध्यकालीन कवि हैं उन्हें हम उर्दू के भी आदि कवि मान सकते हैं। इन कवियों ने मिश्रित भाषा का प्रयोग किया है। इनकी एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इनकी वाणी में इस्लाम की कट्टरता के स्थान पर मानवता के प्रति प्यार है। ख़्वाजा मुईनुद्दीन, ग़रीब नवाज़, फ़रीद, शाहआलम, बंदा नवाज़ जैसे सूफ़ी कवियों की भाषा में हम मिली-जुली भाषा का वह रूप देख सकते हैं जिन्हें आज उर्दू की साहित्यिक परंपरा की विभूतियाँ कहा जाता है।

दक्षिण में बहमनी राज्य की स्थापना के साथ उर्दू का विकास दक्षिण में प्रारंभ हुआ। मुहम्मद तुगलक ने जब दिल्ली के स्थान पर दौलताबाद (देवगरि) को राजधानी बनाया तब बहुत से सूफ़ी और सरकारी कर्मचारी दक्षिण में जाकर बस गए और दक्षिण में हिंदी का प्रचार हुआ। बहमनी राज्य के विघटन के पश्चात् बीजापुर, गोलकुंडा, अहमदनगर, बीदर और बरार में मुसलमानी शासन स्थापित हुआ। इन राज्यों में दक्खिनी हिंदी अथवा हिंदवी खूब पनपी। इस शैली में तेलुगु आदि दक्षिण की भाषाओं से लोक प्रचलित शब्द भी स्वीकार किए गए थे। आज इस हिंदी की परंपरा को हिंदी और उर्दू दोनों की ऐतिहासिक विरासत माना जाता है।

उर्दू साहित्य का मध्यकाल 19वीं शताब्दी है और यही इसका स्वर्णकाल भी है। इस युग में उर्दू भाषा में निखार आता है और धीरे-धीरे यह भारतीय इस्लामी संस्कृति की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम बन जाती है। दर्द, मीर, सौदा आदि कवि इस युग के प्रसिद्ध कवि हैं। इस युग में दिल्ली का मुगल शासन विघटित हो रहा था, केवल नाम भर शेष था। इसलिए इस युग की कविता में दर्द की प्रधानता है। यह दर्द कभी-कभी सूफ़ीवाद अथवा अध्यात्मवाद का बाना भी ओढ़ता है। गद्य शैली में निखार इसी युग में आता है। उन्नीसवीं शताब्दी में ही नजीर जैसे उर्दू के जन कवि भी जीवन की मस्ती और फक्कड़पन ले कर सामने आए। नजीर की ग़ज़लों में आगरा जनपद का जन-जीवन मुखरित हो उठा है।

सन् 1857 में जब दिल्ली के मुगल दरबार का नामोनिशान मिट गया तो उर्दू के शायर रोटी-रोजी की तलाश में लखनऊ की ओर मुड़े, जो उस समय नवाबी शान और नफ़ासत के लिए उत्तर भारत में प्रसिद्ध था। लखनऊ के नवाबों से अंग्रेज सरकार की संधि हो चुकी थी इसलिए यहाँ वह मायूसी का आलम उतना गहरा नहीं था जो दिल्ली में देखने में आ रहा था। लखनऊ नगर इस समय शराब और सुंदरियों में डूब रहा था, जिसके छींटें आतिश जैसे लखनऊ के शायरों की गज़लों में मिलते हैं।

लखनऊ में एक जन रंगमंच भी उभरा जिसे 'इंदर सभा' कहा जाता था। संगीत और नृत्य का इसमें प्राधान्य रहता था तथा बीच-बीच में प्रहसनों का भी आयोजन रहता था। मरसिए और मनसबी साहित्य का, जो हमेशा प्रबंधात्मक शैली में लिखे जाते थे, लखनऊ में अच्छा विकास हुआ। मोसिन और गालिब इस युग के प्रमुख कवि हैं। गालिब को इस युग का सर्वश्रेष्ठ शायर माना जाता है।

नव जागरण काल में मुस्लिम संस्कृति और समाज का नेतृत्व सैयद अहमद खाँ जैसे दूरदर्शी राजनीतिज्ञ के हाथों में आया। उनकी प्रेरणा से मुसलमान साहित्यकार कल्पना और मनोविलास की भावभूमि का परित्याग करके जीवन की वास्तविकताओं की ओर मुड़े। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में जिस प्रकार पत्र-पत्रिकाओं के प्रचार-प्रसार और मुद्रण की सुविधाओं के परिणाम स्वरूप साहित्य की लगभग सभी विधाओं का विकास हिंदी में हुआ उसी प्रकार उर्दू में भी।

अकबर इलाहाबादी और चकबस्त इस युग के प्रमुख राष्ट्रीय कवि हैं, जिन्होंने काँग्रेस आंदोलन से प्रभावित होकर देश-प्रेम के गीत गाए। इकबाल आधुनिक उर्दू साहित्य के एक महान कवि हैं। इकबाल की कविता ने नवजागरण को पूरा साथ दिया। भारत का बँटवारा हो जाने के परिणाम स्वरूप उर्दू-साहित्य के विकास को काफी ठेस पहुँची। किंतु उर्दू प्रेमियों की भारत में अब भी कमी नहीं है और उर्दू का साहित्य अब भी लिखा और पढ़ा जा रहा है। सरकारी स्तर पर उर्दू-साहित्य के विकास के लिए प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

हिंदी

अपनी भौगोलिक स्थिति और सांस्कृतिक दाय के परिणाम स्वरूप हिंदी भारतवर्ष की समृद्धतम भाषा है। स्वतंत्रता के पश्चात् इसका द्रुत गति से विकास हो रहा है और अपने वर्तमान स्वरूप में हिंदी ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में प्रयोग में आने वाली भाषा बन गई है। बोलने वालों की संख्या के आधार पर इसको अखिल भारतीय संपर्क की भाषा का पद प्राप्त है। जैसे-जैसे अंग्रेजी का व्यामोह भारतीयों के मन से नष्ट होता जा रहा है तथा अपनी क्षेत्रीय अथवा मातृभाषा के प्रति अनुराग बढ़ता जा रहा है वैसे-वैसे अंतरप्रांतीय संपर्क की भाषा के रूप में हिंदी का प्रयोग बढ़ता जा रहा है।

हिंदी भाषा का केंद्र देश का भौगोलिक तथा सांस्कृतिक केंद्र भी है। राजनीतिक उत्थान-पतन और विदेशी आक्रमणों का प्रभाव भी सबसे अधिक हिंदी भाषी क्षेत्र पर पड़ा है। जिस प्रकार हृदय का कार्य शरीर के मध्य में स्थित रहकर संपूर्ण शरीर से रक्त को स्वीकार करना तथा समस्त शरीर में रक्त का संचार करना रहता है उसी प्रकार हिंदी-क्षेत्र की स्थिति मध्यदेशीय होने के परिणाम स्वरूप यह क्षेत्र अंतर और बाह्य सभी प्रभावों और प्रवाहों को स्वीकार करता रहा है, साथ ही देश के एक कोने का संदेश दूसरे कोने तक पहुँचाता रहा है। इसलिए इस क्षेत्र की सांस्कृतिक और भाषायी स्थिति सीमावर्ती क्षेत्रों की तुलना में अधिक वैविध्यपूर्ण एवं उदार है। सामान्य बोलचाल में सीमावर्ती क्षेत्रों के लोग हिंदी भाषी क्षेत्र को 'हिंदुस्तान' तथा इस क्षेत्र के निवासी को 'हिंदुस्तानी' शब्द से संकेतित करते रहे हैं।

साहित्य के स्तर पर हिंदी साहित्य में वे सब प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं जो अन्य भाषाओं के साहित्य में आगे-पीछे मिलती हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से हिंदी भाषी क्षेत्र में भारत की प्रत्येक सांस्कृतिक इकाई का प्रतिनिधित्व विद्यमान है। प्राचीन भारतीय संस्कृति का विकास गंगा और सिंधु के दोआबे में हुआ था। राम और कृष्ण, महावीर और बुद्ध की पवित्र जन्मभूमि हिंदी-क्षेत्र में ही है। इसलिए हिंदी क्षेत्र को सांस्कृतिक दाय के रूप में वह सब ज्ञान-राशि सहज रूप से प्राप्त है जो प्राचीन संस्कृति के विकास में सहायक हुई है। हिंदी भाषा का उद्गम संस्कृत भाषा से है जो प्राकृत और अपभ्रंश के सोपानों से विकसित हो कर मध्य युग में जन-भाषा बन जाती है। मध्ययुग में अवधी, ब्रजभाषा और खड़ी-बोली इसकी तीन प्रमुख शैलियाँ विकसित हुईं। खड़ीबोली मध्यकालीन हिंदी का वह रूप था जिसका विकास हिंदू और मुसलमान दोनों के पारस्परिक सांस्कृतिक संपर्क से हुआ था। इसमें अरबी-फ़ारसी के शब्दों का काफ़ी प्रचलन था। मुसलमानी सल्तनत के विकास के साथ यह रूप दक्षिण-भारत में भी पहुँचा। वहाँ हिंदी अथवा दक्खिनी हिंदी के नाम से विकसित हुआ। खड़ीबोली का बाज़ारू रूप—सामान्य बोलचाल का रूप—उर्दू कहलाया, जिसने राजनीतिक कारणों से उन्नीसवीं शताब्दी से अपना स्वतंत्र रूप से विकास करना प्रारंभ किया। किंतु यह निर्विवाद है कि संस्कृत के पश्चात् अखिल भारतीय संपर्क की भाषा के रूप में जिस भारतीय भाषा का विकास हुआ वह हिंदी ही थी। सांस्कृतिक और राजनीतिक कारणों से भारतीय इतिहास का ऐसा कोई युग नहीं रहा, जबकि मध्यदेश की भाषा समस्त भारत का प्रबुद्ध वर्ग बोल या समझ न सके। उन्नीसवीं शताब्दी में प्रबुद्ध वर्ग को अंग्रेजी का नया माध्यम मिल जाने के परिणाम स्वरूप हिंदी के अखिल भारतीय संपर्क का रूप कुछ शिथिल पड़ गया, किंतु अंग्रेजी के साम्राज्य के दुर्बल हो जाने के परिणाम स्वरूप हिंदी पुनः संपर्क की भाषा के रूप में उभर रही है। न्यस्तस्वार्थ तथा भाषायी राजनीति के परिणामस्वरूप कभी-कभी विरोध के स्वर भी देश के किसी-किसी कोने में सुनाई पड़ जाते हैं, किंतु समय के प्रवाह को अधिक दिनों तक

रोक पाना संभव नहीं होगा। वह दिन दूर नहीं, जब देश का लोकमानस मुक्त हृदय से हिंदी को संपर्क भाषा के रूप में स्वीकार करेगा।

हिंदी भाषा का विकास

संस्कृत भाषा के परिचय के संदर्भ में हमने कहा था कि संस्कृत भारत की प्राचीनतम भाषा है, किंतु इसका यह अर्थ कभी नहीं है कि भारत जैसे विशाल देश में ऐसा भी कोई युग रहा होगा जब यहाँ केवल संस्कृत ही बोली और समझी जाती होगी। संस्कृत वस्तुतः आर्यों की भाषा थी, जिसका प्रसार और प्रचार आर्य-संस्कृति के विस्तार के साथ हुआ। आनार्य जातियाँ अपनी बोली को सुरक्षित रखने के साथ-साथ संस्कृत को भी बोलने और समझने की चेष्टा करती थीं। अतः आर्यों और अनार्यों के पारस्परिक संपर्क में संस्कृत का अनभ्यास का एक नया रूप उभरा जो 'प्राकृत' कहलाया। ऋषियों ने व्याकरणों की रचना कर के संस्कृत के विशुद्ध रूप को बहुत कुछ सुरक्षित रखने की चेष्टा की किंतु वह असफल रही। महात्मा बुद्ध और तीर्थंकर महावीर ने लोकभाषा के महत्त्व को पहचाना। बुद्ध ने जिस प्राकृत में अपना उपदेश दिया था वह 'पालि' कहलाई तथा महावीर ने जिस भाषा में अपना उपदेश दिया वह केवल 'प्राकृत' कहलाई। क्षेत्रीय भेद के कारण इन 'प्राकृतों' के अनेक रूप उभरे—जैसे महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अर्ध मागधी। इनमें महाराष्ट्री प्राकृत प्रमुख मानी गई।

आर्य संस्कृति का विस्तार और आर्येतर जातियों से संपर्क ही संस्कृत भाषा के रूप परिवर्तन का कारण नहीं था, ईसा के चार सौ वर्ष पूर्व से भारत में विभिन्न जातियों का प्रवेश होने लगा था, जो संस्कृत भाषा का प्रयोग कर सकने में असमर्थ थीं। इस्लामी संस्कृति के पूर्व जितनी भी जातियाँ भारत में आईं, वे सब वृहद भारतीय परिवार में ही घुलमिल कर एक हो गई थीं, किंतु उनको आत्मसात करने में भारतीय संस्कृति के स्वरूप और रीत्याचारों में थोड़ा बहुत परिवर्तन होता रहा। यही बात संस्कृत भाषा के रूप-परिवर्तन के विषय में भी लागू होती है। संस्कृत से प्राकृत रूप के भाषायी परिवर्तन में विदेशी जातियों का आगमन एक प्रमुख कारण था। फिर भी विद्वत् समाज की भाषा संस्कृत ही बनी रही और शास्त्रों की रचना उसी भाषा में शताब्दियों तक होती रही। किंतु संस्कृत बोलचाल की भाषा नहीं रह गई थी, हर्षवर्धन के केंद्रीकृत राज्य के विघटन के पश्चात् जिस प्रकार क्षेत्रीय राज्य संगठित हुए उसी प्रकार क्षेत्रीय भाषाएँ भी विकसित हुईं। इन भाषाओं को विद्वानों ने अपभ्रंश नाम दिया है। अपभ्रंशों के स्वरूप में एकता में भिन्नता प्रमुख हो उठी।

जिस प्रकार प्राकृतों में महाराष्ट्री प्राकृत प्रमुख साहित्यिक भाषा बनी उसी प्रकार अपभ्रंशों में नागर अपभ्रंश मध्यकाल की प्रमुख साहित्यिक भाषा बनी। इसका कारण राजनीतिक था। मध्यकाल में उत्तरी भारत में आभीरों ने एक शक्तिशाली राज्य की

स्थापना की थी। ये नागर अपभ्रंश का प्रयोग करते थे। आभीरों ने प्रारंभ में सिंध पर अपना अधिकार किया, बाद को गुजरात, राजस्थान भी इनके अधिकार में चले गए। सातवीं शताब्दी में इनका आधिपत्य पाँचाल देश पर हुआ और नवीं शताब्दी में राजा भोज के नेतृत्व में आभीर राज्य का विस्तार बिहार तक हो गया। वैयाकरणों ने अपभ्रंशों के 27 भेद माने हैं; किंतु उनमें तीन भेद प्रमुख हैं, क्योंकि इन्हीं तीन में अधिकांश साहित्य की रचना हुई है। ये नाम हैं व्राचड़, नागर और उपनागर। नागर शब्द उस समय गुजरात के लिए प्रयोग में आता था। व्राचड़ अपभ्रंश से सिंधी का विकास हुआ।

नागर अथवा शौरसेनी अपभ्रंश से गुजराती, राजस्थानी, पश्चिमी हिंदी और पंजाबी का विकास हुआ। उपनागर अपभ्रंश का प्रयोग पश्चिमी राजस्थान और दक्षिणी पंजाब तक सीमित रहा। सन् 1000 ई० के लगभग मागधी तथा अर्धमागधी अपभ्रंशों से क्रमशः बंगला, बिहारी, असमिया और ओड़िया का विकास हुआ तथा अर्धमागधी से पूर्वी हिंदी का विकास हुआ। दक्षिण की तमिल, तेलुगु, कन्नड़ तथा मलयालम का द्रविड़ परिवार की भाषाएँ हैं। इनका अपना पृथक इतिहास है। प्रांतभेद से नगार अथवा शौरसेनी अपभ्रंश देश की अनेक भाषाओं में रूपांतरित हुई, किंतु मध्यप्रदेश में अनेक शैली भेदों के साथ हिंदी उभरी, जिसका विशेष सांस्कृतिक महत्व है।

राजस्थानी हिंदी में मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती और मालवी बोलियाँ सम्मिलित हैं। बिहारी हिंदी में भोजपुरी, मैथिली और मगही बोलियाँ सम्मिलित हैं। पहाड़ी हिंदी के पश्चिमी, पूर्वी और मध्य पहाड़ी—ये तीन बोलचाल के रूप प्रचलित हैं। पश्चिमी हिंदी की एक विशेष शैली खड़ी बोली है, जिसका विकास दिल्ली-मेरठ जैसे नगरों में हुआ। इसी की अरबी-फ़ारसी शब्दों से युक्त एक उर्दू शैली का विकास हुआ, जो मध्यकाल में बाजार की आमफ़हम भाषा थी। ब्रजभाषा, बुंदेली, कन्नौजी और बाँगरू बोलियाँ पश्चिमी हिंदी के अंतर्गत आती हैं। इनमें ब्रजभाषा साहित्य की दृष्टि से सबसे अधिक समृद्ध है। पूर्वी हिंदी के अंतर्गत अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी बोलियाँ आती हैं। पूर्व मध्य काल में अवधी को साहित्यिक भाषा का गौरव प्राप्त हुआ। जायसी ने ठेठ अवधी में 'पदमावत' तथा तुलसी ने संस्कृतनिष्ठ तथा ब्रजभाषा समन्वित अवधी में 'रामचरितमानस' की रचना करके अवधी को अमर बना दिया। तुलसी की मुक्तक रचनाओं—कवितावली, विनयपत्रिका आदि में ब्रजभाषा का प्राधान्य है। वर्तमान समय में हिंदी का एक परिनिष्ठित रूप उभर रहा है जिसका व्याकरण खड़ीबोली का है तथा जिसमें बोलचाल के विदेशी शब्दों को उन्मुक्त रूप से स्वीकार किया जा रहा है, किंतु तकनीकी तथा शास्त्रीय शब्दों का निर्माण प्रायः संस्कृत शब्दकोश के आधार पर किया जा रहा है।

हिंदी की लिपि देवनागरी है जो ब्राह्मी लिपि का ही विकसित रूप है। मराठी ने भी इसी रूप को स्वीकार किया है। वर्तमान समय में यह विचार जोर पकड़ता जा

रहा है कि प्रत्येक भाषा के लिए एक अतिरिक्त लिपि के रूप में नागरी लिपि को स्वीकार किया जाए। इससे विभिन्न भाषाओं के साहित्य को समझने में सहायता मिलेगी तथा राष्ट्रीय समन्वय और पारस्परिक सद्भाव का विकास होगा।

हिंदी भाषा का साहित्य

उत्तरी भारत की प्रमुख भाषाओं की साहित्यिक परंपराओं का सर्वेक्षण करते हुए हमने पाया कि हिंदी प्रदेश से पश्चिम तथा पश्चिमोत्तर भाषाओं—कश्मीरी, पंजाबी और सिंधी पर इस्लामी संस्कृति का प्रभाव प्रमुख है। इन भाषाओं के साहित्य में इस्लामी और भारतीय संस्कृतियों के समन्वय की दृष्टि से सूफी मतवाद का विशेष प्रचार हुआ। सूफी धर्म स्वयं भारतीय और ईरानी संस्कृतियों के समन्वय से विकसित हुआ था। इस्लामी आक्रमणों के बहुत पहले मुसलमान बादशाहों के दमन चक्र से भयभीत होकर बहुत से सूफियों ने भारत में शरण ली थी और भारत ने उदारता-पूर्वक इनको स्वतंत्रतापूर्वक बसने की सुविधा प्रदान की थी। सूफी साधना पद्धति पर योग और शांकर अद्वैतवाद का भी गहरा प्रभाव था। प्रेम की पीर इनकी अपनी चीज थी, किंतु इन्होंने जिस आध्यात्मिक सत्ता को अपने प्रणय का आलंबन बनाया वह सगुण साकार न होकर सगुण निराकार थी। सूफी साधक उस सगुण निराकार सत्ता का जल्वा विश्व के कण-कण में देखते थे। मानवीय सौंदर्य (नारी-सौंदर्य) में भी उन्हें अपने महबूब (प्रेम पात्र) का नूर झलकता हुआ दृष्टिगोचर होता था। इस प्रणय को सूफियों ने साहित्य की दो विधाओं में अभिव्यक्त किया है। स्फुट छोटे-छोटे छंदों में जिन्हें सिंधी भाषा में 'बैत' तथा पंजाबी में 'श्लोक' कहते हैं। कबीर की साखियों का विकास 'दूहा' छंद में इन्हीं के समानांतर हुआ है। दूसरा रूप प्रबंधात्मक है जिन्हें हिंदी की 'प्रेम आख्यानकों' की परंपरा कहते हैं। प्रेम आख्यानकों की परंपरा 'मसनवी' शैली में लिखी गई। दोहा–चौपाई छंद की शैली इसके लिए सबसे उपयुक्त सिद्ध हुई। आख्यानकों के कथानक प्रायः भारतीय जीवन से लिये गए हैं। हिंदी में इस परंपरा का सबसे सफल प्रतिनिधित्व मलिक मुहम्मद जायसी ने किया। ईश्वर को सगुण, किंतु निराकार मानकर उसको अपने दिल में खोजने का उपदेश कबीर ने दिया। कबीर वस्तुतः सूफी साधना, योगमार्ग, वेदांत और वैष्णव भक्ति के समन्वित संस्करण हैं। उन पर शेख तकी और रामानन्द दोनों आध्यात्मिक मार्ग-दर्शकों का प्रभाव देखा जा सकता है।

हिंदी भाषी क्षेत्र के पूर्व में असमिया, बंगला तथा ओड़िया भाषा क्षेत्र हैं। इन भाषाओं के साहित्यिक विकास के प्रथम चरण में इस्लामी संकृति का प्रभाव नहीं पड़ा था। इस्लामी संस्कृति के केंद्र सिंध, काश्मीर और पंजाब प्रांत थे। अतः इन क्षेत्रों में योगियों और तांत्रिकों का प्रभाव प्रमुख था। हठयोग और नाड़ी-साधना आध्यात्मिक साधना के

प्रमुख रूप थे। नाथ पंथियों की बानी जिस प्रकार मध्यकालीन हिंदी साहित्य में परिलक्षित होती है उसी प्रकार इन भाषाओं में भी। चौरासी सिद्धों की साहित्यिक रचनाओं से हिंदी का रूप उभरा। यही बात असमिया और ओड़िया भाषाओं के विषय में भी कही जा सकती है। रामायण और महाभारत की अवतारणा इन भाषाओं में समय-समय पर होती रही।

मध्यकालीन हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि सगुण साकार ईश्वर की उपासना करने वाले सूर-तुलसी तथा अन्य वैष्णव भक्तों का वह साहित्य है, जिनको पा कर जन-मानस उद्वेलित हो उठा था। यह प्रवृत्ति हम पूर्वी क्षेत्र की प्रत्येक भाषा में पाते हैं, किंतु पश्चिमी क्षेत्र की किसी भाषा में नहीं पाते।

रीतिकाल के समकक्ष दरबारी कवियों की परंपरा हमें ओड़िया साहित्य में भी मिलती है। रीतिकाल के हिंदी कवि कवि होने के साथ-साथ आचार्य भी थे। इन्हें काव्य-कला के विविध पक्षों का सम्यक ज्ञान था। हिंदी के रूप को सँभारने में इन कवियों ने सराहनीय कार्य किया। किंतु ओड़िया के दरबारी कवि प्रायः प्रशस्ति लेखक थे। शृंगारिकता दोनों भाषाओं के साहित्य में समान रूप से मिलती है।

जिस प्रकार उत्तर भारत की अन्य भाषाओं में आधुनिकयुग का सूत्रपात 19वीं शताब्दी से ही होता है उसी प्रकार हिंदी में भी छापेखानों की सुविधा का जैसे-जैसे विकास होता गया, साहित्य की विभिन्न विधाएँ—विशेष कर पत्रकारिता तथा पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से साहित्य की अन्य विधाओं का विकास उन्नीसवीं सदी में होने लगता है। उन्नीसवीं सदी में साहित्यिक नेतृत्व भारतेन्दु बाबू हरिशचन्द्र ने किया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी को व्याकरणसम्मत परिनिष्ठित रूप दिया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इतिहास तथा आलोचनात्मक साहित्य को प्रौढ़ता प्रदान की। मुं॰ प्रेमचंद ने कथा साहित्य को समृद्ध किया तथा जयशंकर प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त और निराला ने आधुनिक हिंदी कविता और कविता की भाषा को समृद्ध किया। समसामयिक साहित्य में हमें हिंदी साहित्य पर अंतरराष्ट्रीय प्रभाव परिलक्षित हो रहा है। यह बात अन्य भारतीय भाषाओं के विषय में भी की जा सकती है। पूर्ववर्ती आधुनिक साहित्यकारों की दृष्टियाँ सांस्कृतिक परिष्कार और नैतिक मूल्यों की प्रस्थापना पर अधिक रहती थीं। सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्रण करते हुए भी उनकी दृष्टियाँ आदर्शोन्मुख थीं। किंतु समसामयिक साहित्यकार अपने ऊपर इस प्रकार की कोई जिम्मेदारी स्वीकार नहीं करते। वे जीवन को जिस रूप में देखते हैं उसी रूप में उसे उपस्थित भी करना चाहते हैं। उनमें जितना खंडन का आवेश है उतना नवनिर्माण का उन्मेष नहीं है और यही कारण है कि समसामयिक साहित्य कोई ऐसी कृति प्रस्तुत नहीं कर सका जो जन-मानस का स्पर्श कर सके। सच बात तो यह है कि साहित्यकार और जन सामान्य में संवादिता समाप्त होती जा रही है।

दक्षिण भारत की भाषाएं और उनका साहित्य

भारतीय भाषा परिवारों में द्राविड परिवार का स्थान महत्वपूर्ण है। द्राविड को द्रविड या द्रमिड भी कहते हैं। इस परिवार में अनेक भाषाएं हैं, किंतु उनमें से चार भाषाएँ प्रमुख मानी जाती हैं—तमिल, मलयालम, तेलुगु और कन्नड। भाषाविदों का अनुमान है कि इन चारों भाषाओं का उद्गम एक मूल भाषा थी जिसे 'प्रोटो-द्रविडियन' का नाम दिया गया है। कॉल्ड वेल ने द्रविड भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करके यह सिद्ध कर दिया कि चारों भाषाओं में पारिवारिक लक्षण समान रूप में प्राप्त होते हैं।

इनमें तमिल का नाम सबसे पहले लेना चाहिए। तमिल संस्कृत के समान ही एक प्राचीन भाषा है। उसका इतिहास लगभग दो हज़ार वर्ष पुराना है। मलयालम तमिल से बहुत समानता रखती है। अतः उसे तमिल की छोटी बहन कहें तो असंगत नहीं होगा। तमिल और कन्नड में भी घनिष्ट संपर्क रहा है। कई तमिल शब्दों के पकार के स्थान पर हकार का आदेश करें तो वे कन्नड के शब्द बन जाते हैं। पाल्—हालु (दूध), पू—हू (पुष्प) आदि इसके उदाहरण हैं। प्राचीन कन्नड में इन शब्दों में पकार का ही उच्चारण होता था। तेलुगु भी काफ़ी प्राचीन भाषा है। उसका साहित्य सन् 700 ई० से पाया जाता है। इन चारों भाषाओं में साहित्य की समृद्ध परंपरा है। तमिल को छोड़ कर तीनों भाषाओं ने संस्कृत से काफ़ी प्रभाव ग्रहण किया। केवल तमिल भाषा ने आरंभ से ही अपनी स्वतंत्रता को क़ायम रखने का प्रयास बड़ी सफलता के साथ किया है।

यहाँ हम संक्षेप में इन चारों भाषाओं के साहित्य का परिचय दे रहे हैं। ये चारों भाषाएँ दक्षिण भारत में बोली जाती हैं। वस्तुतः इन भाषाओं के साहित्य के साथ दक्षिण भारत की संस्कृति और इतिहास का घनिष्ठ संबंध रहा है।

तमिल

द्रविड परिवार की भाषाओं में तमिल का स्थान सर्व प्रथम है। तमिल भाषा काफ़ी प्राचीन मानी जाती है। तमिल के विद्वान् इस भाषा को संस्कृत से भी प्राचीन मानते हैं। इस भाषा में उपलब्ध सर्व प्रथम ग्रंथ है 'तोल्काप्पियम्।' इस ग्रंथ के लेखक 'तोल् काप्पियर्' के नाम से विख्यात हैं। वैसे तो 'तोल' शब्द का अर्थ है 'प्राचीन' और 'काप्पियम्' काव्य का ही रूपांतर है। इस प्रकार 'तोल्काप्पियम्' का अर्थ होता है 'प्राचीन काव्य'। यह व्याकरण तथा काव्यशास्त्र का सम्मिलित रूप है। इस लक्षण ग्रंथ का रचनाकाल ईसवी सन् का प्रारंभिक काल कहा जाता है। 'तोल्काप्पियम्' के अंतः साक्ष्य से पता चलता है कि इस ग्रंथ से पहले ही तमिल में एक समृद्ध साहित्यिक परंपरा का विकास हो चुका था।

तमिल साहित्य के इतिहास को विद्वानों ने तीन 'संघों' में विभाजित किया है। प्रथम संघ का साहित्य प्राचीनतम है। इसका काल 500 ई. पू. से आरंभ होता है। कई कवियों ने प्राचीन तमिल में विविध प्रकार के काव्य लिखे थे। उस समय की भाषा आज के तमिलभाषी के लिए किंचित् दुरूह है। फिर भी भाषायी संरचना की दृष्टि से अंतर बहुत कम पाया जाता है। 'संघ इलक्कियम्' या संघ साहित्य उच्च कोटि का साहित्य माना जाता है।

इस समय के ग्रंथों में कवि तिरुवल्लुवर का 'कुरल्' सर्वाधिक लोकप्रिय है। इसमें हिंदी के दोहे जैसे छोटे छंद में नीति की बहुत अच्छी शिक्षा दी गई है। 'कुरल्' को तमिल के अमर साहित्य में स्थान मिला है। पत्तुप्पाट्टु, शिलप्पदिकारम् आदि अन्य ग्रंथ साहित्य की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इस बात का विशेष उल्लेख करना आवश्यक है कि तमिल का प्राचीन साहित्य संस्कृत के प्रभाव से मुक्त होकर स्वतंत्र रूप से विकसित हुआ था। तमिल में संस्कृत की शब्दावली प्रयुक्त अवश्य होती है, किंतु कम मात्रा में। अन्य द्राविड भाषाओं में संस्कृत के शब्दों का प्रतिशत अपेक्षाकृत ज्यादा है।

तमिल साहित्य का मध्यकाल शैव तथा वैष्णव संतों की भक्तिपरक रचनाओं के कारण प्रसिद्ध है। इसे तमिल का भक्तिकाल कह सकते हैं। तिरसठ शैव संतों ने, जिन्हें तमिल में नायनमार का नाम दिया गया है, उच्च कोटि के भक्ति साहित्य का निर्माण किया। इसे 'देवारम्' कहते हैं। वैष्णव भक्तों को तमिल में 'आलवार' की संज्ञा दी गई है। आलवारों की संख्या बारह थी। इनकी रचनाओं का संकलन 'दिव्य प्रबंधम्' के नाम से किया गया है, जिसमें चार हज़ार पद पाए जाते हैं। इसी काल के महाकवि 'कंब' ने तमिल में रामायण काव्य की रचना की। कंब रामायण को विश्व साहित्य में ऊंचा स्थान प्राप्त हो सकता है।

तमिलनाडु में भक्ति आंदोलन को चलाने वाले शैव तथा वैष्णव संतों के प्रभाव से भव्य मंदिरों के निर्माण की परंपरा भी चल पड़ी। कांचीपुरम्, श्रीरंगम्, तिरुपति (आज यह स्थान आंध्र प्रदेश में है।) आदि दिव्य क्षेत्रों में विशाल तथा सुंदर मंदिरों का निर्माण हुआ। वास्तुशिल्प की दृष्टि से इन मंदिरों का महत्व अपार है। तमिलनाडु ही नहीं, अपितु सारे दक्षिण भारत में धार्मिकता तथा आस्तिक्य के प्रसार में इन मंदिरों का विशेष योगदान रहा है। ये दक्षिण भारत के सांस्कृतिक जीवन के केंद्र हैं।

मलयालम

तमिल के बाद हम मलयालम भाषा के साहित्य पर विचार कर सकते हैं। तमिल और मलयालम का संबंध अत्यंत निकट का है। अंतर यही है कि मलयालम ने

तमिल की छोटी बहन होते हुए भी संस्कृत का प्रभाव मुक्त हृदय से ग्रहण किया। आधुनिक काल में भी हम पाते हैं कि मलयालम में संस्कृत के शब्द काफ़ी बड़ी संख्या में प्रयुक्त होते हैं।

मलयालम साहित्य के इतिहास को हम तीन चरणों में बाँट सकते हैं :

(1) प्रथम चरण—10वीं शताब्दी से 15वीं शताब्दी तक।
(2) द्वितीय चरण—15वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी तक।
(3) तृतीय चरण—19वीं शताब्दी से आरंभ होता है। इसे हम मलयालम साहित्य का आधुनिक काल कह सकते हैं।

प्रथम चरण का साहित्य भाषा शैली की दृष्टि से काफ़ी रोचक है। इसे 'मणि-प्रवाल' शैली कहते हैं। इसमें मलयालम और संस्कृत का सुमधुर समन्वय पाया जाता है। तमिल के श्रीवैष्णव साहित्य में भी इस प्रकार की मिश्रित शैली का प्रयोग किया गया है। रसनिष्पत्ति की दृष्टि से भी इस काल के साहित्य को उत्तम माना जाता है।

प्रथम चरण की दूसरी महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है गीतों की रचना करने की। गीत को मलयालम में 'पाट्टु' कहते हैं। लोकगीत, संघक्कलि (सामूहिक आमोद-प्रमोद) के गीत, वटक्कन्, पाट्टुकल् तथा तेक्कन् पाट्टुकल् आदि के रूप में इस समय में गीत साहित्य का काफ़ी विकास हुआ। साहित्यिक सौंदर्य और महत्व की दृष्टि से इस कालखंड की एक प्रमुख रचना है 'कृष्ण गाथा'। चेरुश्शेरी कृष्णगाथा के कवि हैं। मलयालम साहित्य में पहली बार आधुनिकता का मनोहर रूप इन्होंने प्रकट किया।

मलयालम में 'चंपू' काव्यों की भी रचना हुई। 'गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते'। चंपू काव्य में पद्य के साथ गद्य का भी प्रयोग होता है। 'चंपू' काव्य की परंपरा कन्नड और तेलुगु में भी उपलब्ध है। इसके अलावा 'मुक्तक' काव्य भी इस कालखंड में लिखे गए। संक्षेप में प्रथम चरण साहित्यिक संपन्नता का युग था।

द्वितीय चरण के प्रमुख कवि हुए एषुत्तच्छन्। मलयालम साहित्य में आपका स्थान बहुत ऊँचा है। सत्रहवीं शताब्दी में कविता के क्षेत्र में नवीनता का प्रवर्तन करने का श्रेय आप ही को है। आपने 'अध्यात्म रामायण' एवं 'भारत' की रचना की। भक्ति और दर्शन इनके काव्य के प्रमुख विषय हैं। इनकी कृतियों में मलयालम भाषा के आधुनिक रूप को हम देख सकते हैं। एषुत्तच्छन् के बाद उल्लेखनीय नाम है पुन्तानम् का।

तृतीय चरण यानी आधुनिक काल की सबसे महत्वपूर्ण घटना है गद्य का विकास। मलयालम भाषा में प्राचीन गद्य भी थोड़ी बहुत मात्रा में मिलता है। गद्य के

कुछ नमूने शिलालेख, ताम्रपत्र आदि के रूप में दसवीं शताब्दी से ही प्राप्त होते हैं। मलयालम की पहली गद्य रचना है 'भाषा कौटिलीयम्' जिसे नवम या दशम शताब्दी की कृति कहा जाता है। फिर भी गद्य का विकास आधुनिक काल की देन ही है। सन् 1498 में वास्को-डि-गामा ने केरल में पदार्पण किया था। तब से विदेशी संपर्क का आरंभ माना जाता है। ईसाई धर्म प्रचारकों ने अपने काम की सुविधा के लिए गद्य का सहारा लिया। छापाखाने की भी ईजाद हुई। इन सब कारणों से मलयालम गद्य के विकास में काफी सहायता मिली।

तृतीय चरण के प्रारंभ में काव्य के क्षेत्र में 'कथकलि' एवं 'तुल्लल्' की विधाएँ बहुत लोकप्रिय हुईं। सन् 1835 में अंग्रेजी भाषा का संपर्क स्थापित हुआ। अंग्रेजी के अध्ययन से मलयालम के कवियों में नवीन चेतना का उदय हुआ। पाश्चात्य विद्वानों के प्रयत्न से कोश, व्याकरण आदि उपयोगी ग्रंथों का निर्माण शुरू हुआ। पत्रकारिता का भी खूब विकास हुआ। यह मलयालम भाषा की सर्वांगीण उन्नति का समय है।

तेलुगु

द्राविड परिवार की एक प्रमुख भाषा है तेलुगु। तेलुगु भाषी प्रदेश को 'आंध्र प्रदेश' कहते हैं। यह प्रदेश दक्षिण और उत्तर भारत के मध्य में स्थित है। इसकी सीमाएँ दो द्रविडभाषी क्षेत्र तमिल और कन्नड तथा तीन आर्यभाषी क्षेत्र ओड़िया, हिंदी तथा मराठी के क्षेत्र से मिलती हैं। इस कारण कहा जा सकता है कि यह प्रदेश दक्षिण और उत्तर के बीच में सेतु-सा काम करता है। साथ ही यह आर्य और द्रविड संस्कृतियों का संगम स्थल भी है। आंध्र प्रदेश का समुद्र तट बहुत लंबा है और प्राचीन काल से ही वहाँ के निवासी व्यापार के निमित्त दक्षिण-पूर्व एशिया में देशों में जाते रहे। विदेशों में इन्होंने व्यापारिक बस्तियों की स्थापना की और कालांतर में ये बस्तियाँ सांस्कृतिक तथा धार्मिक आदान-प्रदान के केंद्रों के रूप में विकसित हो गईं। इससे एक ओर वहाँ की संस्कृति, भाषा, लिपि, साहित्य एवं धर्म पर तेलुगु का प्रभाव पड़ा, तो दूसरी ओर तेलुगु भाषा पर भी वहाँ की संस्कृति आदि का प्रभाव पड़े बिना न रह सका। इस कारण से यदि हम कहें कि तेलुगु भाषा, साहित्य एवं संस्कृति देशी-विदेशी भाषा, साहित्य और संस्कृति का संगम है, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

'आंध्र' शब्द का प्रयोग जातिपरक अर्थ में सर्वप्रथम ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है। बाद में भाषा के लिए भी यही शब्द प्रयुक्त होने लगा। इस भाषा को 'तेनुगु' कहते थे। 'तेनुगु' का अर्थ है मधु के समान मीठी भाषा। आजकल इसी शब्द का रूपांतर 'तेलुगु' प्रचलित है।

इस भाषा की साहित्यिक परंपरा सन् 700 ई. से आरंभ होती है। सुविधा

की दृष्टि से हम तेलुगु साहित्य के विकास क्रम को निम्नलिखित खंडों में विभाजित कर सकते हैं :

(1) अज्ञात युग या प्राक्-नन्नय युग। यह सन् 700 ई. से सन् 1000 ई. तक माना जाता है। इस युग का साहित्य शिलालेखों में बिखरा हुआ है। इसमें राजाओं की प्रशस्तियाँ पाई जाती हैं। इसी युग में लोकसाहित्य का भी खूब विकास हुआ। तुम्मेदपाटलु (भ्रमर गीत), गोब्बि पदमुलु, यक्षगानमुलु, मेलुकोलुपुलु (प्रभातियाँ) और सुद्दुलु आदि लोक साहित्य के अंतर्गत आते हैं। इतिहासकारों का कहना है कि उस समय तक कृष्ण कथा आंध्र प्रदेश में पहुँच चुकी थी। लोकमानस में इस कथा ने स्थान बना लिया था। अतएव भ्रमरगीतों का प्रचार बड़े पैमाने पर हुआ। इस साहित्य के उद्धरण परवर्ती काल के ग्रंथों में पाए जाते हैं। लक्षण ग्रंथों में भी उदाहरणों के रूप में इनका उपयोग किया गया है। इसी 'उद्धृत' रूप में प्राचीन काल का यह साहित्य उपलब्ध है।

(2) **आदि युग या पुराण युग :** इसका काल सन् 1000 से सन् 1500 ई. तक है। इस युग में लगभग सभी पुराणों का अनुवाद तेलुगु भाषा में किया गया। जैन, बौद्ध आदि अवैदिक धर्मों का खंडन करना तथा वैदिक धर्म की पुन: स्थापना करना साहित्यकारों क प्रधान लक्ष्य रहा। रीति और शैली में इस युग की तेलुगु भाषा पर संस्कृत का विशेष प्रभाव रहा। इस युग के तीन प्रमुख कवि प्रसिद्ध हुए। महाभारत के निर्माण में तीन कवियों ने योगदान किया। नन्नय का नाम तेलुगु साहित्य में अविस्मरणीय रहेगा। भागवत के लेखक पोतना कवि शिरोमणि माने जाते है। शृंगारनैषध के रचयिता श्रीनाथ तो मानो तेलुगु के शृंगार ही हैं। इसी युग का एक और उल्लेखनीय काव्य है 'भास्कर रामायण'। तेलुगु में रामकाव्य का काफ़ी विकास हुआ है। इसी प्रकार वीर शैव संप्रदाय के कवियों ने भी महत्वपूर्ण कृतियाँ लिखीं। पालकुरिकि सोमनाथ कवि का 'बसवपुराण' इस कोटि का प्रख्यात ग्रंथ है। कुमार संभव आदि काव्य भी इसी वर्ग में आते हैं।

(3) तीसरा खंड है '**मध्य युग**' : जिसे '**पूर्वार्ध**' तथा 'उत्तरार्ध' **के नाम से** दो भागों में **बाँट** सकते हैं। पूर्वार्ध की अवधि है सन् 1500 से सन् 1630 ई. तक। इसे तेलुगु का स्वर्णयुग कह सकते हैं। इस युग में **मौलिक** प्रबंध काव्यों का निर्माण हुआ। श्रीकृष्ण देवराय का नाम विजयनगरम् साम्राज्य के इतिहास में प्रख्यात है। उनके दरबार में तेलुगु के महाकवियों को आदर का स्थान दिया गया। अल्लसानि पेद्दन, तिक्कन, धूर्जटि, तेनालि रामकृष्ण आदि के नाम इस संबंध में उल्लेखनीय हैं। मनुचरित, पारिजातापहरण, वसु चरित्र आदि ग्रंथों की रचना हुई। स्वयं श्रीकृष्णदेवराय एक उच्च कोटि के साहित्यकार थे। 'आमुक्तमाल्यदा' उनकी कृति का नाम है। इस युग को 'प्रबंध युग' भी कहते हैं।

उत्तरार्ध की अवधि है सन् 1630 से लेकर सन् 1800 ई. तक। विजयनगर साम्राज्य के पतन के बाद मदुरै, तंजाऊर, चेंजि आदि स्थानों में छोटे-छोटे केंद्रों की स्थापना हुई। इन केंद्रों में हिंदी के रीतिकालीन साहित्य के समान अलंकृत शैली के काव्यों की रचना हुई। इसके बाद आधुनिक काल का आरंभ होता है।

कन्नड

अब हम कन्नड भाषा के साहित्य पर विचार करेंगे। कन्नड के विद्वानों ने शोध कर के पता लगाया है कि ईसा की दूसरी शताब्दी के एक ग्रीक नाटक में कन्नड के कुछ शब्दों का प्रयोग मिलता है। शिलालेख आदि प्रामाणिक साक्ष्य के आधार पर स्थापित किया गया है कि पंचम शताब्दी से कन्नड में साहित्य का निर्माण होने लगा। किंतु कन्नड का सर्वप्रथम ग्रंथ जो उपलब्ध है उसका रचनाकाल ईसा की नवम शती का मध्य भाग है। ग्रंथ का नाम है 'कविराज मार्ग'। यह नृपतुंग नामक राष्ट्रकूट नरेश के दरबार के श्रीविजय नामक कवि की रचना है। दंडी के काव्यादर्श पर आधारित यह एक लक्षण ग्रंथ है। ग्रंथकार ने पूर्ववर्ती कई कवियों की स्तुति की है। इससे प्रमाणित हो जाता है कि 'कविराज मार्ग' की रचना से पूर्व ही कन्नड में गद्य और पद्य का अच्छा विकास हो गया था। सन् 900 ई. के बाद से तो कन्नड साहित्य की अविच्छिन्न एवं समृद्ध परंपरा के दर्शन होते हैं।

कन्नड साहित्य के आदिकाल को 'जैनयुग' कहते हैं। इसका कारण है कि पंप, रन्न, जन्न आदि जैन कवियों ने ही सबसे पहले कन्नड साहित्य की सेवा की थी। जैन युग में 'चंपू' काव्य बड़ी संख्या में लिखे गए। प्रत्येक जैन कवि का लक्ष्य था कि दो काव्य लिखे जाएँ। एक में किसी जैन पुराण की कथा का वर्णन किया जाए और दूसरे में किसी लौकिक कथानक को प्रस्तुत किया जाए। उदाहरण के लिए, महाकवि पंप ने जैन पुराण के रूप में एक काव्य लिखा जिसका नाम था 'आदिपुराण'। उन्होंने दूसरा ग्रंथ 'विक्रमार्कविजय' लिखा, जो महाभारत पर आधारित है। इस ग्रंथ को 'पंपभारत' कहते हैं। रन्न का 'गदा युद्ध' भी भारत की कथा पर आधारित है। जैन कवियों का योगदान कन्नड के विकास के लिए अमूल्य वरदान सिद्ध हुआ।

जैन काव्य परंपरा के बाद कन्नड में दूसरा युग वीर शैवों का रहा है। वीर शैव संतों ने सरल गद्य में रचनाएँ कीं, जिनको 'वचन साहित्य' के रूप में संकलित किया गया है। अल्लम प्रभु, बसवेश्वर, अक्क महादेवी आदि के वचन भावगांभीर्य, उक्ति सौष्ठव तथा दार्शनिक प्रौढ़ता की दृष्टि से उत्तम कोटि के हैं। 'वचनों' को हम कन्नड भाषा की 'उपनिषद्' कह सकते हैं। यह साहित्य विशाल कर्णाटक की सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक क्रांति का सशक्त वाहक रहा है।

कन्नड का तीसरा युग ब्राह्मण कवियों का है। रामायण, महाभारत आदि को आधार बनाकर कुमार वाल्मीकि कुमार व्यास आदि महाकवियों ने ऐसे सुंदर काव्यों की रचना की जो आज तक जनता की जिह्वा पर सुरक्षित हैं। तोरवे रामायण, जैमिनी भारत आदि ग्रंथ कन्नड की अमर संपत्ति हैं। इसी युग में श्री मध्वाचार्य के अनुयायी हरिदासों ने कन्नड में भक्ति साहित्य की रचना की, जो गेय पदों के रूप में है। लाखों पदों का यह विशाल साहित्य धर्म, नीति, भक्ति, वैराग्य आदि का महान संदेश देता है। पुरंदरदास, कनकदास, जगन्नाथदास आदि हरिदासों ने वेद-वेदांत के गूढ़ तत्वों को सरल कन्नड में जनता की भाषा में समझाया है। इस दृष्टि से 'दाससाहित्य' का महत्व अतुलनीय है।

'कविराजमार्ग' में ही सबसे पहले कन्नड भाषा के व्याकरण की कुछ बातों पर प्रकाश डाला गया। फिर नागवर्मा ने 'काव्यालोकन' के प्रथम परिच्छेद 'शब्द-स्मृति' में में कन्नड का पहला व्याकरण प्रस्तुत किया। उन्होंने 'भाषाभूषण'' के नाम से संस्कृत में कन्नड का व्याकरण लिखा। केशिराज का "शब्दमणिदर्पण' कन्नड का अत्यंत प्रामाणिक व्याकरण है। सत्रहवीं शताब्दी में भट्टाकलंक ने एक विस्तृत व्याकरण संस्कृत-भाषा में लिखा, जिसका नाम है 'कर्णाटक शब्दानुशासनम्' ये चार व्याकरण कन्नड भाषा के मर्म को समझाते हैं। इसी प्रकार काव्य शास्त्र के क्षेत्र में भी कविराजमार्ग, काव्यावलोकन, रसरत्नाकर आदि संक्षिप्त किंतु प्रौढ़ ग्रंथों की रचना हुई। कोश आदि उपयोगी साहित्य भी कन्नड में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं।

आधुनिक काल में इन चारों भाषाओं में पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से नवीन चेतना का उदय हुआ है। गद्य का विकास इस युग की विशेष घटना है। कहानी, उपन्यास, निबंध आदि नई साहित्यिक विधाओं का उद्भव और विकास इसी युग की देन है। नीचे संक्षेप में आधुनिक काल का परिचय दिया जा रहा है।

तमिल में आधुनिक काल में महा महोपाध्याय डा० स्वामिनाथ अय्यर की सेवाएँ उल्लेखनीय हैं। डा० अय्यर ने बड़े परिश्रम से तमिल के प्राचीन ग्रंथों का संपादन किया। पाठानुसंधान तथा संपादन के क्षेत्र में आपका योगदान ऐतिहासिक महत्व का है। कविता के क्षेत्र में क्रांति करने वाले लेखक हुए सुब्रह्मण्य भारती। तमिल भाषी बड़े प्रेम और आदर से आपको 'भारतियार' कहते हैं। आपकी कविता में नई राष्ट्रीय जागृति का संदेश था। कहानी तथा उपन्यास के क्षेत्र में तमिल ने विशेष उन्नति की है। उपन्यासकारों में 'कल्कि' (रा० कृष्णमूर्ति) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आपको हम तमिल के प्रेमचंद कह सकते हैं। महिलाओं ने भी साहित्य के निर्माण में बड़ा भारी योग दिया है। हास्यविनोद में तमिल के लेखक अग्रणी माने जाते हैं। कुमुदम्, आनंद-विकटन, कल्कि आदि साप्ताहिक पत्रिकाएँ साहित्य के विकास में योग दे रही हैं।

क्षाज का तमिल साहित्य राष्ट्रीयता, आधुनिकता, सामाजिक उदारता तथा आशावादिता का संदेशवाहक है।

आधुनिक काल में बि. एम. श्री कंठय्या, ति. नं. श्री कंठय्या, मास्ति वेंकटेश अय्यंगार आदि महानुभावों ने कन्नड भाषा और साहित्य के विकास के लिए काफ़ी परिश्रम किया। जि. पि. राजरत्नम्, पु. ति. नरसिंहाचार आदि ने कविता के क्षेत्र में बड़ी ख्याति पाई। श्री द. रा. बेंद्रे तथा के. वी. पुट्टप्पा कन्नड के शीर्षस्थ कवि हैं। दोनों को ज्ञानपीठ का पुरस्कार मिल चुका है। टी. पि. कैलासम् ने कन्नड के नाटक साहित्य में क्रांति कर दी। अ. न. कृष्णराव, शिवराम कारंत, श्री रंग, गौकाक, बसवराज कट्टीमनि आदि प्रख्यात उपन्यासकार हैं। मास्ति ने कन्नड में लघु कथा को नया रूप दिया। आज सैंकड़ों लेखक साहित्य के विविध अंगों में काम कर रहे हैं।

तेलुगु भाषा का आधुनिक युग पुनर्जागरण तथा नव्य सृष्टि का युग माना जाता है। सन् 1800-1850 के बीच में ब्राउन साहब ने तेलुगु के आधुनिकीकरण का काम किया। उन्होंने कोश, व्याकरण आदि ग्रंथों का प्रकाशन, बाइबिल का अनुवाद, पांडुलिपियों का संकलन आदि के द्वारा भाषा की सेवा की। वीरेशलिंगम पंतुलु ने साहित्य और समाज दोनों के सुधार का प्रयास किया। गुरजाडा, रायप्रोलु के काल में काव्य में नवीन विचार-धारा का प्रवेश हुआ। राष्ट्रीयता, हरिजनोद्धार आदि से प्रेरित साहित्य की सृष्टि हुई। सन् 1910 से 1935 ई. के कालखंड में 'भावकविता' का प्रचार अधिक था। इसमें छायावाद की सब प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। फिर तेलुगु में भी हिंदी की तरह प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद की धारा चल पड़ी। सन् 1960 के आसपास वचनकविता का उदय हुआ, जो गद्य शैली के छोटे काव्यों के रूपों में प्रकाशित थी। कविता में नग्न यथार्थ-वाद को प्रमुखता मिली तो इसे 'दिगंबर कविता' कहने लगे। सन् 1970 के बाद विप्लववादी लेखक 'विरसम्' के नाम से नई कविता लिखने लगे हैं। कहानी, उपन्यास और नाटक में भी अद्यतन प्रवृत्ति के रूप में नक्सलवादी या विप्लववादी विचार-धारा का महत्व बढ़ रहा है।

आधुनिक काल में मलयालम साहित्य में भी दूसरी भाषाओं के समान प्रगति के लक्षण दिखाई देते हैं। उपन्यास, कहानी, कविता और नाटक—इन चारों क्षेत्रों में मलयालम ने काफ़ी उन्नति की है। सन् 1887 में ही मलयालम का प्रथम उपन्यास 'कुंदलता' प्रकाशित हो चुका था। सी. वी. रामन पिल्लै तथा सरदार पणिक्कर ने ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। नए युग के उपन्यासकारों में बशीर, सी. राधाकृष्णन, वासुदेवन नायर आदि प्रमुख हैं। कहानी के क्षेत्र में काम करने वाले उच्च कोटि के लेखक हैं चंद्रशेखरन्, कारूरनीलकंठन पिल्लै, पोट्टेक्काड, मुकुंदन आदि। कृष्ण पिल्लै, गोपीनाथन नायर, कांडिश, सी. एल. जोस आदि नाटक के क्षेत्र में प्रख्यात हैं। पहले तो ऐतिहासिक नाटकों की धूम थी। अब राजनीतिक और सामाजिक नाटक बड़ी संख्या में लिखे जा रहे

हैं। कुमारन आशान रोमांटिक कविता के अग्रदूत हुए। वल्लत्तोल राष्ट्रीय कविता के प्रवर्तक हैं। जी. शंकर कुरुप 'सिबॉलिक' या प्रतीकात्मक कविता के उन्नायक हैं। चंगम्पुषा, इटप्पल्लि आदि प्रेमगीत के क्षेत्र में आते हैं। आजकल आलोचना, जीवनी, विज्ञान, शोध, बाल साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में मलयालम की निरंतर प्रगति हो रही है।

दक्षिण भारत की ये चारों भाषाएँ एक ही परिवार—द्राविड वर्ग की हैं। अतः इनमें पर्याप्त समानता पाई जाती है। एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद भी काफ़ी होता है। इस प्रकार आदान-प्रदान की परंपरा पहले से बनी हुई आई है। फिर भी ये चारों भाषाएँ स्वतंत्र रूप से अपना विकास कर रही हैं और भाषायी सौहार्द्र का एक भव्य आदर्श प्रस्तुत कर रही हैं।

हमारा समसामयिक जीवन : भारतीय संविधान

अंग्रेजी साम्राज्यवाद से भारतीय जनता के मुक्ति संघर्ष का इतिहास मनोरंजक, शिक्षाप्रद, दीर्घ और अश्रुहास से भरा हुआ है। स्वतंत्रता-संग्राम के इतिहास का अध्ययन करने पर इतना निष्कर्ष आसानी से निकाला जा सकता है कि जो जाति स्वतंत्र होने का निश्चय कर लेती है उसे अधिक दिनों तक पराधीन नहीं रखा जा सकता। साथ ही यह भी निष्कर्ष निकलता है कि जो राष्ट्र पारस्परिक फूट, अविश्वास, संदेह, असमानता शोषण आदि सामाजिक बुराइयों से पीड़ित रहता है वह अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रता को बहुत दिनों तक क़ायम नहीं रख पाता।

यह इस देश का सौभाग्य था कि स्वतंत्रता-संग्राम का नेतृत्व करने के लिए महात्मा गांधी जैसा संत राजनीतिज्ञ तथा जवाहरलाल नेहरू जैसा प्रियदर्शी लोकनायक उसे उपलब्ध हुआ। गांधी-जवाहर जैसा युग्म कदाचित् ही किसी देश को एक साथ उपलब्ध हो सके। 19वीं शताब्दी में जो पुनर्जागरण आरंभ हुआ था, बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में वह शक्तिशाली बन कर स्वतंत्रता संघर्ष में परिणत हो गया। इस संघर्ष के दोनों ही पक्ष—विदेशी सत्ता के विरुद्ध समानता पर आधारित आधुनिक मानवतावादी संस्कृति की स्थापना का संघर्ष—समान रूप से महत्वपूर्ण थे। इसलिए राष्ट्र ने जब स्वतंत्र भारत के संविधान के निर्माण का निश्चय किया तो उसके समक्ष देश के भावी स्वरूप के विषय में कुछ निश्चित संकल्प थे, कुछ निश्चित आदर्श थे। इन संकल्पों को समझने के लिए हमें भारतीय संविधान के स्वरूप और उसके वैशिष्ट्य पर एक सरसरी नज़र डालनी होगी।

भारतीय संविधान का संक्षिप्त परिचय

1. सन् 1946 के निर्वाचन से गठित प्रांतीय सभाओं द्वारा चुने गए सदस्यों एवं केंद्रीय असेंबली के सदस्यों को मिलाकर स्वतंत्र भारत की संविधान सभा का गठन किया गया। 29 अगस्त, 1947 को संविधान सभा ने डा. भीमराव अम्बेडकर की अध्यक्षता में सात सदस्यीय प्रारूप समिति की घोषणा की। समिति में सर्वश्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, टी. टी. कृष्णमाचारी, गोपाल स्वामी अय्यंगार, मो. सादुल्ला, एन. माधवराव, अल्लादी कृष्णस्वामी अय्यंगार तथा टी. पी. खेतान सम्मिलित

थे। संविधान का प्रारूप 141 दिन में तैयार हुआ तथा संविधान सभा ने उस पर 4 नवंबर, 1948 को विचार प्रारंभ किया। 26 नवंबर 1949 को संविधान स्वीकार किया गया। 24 जनवरी 1950 को प्रारंभ हुए संविधान सभा के 12वें सत्र में डा. राजेन्द्रप्रसाद सर्व सम्मति से गणतांत्रिक भारत के प्रथम राष्ट्रपति चुने गए। 26 जनवरी, 1950 से भारत का वर्तमान संविधान लागू हुआ।

2. भारतीय संविधान एक बृहत् कार्य का प्रामाणिक लेख पत्र है जो 22 भाग, 395 अनुच्छेद और 9 अनुसूचियों में फैला हुआ है। सभी आधुनिक संविधानों के अनुरूप भारत का संविधान भी 76 शब्दों के एक वाक्य की प्रस्तावना से प्रारंभ होता है। संसार के अन्य प्रसिद्ध संविधानों की प्रस्तावना का आकार इस प्रकार है—कैनाडा : 172 शब्द, पाँच वाक्य, आस्ट्रेलिया : 109 शब्द, तीन वाक्य, आयरलैंड : 122 शब्द, एक वाक्य, चीन : 86 शब्द, एक वाक्य, संयुक्त राज्य अमेरिका : 52 शब्द एक वाक्य।

संविधान कोई साधारण क़ानून नहीं होता। वह देश का मूल और मौलिक क़ानून होता है। किसी देश या राष्ट्र की शासन व्यवस्था कैसी होगी, यह उस देश के संविधान पर निर्भर करता है। अतः प्रत्येक प्रस्तावना उस संविधान के निर्माताओं के उद्देश्यों को बताती है। वह जनता की आशाओं, विश्वासों और महत्वाकांक्षाओं की प्रतिबिंब होती है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना संसार के किसी भी प्रसिद्ध संविधान की तुलना में अत्याधुनिक कही जा सकती है। इस संविधान के उद्देश, लक्ष्य और मर्म को ईमानदारी और स्पष्टता से एक ही पंक्ति में प्रतिबिंबित करती है।

संविधान के 22 भागों की विषयवस्तु का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है : भाग-1 और 2 में क्रमशः भारत के राज्य क्षेत्र और नागरिकता संबंधी उपबंधों का उल्लेख है। भाग-3 में नागरिकों के मूल अधिकारों का वर्णन है। भाग-4 में राज्य की नीति निर्देशक तत्व का भी उल्लेख है। भाग-5 में राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति का निर्वाचन, कर्तव्य और शक्तियों का उल्लेख है। भाग-6 और 7 में प्रथम अनुसूची के क्रमशः भाग (क) और (ख) के राज्यों के संविधानों की व्याख्या है। भाग-8 में तृतीय श्रेणी के राज्यों का उल्लेख है। भाग-9 में उल्लिखित भाग (घ) में के राज्यों का प्रशासन राष्ट्रपति करेगा। भाग-10 में आदिम जाति क्षेत्रों के शासन की व्यवस्था है। भाग-11 में संघ और राज्यों के विधायी संबंध तथा विधायिनी शक्तियों के वितरण का विवरण है। भाग-12 में वित्त और संपत्ति संबंधी उपकरण है। भाग-13 में भारत के राज्य क्षेत्र के भीतर व्यापार, वाणिज्य और समागम को नियंत्रित करने के लिए संसद की विधायिनी शक्ति का वर्णन है। भाग-14 में संघ और राज्यों के अधीन सेवा करने वाले व्यक्तियों की बहाली और भर्ती तथा सेवा शर्तों का वर्णन है। भाग-15 में निर्वाचन आयोग की स्थापना और निर्वाचन विधायक उपबंधों का उल्लेख है। भाग-16 में आंग्ल-भारतीय, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदिम जातियों के

प्रतिनिधित्व और नौकरी के संबंध में विशेष उपबंध किया गया है। भाग-17 में राजभाषा के विषय में उपबंध हैं। भाग-18 में राष्ट्रपति के आपात कालीन अधिकारों का उल्लेख है। भाग-19 में और 21 में क्रमशः प्रकीर्ण एवं अस्थायी तथा अंतकालीन उपबंधों का वर्णन है। भाग-20 में संविधान संशोधन की व्यवस्था है। भाग-22 में संविधान का नामकरण किया गया है और उसके प्रारंभ होने की तिथि निश्चित की गई है।

संविधान की विशेषताएँ :

इस प्रसंग को इन चार भागों में विभक्त कर विस्तार से विचार किया जाएगा। 1. संविधान की प्रस्तावना 2. संविधान की सामान्य विशेषताएँ 3. संविधान द्वारा अपने नागरिकों को प्रदत्त मूल अधिकार और 4. संघ और प्रदेशों की राजभाषाएँ।

1. प्रस्तावना

भारत के संविधान की प्रस्तावना और उसके लक्ष्य और संघटन का वर्णन है। संविधान की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं का समावेश इस प्रस्तावना में हो जाता है :

हम, भारत के लोग, भारत को एक **संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य** बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को :

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक **न्याय,**

विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और

उपासना की स्वतंत्रता,

प्रतिष्ठा और अवसर की **समता**

प्राप्त कराने के लिए,

तथा उन सब में,

व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की

एकता सुनिश्चित करने वाली **बंधुता**

बढ़ाने के लिए

दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में

आज तारीख 26 नवंबर, 1948 ई० (मिति मार्ग शीर्ष शुक्ला सप्तमी, संवत् दो हजार छह विक्रमी) को **एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।**

रेखांकित अंशों पर गौर करें तो इस प्रस्तावना से मुख्य रूप से तीन बातें स्पष्ट होती हैं :

प्रस्तावना से पहली बात जो स्पष्ट होती है वह यह कि संविधान के उद्गम का स्रोत भारत की जनता है तथा इसके पीछे जनता की सार्वजनिक इच्छा की शक्ति है। प्रस्तावना के प्रारंभ में 'हम, भारत के लोग' लिखा गया है तथा इस संविधान को जनता स्वयं अपने को 'आत्मार्पित करती है।

प्रस्तावना दूसरी बात यह बतलाती है कि संविधान और उसके द्वारा स्थापित शासन-व्यवस्था कौन-कौन से मूल उद्देश्यों को हासिल करने का प्रयत्न करेगी। ये मूल उद्देश्य हैं सामाजिक एवं आर्थिक समता तथा विचार, धर्म और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता।

प्रस्तावना तीसरी बात जो दर्शाती है वह है संविधान का प्रजातांत्रिक आधार। भारत के लोगों पर जो जोर दिया गया है, उससे मालूम होता है कि संविधान में प्रजा की ही सत्ता को माना गया है।

2. सामान्य विशेषताएँ

भारत के संविधान की सामान्य रूप से 18 विशेषताएँ गिनाई जा सकती हैं। उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

1. लिखित संविधान :

पूर्वोक्त संविधान के परिचय से और संविधान की उक्त प्रस्तावना में 'एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।' के अंश से स्पष्ट है कि भारत का संविधान लिखित एक प्रमाणित लेख पत्र है। इसका अर्थ यह हुआ कि भारत राष्ट्र के मौलिक कानून का प्रत्येक शब्द लिखा हुआ है। इस संबंध में कोई मौखिक परम्परा मौलिक कानून का आधार नहीं हो सकती।

2. संघात्मक संविधान :

संविधान के प्रथम भाग के प्रथम अनुच्छेद में लिखा है—'भारत अर्थात् इंडिया, राज्यों का संघ होगा'। लेकिन भारत के राज्यों का यह संघ अमेरिका के राज्यों के संघ से दो रूपों में भिन्न है—1. अमेरिका में संघ बनने से पहले सभी सदस्य राज्य स्वतंत्र थे। इन्होंने स्वेच्छा से कुछ ही सीमित अधिकारों का त्याग कर संघ का निर्माण किया है। यहाँ अवशिष्ट शक्तियाँ राज्यों के पास हैं। राज्यों के अपने संविधान हैं और अपनी-अपनी नागरिकता है। भारतीय संघ में ऐसा नहीं है। संविधान निर्माण से पूर्व भारतीय राज्य स्वतंत्र नहीं थे। पहले से ही अनेक राज्य एक केंद्र के अधीन रहे हैं। संविधान द्वारा संपूर्ण भारत के राज्यों का एक संघ के अंतर्गत नवीनीकरण किया गया है। अवशिष्ट शक्तियाँ केंद्र को प्राप्त हैं। अतः अमेरिका की अपेक्षा भारत की संघीय सरकार

अधिक शक्तिशाली है। इस विशेषता का दूसरा एक और पक्ष भी है कि संविधान का यह संघात्मक रूप अनुच्छेद 352 के अनुसार एकात्म रूप में भी परिवर्तित हो सकता है। इसके अधीन कुछ विशेष अनियंत्रित परिस्थितियों में राष्ट्रपति आपात काल की घोषणा करके राज्यों की समस्त विधायिनी शक्तियों को अपने हाथ में ले सकता है। इस कारण संविधान के विद्वान् भारत के संविधान को अर्द्ध संघात्मक कहते हैं। इनके अनुसार इस स्थिति को संघात्मक और एकात्मक के मध्य एक समझौता माना जा सकता है।

3. संपूर्ण प्रभुतासंपन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य की स्थापना :

यों संविधान के अनुच्छेदों में कहीं इस विशेषता का उल्लेख नहीं है। पूर्णतः संविधान की प्रस्तावना में भारत देश और उसके शासन के इस स्वरूप के संबंध में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है। इस उल्लेख में तीन बातें प्रमुख हैं—(क) संपूर्ण प्रभुता संपन्न (देश), (ख) लोकतंत्रात्मक (देश), (ग) गणराज्य। क : भारत के संघ और राज्य शासनों की विधायिनी शक्तियों, न्यायिक प्रक्रियाओं और कार्य-पालिका की कार्य पद्धतियों में कोई भी विदेशी शक्ति किसी प्रकार से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप नहीं कर सकती है। ख : प्रस्तावना के प्रारंभ में ही 'हम, भारत के लोग' का उल्लेख यह स्पष्ट करता है कि हमारी शासन पद्धति 'लोकतंत्रात्मक' है। भारत का शासन और भारत का संविधान जनता का, जनता के द्वारा और जनता के लिए है। भारत के लोग ही इनके साधन हैं, इनके लक्ष्य हैं। भारत के संपूर्ण राज्य भारत देश के गण हैं, सदस्य हैं, घटक हैं। इन राज्यों के इस संघ का दूसरा नाम ही गणराज्य है।

4. उत्तरदायी शासन की व्यवस्था :

भारतीय शासन के तीन प्रमुख अंग हैं—विधान मंडल, कार्यपालिका और न्याय पालिका। यद्यपि इन तीनों का अपनी-अपनी जगह महत्व अक्षुण्ण है, तथापि कार्यपालिका अपनी सक्रियता और जन संपर्क के कारण सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। कार्य-पालिका का सर्वोच्च अधिकारी राष्ट्रपति है। प्रशासन में इनके सहयोग और सलाह के लिए एक मंत्रिमंडल होता है। यह स्थिति एक आदर्श या सैद्धांतिक पक्ष की ओर संकेत करता है। वास्तविकता यह है कि भारत में मंत्रिमंडल (केबिनेट) की शासन-व्यवस्था है। दूसरे शब्दों में, यहाँ कार्यपालिका विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी है। इस प्रकार की कार्यपालिका को संसदीय कार्यपालिका कहा जाता है। इस व्यवस्था में कार्यपालिका अपनी कार्यवाहियों के लिए निर्वाचित विधान मंडल के समक्ष उत्तर-दायी होती है। राष्ट्रपति कार्यपालिका का प्रधान है और संसद से स्वतंत्र है। असली कार्यपालिका मंत्रिमंडल है जो संसद के सामने उत्तरदायी है। ब्रिटेन के आदर्श पर

केबिनेट शासन-व्यवस्था का संगठन किया गया है। अतः वहाँ और यहाँ क्रमशः सम्राट् और राष्ट्रपति वैधानिक प्रधान है।

भारत के राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति भी विचित्र है। अनुच्छेद 53(1) के अनुसार संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी। अनुच्छेद 74(1) के अनुसार 'राष्ट्रपति को अपने कृत्यों का संपादन करने में सहायता और मंत्रणा देने के लिए एक मंत्रिपरिषद् होगी जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होगा।' आगे अनुच्छेद 77 (1) में लिखा है—भारत सरकार की समस्त कार्यपालिका की कार्यवाही राष्ट्रपति के नाम से की हुई कही जाएगी।' इन सब उपबंधों से यह प्रकट होता है कि प्रधान मंत्री के नेतृत्व वाली कार्यपालिका अपने कार्यों के लिए राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होगी। लेकिन वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। राष्ट्रपति स्वयं अपने द्वारा निर्मित मंत्रिपरिषद् से नियंत्रित है। इस मंत्रिपरिषद् के सदस्य जनता से सीधे चुने जाते हैं और संसद के बहुमत का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए इनको संविधान ने कुछ असाधारण अधिकार दिए हैं। अनुच्छेद 61 (1) के अधीन संसद के सदन (मंत्रिपरिषद्) संविधान के अतिक्रमण का आरोप लगाकर राष्ट्रपति पर महाभियोग लगा कर उसे पदच्युत कर सकते हैं। इसीलिए भारत का राष्ट्रपति मात्र वैधानिक प्रधान माना जाता है। इन्हीं कारणों से कार्यपालिका जन प्रतिनिधित्व वाली संसद और विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी मानी जाती है। जनतंत्र की असली आत्मा इसी उपबंध में निवास करती है।

5. परिवर्तनशील :

अमेरिका और आस्ट्रेलिया के संविधानों के समान भारत का संविधान भी एक लिखित लेख पत्र है। लेकिन जहाँ अमेरिका और आस्ट्रेलिया के संविधान बहुत कठोर गिने जाते हैं वहीं भारत का संविधान काफ़ी लचीला माना जाता है। अनुच्छेद 368 के संविधान के संशोधन की पूरी प्रक्रिया दी गई है। इस प्रक्रिया के अनुसार संशोधन सरल है। अतएव एक संघात्मक संविधान के लिहाज से भारत का संविधान पर्याप्त लोचदार कहा जा सकता है।

6. केंद्र और राज्यों के अधिकारों का विभाजन :

भारत के संविधान में केंद्र और राज्य दोनों के संविधान समाविष्ट होने से दोनों के अधिकार क्षेत्रों का विभाजन भी स्पष्ट रूप से किया गया है। अनुच्छेद 245, 246 और 248 में विस्तार से बताया गया है कि सप्तम अनुसूची की संघसूची और राज्य सूची में उल्लिखित अधिकार के मुद्दों पर क्रमशः केंद्र और राज्यों को अनन्य शक्ति प्राप्त है। तीसरी सूची 'समवर्ती सूची' है। इसमें आए हुए मुद्दों पर केंद्र

और राज्य दोनों क़ानून बना सकते हैं। लेकिन संघर्ष की स्थिति में केंद्र को वरीयता प्राप्त है। अनुच्छेद 248 के अनुसार इन तीनों सूचियों से बचे हुए विषयों पर क़ानून बनाने की अनन्य शक्ति केंद्र को ही प्राप्त हैं। अनुच्छेद 249 और 250 में असाधारण परिस्थितियों में राज्य सूची के विषयों पर भी क़ानून बनाने का अधिकार केंद्र को दिया गया है। उक्त अधिकार क्षेत्रों में आने वाले विषयों के विस्तृत विवरण के लिए सप्तम अनुसूची द्रष्टव्य है।

7. विधायिनी, कार्यपालिका और न्यायपालिका की अलग-अलग व्यवस्था :

भारत सरकार के कार्य संचालन के तीन प्रमुख अंग हैं—1. विधि बनाने वाली विधायकों की सभाविधियों का अनुप्रयोग या अनुपान करने, कराने वाले मंत्रि-मंडल और कर्मकारी वर्ग, संविधान की धाराओं और सामान्य क़ानूनों की प्रामाणिक व्याख्या और उनके अनुसार आचरण कराने वाले न्याय विभाग।

ये तीनों अंग परस्पर संबंधित और अन्योन्याश्रित हैं। लेकिन संविधान के निर्माताओं की परिकल्पना के अनुसार कोई किसी के आश्रित या अधीन नहीं है। संविधान के अनुच्छेद 50 में स्पष्ट लिखा है—'राज्य की लोकसेवाओं में, न्याय पालिका को कार्यपालिका से पृथक करने के लिए राज्य सरकार अग्रसर होगी'। इस पृथकता का स्पष्ट अर्थ यह है कि न्याय पालिका को स्वतंत्र रखा जाए, ताकि वह कार्यपालिका और विधायिनी शक्तियों पर अंकुश रख सके और संविधान की धाराओं के ये अंग ग़लत व्याख्या न कर सकें और सामान्य क़ानूनों का अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए दुरुपयोग न कर सकें।

8. राज्य के नीति निर्देशक तत्वों का समावेश (लोक कल्याणकारी राज्य) :

संविधान के भाग-4 में इन तत्वों का उल्लेख किया गया है। कुल 16 अनुच्छेदों में समाविष्ट ये तत्व नागरिकों को न कोई अधिकार प्रदान करते हैं और न इन्हें किसी अदालत के द्वारा बाध्यता दी जा सकती है। राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक न्याय पर आधारित राज्य की नीति के निदेशक तत्व विधि निर्माण के समय विधान मंडलों का पथ-निर्देश करेंगे। ये तत्व एक आदर्श की तरह हैं जिन्हें शासन के तीनों अंग प्राप्त करने की कोशिश करेंगे। संविधान के अनुसार भारत की सरकार कल्याणकारी या लोक कल्याणकारी सरकार है। राज्य जनकल्याण को सुलभ करने का यंत्र मात्र होगा। जैसा कि ऊपर लिखा गया है, नीति निर्देश के ये तत्व सरकार और जनता के आदर्श हैं। इन आदर्शों का संबंध सामाजिक, आर्थिक और नैतिक कल्याण से है। ये आदर्श ही प्रजातंत्र के सार हैं। ये तत्व मूल अधिकारों का जोरदार समर्थन करते हैं। बग़ैर इन आदर्शों के स्थापित हुए नागरिक मूल अधिकारों

का पूरी तरह उपभोग नहीं कर पाएँगे। इसलिए यह राज्य का नैतिक कर्तव्य हो जाता है कि वह सुरक्षा, न्याय और स्वतंत्रता पर आधारित सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करे। मूल अधिकार का परिच्छेद लक्ष्यों की व्याख्या है, निदेशक तत्व का परिच्छेद साधनों का अध्ययन है। अगर पहला उत्तम जीवन का दर्शन है तो दूसरा उसका आचरण है। कुछ विचारकों ने इन तत्वों को 5 भागों में बाँटा है :

(क) आर्थिक सुरक्षा संबंधी निर्देश
(ख) सामाजिक कल्याण के निर्देश
(ग) न्याय, शिक्षा और प्रजातंत्र संबंधी निर्देश
(घ) पुराने स्मारकों की रक्षा के निर्देश
(ङ) अंतर्राष्ट्रीय नीति के निर्देश

(क) इन विभागों से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि जन कल्याण का तात्पर्य क्या है और इनका क्षेत्र कितना विस्तारवान है। संविधान के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि लोक कल्याण में आर्थिक सुरक्षा संबंधी आदर्शों पर सर्वाधिक बल दिया गया है। अनुच्छेद 39, 41, 42, 43, 46, 47 और 48 में इन आर्थिक आदर्शों को प्राप्त करने के निर्देश दिए गए हैं :

(1) जीविकोपार्जन का समुचित साधन (2) समाज के भौतिक साधनों का न्यायपूर्ण वितरण (3) सार्वजनिक हित के लिए उत्पादन के साधनों का विकेन्द्रीकरण (4) स्त्रियों, पुरुषों और बालकों के स्वास्थ्य की रक्षा (5) स्त्रियों और पुरुषों को समान कार्य के लिए समान वेतन (6) सभी योग्य व्यक्तियों के लिए कार्य (7) वृद्धावस्था, बेकारी तथा बीमारी की अवस्था में सार्वजनिक सहायता (8) गृह उद्योगों की उन्नति (9) अच्छे जीवनयापन के लिए निर्वाह-व्यय, (10) अनुसूचित जातियों तथा आदिम जातियों के सामाजिक तथा आर्थिक हितों की रक्षा (11) गौहत्या पर निषेध तथा वैज्ञानिक रीति से कृषि तथा मवेशी की नस्लों का सुधार।

(ख) सामाजिक कल्याण को सुलभ करने के लिए राज्य आहार पुष्टि-तल और जीवन स्तर को ऊँचा उठा कर लोक स्वास्थ्य को सुधारेगा, मद्यनिषेध तथा मादक द्रव्यों के सेवन पर प्रतिबंध लगाएगा तथा प्रसूति सहायता के लिए प्रबंध करेगा।

(ग) न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के लिए राज्य भारत राज्य क्षेत्र के सभी नागरिकों के लिए एक समान व्यवहार संहिता प्राप्त कराने तथा कार्यपालिका और न्यायपालिका को अलग करने का प्रयत्न करेगा। दस वर्ष के अंदर राज्य, चौदह साल से कम उम्र के बालकों की निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा-प्रबंध करेगा। (अनु० 45)। प्रजातंत्र के विकास और दृढ़ करने के लिए राज्य स्वशासन की इकाई के रूप में ग्राम पंचायतों का संगठन करेगा (अनु. 40)।

(घ) कलात्मक तथा ऐतिहासिक और पुरातत्व संबंधी स्मारकों की रक्षा का भार राज्य पर पड़ता रहेगा।

(ङ) अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्रों के बीच मैत्री बढ़ाने, अंतर्राष्ट्रीय विधि और संधियों के प्रति आदर बढ़ाने तथा विश्व-शांति और सुरक्षा की उन्नति के लिए राज्य सर्वदा अग्रसर रहेगा।

9. संविधान की धाराओं की व्याख्या करने के लिए या राज्य तथा केंद्र के अथवा राज्यों के परस्पर विवादों को निपटाने के लिए उच्चतम न्यायालय की व्यवस्था :

संसार के प्रायः सभी संघीय संविधानों में संविधान की धाराओं की व्याख्या करने के लिए एक उच्चतम न्यायालय की व्यवस्था है। भारत के संविधान अनुच्छेद 124 (1) के अनुसार 'भारत का एक उच्चतम न्यायालय होगा' ' ' ' ' ' इस न्यायालय के ये मुख्य कर्तव्य हैं :

(1) संविधान की धाराओं की व्याख्या करना। यह व्याख्या अंतिम होगी। इसको चैलेंज नहीं किया जा सकता। भारत को 'एक संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न राज्य' बनाने की मुख्य धारणा उच्चतम न्यायालय की इस अनन्य शक्ति में मुख्य रूप से निहित है। (2) केंद्र और राज्यों के मध्य सर्वधानिक और कानूनी विवादों को निपटाना। (3) दो या दो से अधिक राज्यों के मध्य उक्त प्रकार के विवादों को निपटाना। (4) संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों की रक्षा करना। (5) संविधान द्वारा निर्धारित लोकतंत्रात्मक शासन व्यवस्था और जीवन पद्धति की प्रत्येक कीमत पर रक्षा करना। इन्हीं कारणों से उच्चतम न्यायालय को संविधान का रक्षक कहा जाता है।

10. राज्यों के संविधानों को भी अपने में समाविष्ट करना :

संयुक्त राज्य अमेरिका के संघीय शासन की यह विशेषता है कि उसके सदस्य राज्यों के अपने-अपने संविधान अलग हैं। भारत में इसके विपरीत है। इसके संविधान में केंद्र के साथ-साथ सभी राज्यों के संविधानों का भी समावेश किया गया है। प्रथम-अनुसूची में भारत के समस्त राज्यों का परिगणन किया गया है। इसी को (क), (ख), (ग) और (घ) सूचियों में बाँट कर इन राज्यों का स्तरीकरण किया गया है। (1956 के 7 वें संविधान संशोधन द्वारा यह स्तरीकरण समाप्त किया गया, कुछ क्षेत्रों को केंद्र शासित क्षेत्र के रूप में मान्यता प्रदान की गई। राज्य पुनर्गठन के कारण ऐसा किया गया)। संविधान के भाग 6, 7, 8 और 9 में क्रमशः इन राज्यों की कार्य-पालिका, न्यायपालिका और विधायिनी अंगों के अधिकारों और कार्यकारी प्रक्रियाओं का सविस्तार उल्लेख किया गया है। संविधान के विद्वानों का अभिमत है कि संविधान

को इस विशेषता के कारण संघ या केंद्रीय सरकार काफ़ी मज़बूत हुई है। राष्ट्रीयता एवं सांस्कृतिक एका की स्थापना में इससे पर्याप्त बल मिला है।

11. वयस्क मताधिकार की व्यवस्था :

भारतीय लोकतंत्र अप्रत्यक्ष लोकतंत्र है जिसमें जन प्रतिनिधि ही शासन करते हैं। ये जन प्रतिनिधि जनता से निर्वाचित होते हैं। जनता अपने 'मत' से अपने प्रतिनिधियों को चुनती है। इसलिए भारत जैसे लोकतंत्रात्मक शासन पद्धति में 'मत' का उपयोग करना नागरिकों का मौलिक अधिकार ही माना जाना चाहिए। संविधान की धाराओं से इस अधिकार की बहुत कुछ रक्षा होती है। भाग-15 में निर्वाचन की प्रक्रिया का विस्तार से उल्लेख किया गया है। इस (निर्वाचन) प्रकरण में ' ' ' ' बातों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है :

1. निर्वाचन आयोग की स्थापना : संविधान के अनुसार संसद और राज्यों के विधान मंडलों, राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए निर्वाचक नामावली की तैयारी का अधीक्षण, निर्देशन और नियंत्रण तथा उन निर्वाचनों के संचालन का समस्त भार निर्वाचन आयोग पर होगा (अनुच्छेद 324)। **2. वयस्क मताधिकार की व्यवस्था :** लोकसभा और राज्यों की विधानसभाओं के सदस्यों का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है। भारत के सभी नागरिक, स्त्री, पुरुषों को, जिनकी अवस्था 21 वर्ष से कम नहीं है तथा जो किसी अन्य कारण से अयोग्य घोषित नहीं कर दिए गए हों उन्हें मत देने का अधिकार है (अनु. 326)। **3. मताधिकार में समता का व्यवहार :** धर्म, मूलवंश, जाति या लिंग के आधार पर कोई व्यक्ति निर्वाचक नामावली में सम्मिलित किए जाने के लिए अपात्र न होगा तथा किसी विशेष निर्वाचक नामावली में सम्मिलित किये जाने का दावा न करेगा (अनु. 325)। भारतीय मताधिकार राजनीति में मानवता की मानवता में राजनीति की समता का प्रतीक है।

12. धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना :

प्रस्तावना और मूलाधिकार के अंतर्गत धर्म स्वातंत्र्य के अधिकार से यह स्पष्ट होता है कि भारत-राज्य अपने नागरिकों के साथ धर्म के आधार पर किसी प्रकार का भेद-भाव का व्यवहार नहीं करेगा। राज्य का अपना कोई धर्म नहीं है, जैसा कि नेपाल का धर्म हिंदू है, श्रीलंका का धर्म बौद्ध है और पाकिस्तान का राजधर्म मुस्लिम धर्म है। इसका अर्थ यह नहीं कि भारत में धर्मों का कोई अस्तित्व नहीं होगा।

अनुच्छेद 24 से 25 तक धर्म स्वातंत्र्य का जो उल्लेख मिलता है, उससे यह प्रतीत होता है कि भारत में जो विविध धर्म हैं, उनके फलने-फूलने का पूर्ण अवसर

दिया गया है। इनके अनुयायियों को अपनी श्रद्धा, आस्था और भक्ति के धर्मों के अनुसरण में किसी प्रकार की रुकावट नहीं है। सरकार किसी भी प्रकार के धार्मिक प्रसार-प्रचार कार्यक्रमों के प्रति उदासीन रहेगी, निरपेक्ष रहेगी। यहाँ तक कि राज्य निधि से पूरी तरह से प्रेषित किसी शिक्षा संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा न दी जाएगी (अनु. 24)। 5 अगस्त 1954 को पं. जवाहरलाल नेहरू धर्म-निरपेक्षता के संबंध में जो विचार व्यक्त किये थे, इस प्रसंग में महत्वपूर्ण हैं—'हम अपने राज्य को धर्म निरपेक्ष कहते हैं। शायद 'सक्यूलर' धर्म निरपेक्ष शब्द बहुत अच्छा नहीं है, फिर भी इससे बेहतर शब्द न मिलने के कारण हमने इसका प्रयोग किया है। इसका सही अर्थ क्या है? इसका अर्थ है—धार्मिक स्वतंत्रता। अपनी अंतरात्मा की प्रेरणा के अनुसार काम करने की स्वतंत्रता। इसमें उन लोगों की स्वतंत्रता भी शामिल है, जो किसी धर्म को नहीं मानते। स्पष्टत: इसका यह मतलब नहीं है कि यह एक ऐसा राज्य है, जहाँ पर धर्म पालन को निरुत्साहित किया जाता है। इसका मतलब है प्रत्येक धर्म के अनुयायियों को धर्म-पालन की पूरी स्वतंत्रता, बशर्ते कि वे दूसरे के धर्म में या हमारे राज्य के मूल सिद्धांतों में हस्तक्षेप न करें। इसका मतलब है कि धर्म की दृष्टि से जो अल्पसंख्यक हैं, वे इस स्थिति को स्वीकार करें। इसका यह भी तात्पर्य है कि बहुसंख्यक लोग इस दृष्टिकोण से, इसका पूरी तरह से महत्व समझें, क्योंकि बहुसंख्यक होने के नाते और दूसरे कारणों से भी उनका प्रभाव अधिक है। अत: उनकी जिम्मेदारी हो जाती है कि वे किसी भी रूप में अपनी स्थिति में इस तरह से उपयोग न करें, जिससे हमारे धर्म-निरपेक्ष सिद्धांतों के पालन में बाधा पहुँचे।

धर्म निरपेक्ष शब्द का मैं एक और भी अर्थ समझता हूँ। हालाँकि यह शब्दकोश में दिया हुआ अर्थ नहीं भी हो सकता है। मैं इसे सामाजिक और राजनीतिक समानता के अर्थ का द्योतक भी मानता हूँ। इस प्रकर ऐसे समाज को जिसमें जाति-पाँति का भेद भाव हो, सही रूप में धर्म निरपेक्ष नहीं कहा जा सकता। किसी भी व्यक्ति के विश्वास में हस्तक्षेप करने की मेरी इच्छा नहीं है, लेकिन जहाँ ये विश्वास जाति-पाँति का भेद पैदा करते हैं, तो निस्संदेह इनका प्रभाव सामाजिक ढाँचे पर पड़ता है। इससे हमारे समानता के सिद्धांत की प्राप्ति और सफलता में बाधा पड़ती है। सांप्रदायिकता की तरह इससे राजनीतिक मामलों में भी अड़चन पड़ती है। हमने सदा सांप्रदायिकता का विरोध किया है। और अब भी पूरी ताक़त से इसका विरोध करते हैं। वास्तव में यह राष्ट्रीयता का प्रत्याख्यान है। सांप्रदायिकता का मतलब है कि धर्म के लोगों का अन्य धर्म मानने वालों पर प्रभुत्व। यदि यह जाति अल्पसंख्यक है तो यह लोकतंत्र के सब सिद्धांतों और आदर्शों के ख़िलाफ़ हुआ। यदि वह जाति बहुसंख्यक हुई तो भी उसका एक धार्मिक संप्रदाय होने के नाते दूसरों पर प्रभुत्व भी पूरी तरह से अलोकतंत्री हुआ।

धर्मप्राण भारत की धर्मनिरपेक्षता की यह भावना और व्यवहार संसार के तथाकथित विकसित एवं आधुनिक संविधानों में ढूँढने पर भी नहीं मिलते। भारतीय धर्मनिरपेक्षता, लोकतंत्र, लोक संस्कृति और मानवीयता का सम्मान, समादर, सहानुभूति और समानुभूति का अप्रतिम उदाहरण संसार के किसी भी सभ्य राष्ट्र में मिलना दुर्लभ है।

13. संसार का सबसे बड़ा संविधान :

भारत का संविधान 395 धाराओं (अनुच्छेदों) और 7 अनुसूचियों का एक वृहत्‌ प्रामाणिक और लिखित भारत राज्य के मूल कानूनों का लेख पत्र है। संसार के कुछ अन्य प्रसिद्ध संविधानों का आकार इस प्रकार है,—संयुक्त राज्य अमेरिका—28 धाराएं, सोवियत रूस—146 धाराएं, स्वीट्जरलैंड—123 धाराएं, चीन—175 धाराएं, जापान—103 धाराएं। भारत के संविधान के बृहदाकार के प्रमुख तीन कारण हैं :

1. मूल अधिकारों और राज्य के नीति निदेशक तत्वों जैसे कतिपय प्रसंगों का असाधारण रूप से विस्तार देना।
2. राज्यों के संविधानों का भी समावेश करना।
3. नौ अनुसूचियों का देखा जाना।

14. राज्य के खर्चों को एक ही अधिकारी द्वारा परीक्षा :

राज्य के आय-व्ययों का हिसाब प्रतिवर्ष विशेष अधिकारी द्वारा करवाया जाता है। संविधान के अनुसार भारत के समस्त राज्यों की लेखाओं (अकाउंट्स) की परीक्षा (ऑडिट) करने के लिए एक ही केंद्रीय अधिकारी है। अनुच्छेद 31 (3), 200 और 201 के अधीन राज्य के विधान मंडलों से पास किए समस्त बिल राष्ट्रपति या राष्ट्रपति के प्रतिनिधि राज्यपाल की अनुमति के बिना बिल नहीं बन सकते। सभी प्रकार के वित्तीय बिल भी इसके अंतर्गत आते हैं। इस उपबंध के प्रत्यक्षतः दो लाभ हैं :

1. राज्यों के व्ययों पर केंद्र का नियंत्रण रहता है, जिससे कि देश की आर्थिक स्थिति नियंत्रित रह सके।

2. संघ या केंद्र की प्रधानता स्थापित होती है। संविधान की इस विशेषता के कारण संघीय शक्तियों को बल मिलता है। राज्यों की स्वार्थ वृत्ति और मनमाने पन पर अंकुश लग जाता है। राष्ट्रीय हित प्रधान हो जाता है।

15. एक ही न्याय प्रणाली की स्थापना :

भारत में न्याय पालिका का ढाँचा समस्त भारत में एक ही होगा। केंद्रीय

स्तर पर उच्चतम न्यायालय और प्रत्येक राज्य में उच्चतम न्यायालय न्यायपालिका के सर्वोच्च अंग माने जाते हैं। इन सबके न्यायाधीशों और मुख्य न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। अतः यह अनिवार्य हो जाता है कि समस्त देश में न्यायपालिका का ढांचा एक ही हो।

कुछ संघात्मक संविधानों में न्याय प्रणाली भी दोहरी होती है। जैसे— अमेरिका में राज्यों की न्याय प्रणाली पृथक्-पृथक् है। संविधान की इस विशेषता के कारण भारत के समस्त नागरिकों को न्याय की समता की गारंटी मिल जाती है। हमारे चिंतन की अनेकता में एक सूत्रता आ जाती है। मूल अधिकारों के उपयोग में पक्षपात या अन्याय की गुंजाइश कम हो जाती है। राष्ट्रीय एकता को बल मिलता है। न्याय के प्रति नागरिकों का एक विश्वसनीय दृष्टिकोण बन जाता है। मानवीय समस्याओं को समझने में एक निश्चित दिशा बन जाती है।

16. राज भाषाओं के प्रयोग क्षेत्रों की सीमा का निर्धारण :

संविधान के भाग-17 में राज भाषाओं का प्रावधान किया गया है। अनुच्छेद 343 और 344 में संघ की भाषा, अनुच्छेद, 345, 346, 347 में प्रादेशिक भाषाओं और अनुच्छेद 348, 349 में न्यायालयों की भाषाओं का उल्लेख किया गया है। संसार के किसी भी संविधान में भाषा संबंधी धाराएँ इतने विस्तार से नहीं दी गई हैं। राजभाषा संबंधी इस प्रकरण को हम आगे एक विशेष प्रकरण में देंगे।

17. मूल अधिकारों की व्यवस्था :

भारत के संविधानों की सबसे अधिक महत्वपूर्ण विशेषता अपने नागरिकों को मूल अधिकारों की गारंटी देना है। संसार के किसी भी संविधान में मूल अधिकारों को इतने विस्तृत रूप से नहीं लिखा गया है। अन्य संविधानों में केवल व्यक्तिगत स्वतंत्रता, संपत्ति संबंधी अधिकारों को दर्ज किया गया है। भारत के संविधान में समता, स्वतंत्रता, न्याय और बंधुता संबंधी अधिकारों का कुल 24 अनुच्छेदों में सविस्तार उल्लेख किया गया है। इस प्रसंग के महत्व को देखते हुए इसे आगे अलग से लिखा जाएगा।

18. कतिपय वर्गों के लिए उपबंध :

भारत में सांप्रदायिक निर्वाचन पद्धति समाप्त कर दी गई है, तथापि देश में अभी कुछ ऐसी जातियाँ और कुछ ऐसे वर्ग भी पाए जाते हैं जो कि विविध कारणों से समाज में उपेक्षित रहने से पिछड़ गए हैं। इन वर्गों में शिक्षा का अभाव है, निर्धनता है। यदि इन वर्गों और जातियों के हितों की रक्षा के लिए कुछ विशेष

प्रबंध नहीं किया जाए तो इनकी उन्नति और सुधार होना संभव नहीं था। नौकरियों अथवा चुनावों के मामले में इन जातियों और वर्गों के सदस्य अन्य समुन्नत समुदायों के सदस्यों के मुकाबिले में अन्य प्रतियोगिता में नहीं ठहर सकते। अतः यह आवश्यक था कि इन पिछड़े वर्गों के हितों की सुरक्षा के लिए कुछ सीमित अवधि तक कुछ विशेष संवैधानिक उपबंध किया जाता। इन पिछड़े वर्गों में प्रधान हैं—अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित आदिम जातियाँ और आंग्लभारतीय। संविधान के भाग–16 में इन कतिपय वर्गों से संबद्ध कुछ विशेष उपबंध किए गए हैं। इनके अंतर्गत संविधान लागू होने से दस वर्ष तक (अनु. 334) लोकसभा और विधानसभाओं में इन वर्गों के लिए स्थानों का रक्षण किया गया है। (अनु. 330 से 333) और राज्यों की सेवाओं और पदों के लिए उनके दावों का ध्यान रखा गया है। (अनु. 335-35) 1959 के संविधान संशोधन 8 और 9 तथा 1969 के 23वें संशोधन द्वारा उक्त विशेष उपबंधों को दस वर्षों तक के लिए और आगे बढ़ाए गए हैं। इस प्रकार 1979 तक ये पिछड़े और अल्पसंख्यक वर्ग उपर्युक्त सुविधाओं का उपभोग कर सकेंगे।

इन विशेष उपबंधों से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय लोकतंत्र मात्र बहुसंख्यक और संपन्न वर्गों का रक्षण नहीं करता, वरन लोक-कल्याणकारी राज्य के रूप में पिछड़े वर्गों के विकास के लिए भी पूरी व्यवस्था करता है।

मूल अधिकार

तत्कालीन विधि मंत्री और संविधान निर्माता स्व. डा. अम्बेडकर के शब्दों में मूल अधिकारों का उपबंध 'संविधान की आत्मा और हृदय है।' संसार केकिसी संविधान में मूल अधिकारों का उल्लेख इतने विस्तृत रूप से नहीं किया गया है।

भारत के संविधान में उल्लिखित मूल अधिकारों को सात श्रेणियों में रखा जा सकता है—1. समता का अधिकार 2. स्वतंत्रता का अधिकार 3. शोषण के विरुद्ध अधिकार 4. धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार 5. संस्कृति और शिक्षा का अधिकार 6. संपत्ति का अधिकार और 7. संवैधानिक उपचारों का अधिकार। इन अधिकारों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

1. समता का अधिकार :

अनुच्छेद 14, 15, 16, 17, 18 में समता के अधिकार वर्णित किए गए हैं। (क) अनुच्छेद 14 'विधि के समक्ष समता—भारत राज्य क्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता के अथवा विधियों के समान संरक्षण से राज्य द्वारा वंचित नहीं किया जाएगा'। अर्थात् भारत के राज्यों में सभी नागरिकों को समानरूप से क़ानून का संरक्षण प्राप्त रहेगा तथा क़ानून की नजर में सभी बराबर समझे जाएँगे।

(ख) अनुच्छेद 15 : "धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर विभेद का प्रतिबंध (1) राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा। (2) केवल धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई नागरिक—(1) दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों तथा सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश के, अथवा (2) पूर्ण या आंशिक रूप से राज्य निधि से पोषित अथवा साधारण जनता के उपयोग के लिए समर्पित कुओं, तालाबों, स्नानघाटों, सड़कों तथा सार्वजनिक समागम स्थानों के उपयोग के बारे में किसी भी निर्योग्यता, दायित्व, निबंधन अथवा शर्त के अधीन न होगा। इस अनुच्छेद की किसी बात से राज्य को स्त्रियों और बालकों के लिए कोई विशेष उपबंध बनाने में बाधा न होगी। इस आश्वासन से पिछड़े वर्ग के लोगों को बहुत अधिक बल मिला है और उनके साथ भेदभाव होने पर सरकार संबद्ध व्यक्ति को दंडित कर सकती है।

(ग) अनुच्छेद 16 : राज्याधीन नौकरी के विषय में अवसर की समता (1) राज्याधीन नौकरियों या पदों पर नियुक्ति के संबंध में सब नागरिकों के लिए अवसर की समता होगी। (2) केवल धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग, उद्‌देश्य, जन्म-स्थान, निवास अथवा इनमें से किसी के आधार पर किसी नागरिक के लिए राज्याधीन किसी नौकरी या पद के विषय में अपात्रता नहीं होगी और न विभेद किया जाएगा। इस अनुच्छेद द्‌वारा राज्य के अधीन किसी पर नियुक्ति के लिए सभी नागरिकों को समान अवसर देने का आश्वासन दिया गया है। कोई भी व्यक्ति किसी भेदभाव के आधार पर किसी पद के अयोग्य नहीं समझा जाएगा। लेकिन अगर किसी पद के लिए स्थानीय परिस्थितियों का ज्ञान आवश्यक है तो निवास संबंधी योग्यता निर्धारित करने का अधिकार संसद को रहेगा। इसके अलावा अगर राज्य की राय में पिछड़ी हुई जातियों का प्रतिनिधित्व नौकरियों में पूरा नहीं है तो राज्य को अधिकार होगा कि वह कुछ स्थान ऐसी जातियों के सदस्यों के लिए रिजर्व रखे, अन्यथा समता के व्यवहार का दृष्टिकोण खत्म हो जाएगा।

(घ) 17 अनुच्छेद : अस्पृश्यता का अंत :

इस अनुच्छेद द्‌वारा छुआछूत का अंत कर दिया गया है और उसका व्यवहार किसी रूप में करने पर क़ानून के द्‌वारा सजा दी जाएगी। इस प्रकार अस्पृश्यता के नासूर को हमेशा के लिए ख़त्म कर दिया गया है, जिसने अब तक हमारी समाज-व्यवस्था की जड़ को खोखला कर रखा था। महात्मा गांधी ने हरिजनों को अधिकार दिलाने और उनके साथ किए जा रहे अत्याचार को ख़त्म करने के लिए काफ़ी कोशिश की थी और यह अनुच्छेद इस विचारधारा को बल देता है।

2. वाक् स्वातंत्र्य आदि का अधिकार

यह खंड बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि व्यक्ति की सबसे महत्वपूर्ण और मूलभूत स्वाधीनताओं की गारंटी इसी में दी गई है। इस अनुच्छेद के अधीन सभी नागरिकों को (क) वाक् स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य का, (ख) शांति पूर्वक और निरायुध सम्मेलन का, (ग) संस्था या संघ बनाने का, (घ) भारत राज्य क्षेत्र में अबाध संचरण का, (ङ) भारत राज्य क्षेत्र के किसी भाग में निवास करने और बस जाने का, (च) संपत्ति के अर्जन धारण और व्यय का तथा (छ) कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने का अधिकार प्राप्त है।

ये सभी अधिकार निर्बंध नहीं हैं। बोलने की आज़ादी की भी सीमा है। अगर कोई लेख या भाषण द्वारा किसी की मानहानि करता है या न्यायालय का अपमान करता है या राज्य की सुरक्षा को कमजोर बनाने का प्रयास करता है तो वह अपराधी माना जाएगा। इसी प्रकार सभा करने का अधिकार भी सीमित है। प्रजातंत्र के लिए यह अधिकार आवश्यक है। जनमत तैयार करने के लिए और शासन पर प्रभाव डालने के लिए यह आवश्यक है कि सभा करने का अधिकार दिया जाए। पर सभा को शांतिपूर्ण और अहिंसक होना चाहिए। सार्वजनिक व्यवस्था के हित में क़ानून बनाकर राज्य इस अधिकार को नियंत्रित कर सकता है। रोजगार, पेशा, व्यापार करने के अधिकार पर भी धोखाधड़ी से रक्षा के लिए जनसाधारण के हित में क़ानून के द्वारा बंधन लगाया जा सकता है। क्योंकि तकनीकी ज्ञान के अभाव में ऐसे व्यक्ति जनता को हानि पहुंचा सकते हैं।

3. शोषण के विरुद्ध अधिकार :

अनुच्छेद 23 में मनुष्यों के व्यापार और जाति एवं धर्म आदि के नाम पर शोषण रोकने के लिए खास उपबंध किए गए हैं। मनुष्यों का व्यापार, बेगार अथवा जबंदस्ती लिया हुआ श्रम बंद कर दिया गया है। परंतु राज्य सार्वजनिक कार्यों के लिए प्रजा को अनिवार्य सेवा के लिए बाध्य कर सकता है।

4. धर्म स्वातंत्र्य का अधिकार :

सहिष्णुता प्रजातंत्र का मुख्य सिद्धांत है। प्रजातंत्र का आधार व्यक्ति है। अतः व्यक्ति का व्यक्तित्व आदरणीय है। अनुच्छेद 25 के अनुसार धर्माचरण की स्वतंत्रता दी गई है। राज्य का अपना कोई धर्म नहीं होगा, क्योंकि राज्य पूरी प्रजा का है। जैसा कि प्रस्तावना से ही स्पष्ट है कि भारत एक असांप्रदायिक राज्य है। अतः इस अधिकार के अंतर्गत अनुच्छेद 25 (1) 'सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा इस भाग के दूसरे उपबंधों के अधीन रहते हुए सब व्यक्तियों

को अंतःकरण की स्वतंत्रता का तथा धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान हक होगा,' का विधान करता है। अर्थात् अगर कोई धर्म नैतिकता की दृष्टि से बुरा है या उसका आचरण और प्रचार जनस्वास्थ्य और सार्वजनिक व्यवस्था को भयावह बताता हो तो उसे राज्य रोक सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि व्यक्तियों के अधिकार और समष्टि के हित में दूसरी भावना को ही प्रमुखता दी गई है। धार्मिक कार्यों के प्रबंध की स्वतंत्रता, अनुच्छेद 26, 27, 28 के अंतर्गत प्रत्येक धार्मिक संप्रदाय को अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संस्थाएँ स्थापित करने और चलाने का अधिकार होगा। उन्हें संपत्ति प्राप्त करने का और स्वामित्व का अधिकार होगा। क़ानून के अनुसार ऐसी संपत्ति का प्रशासन करने का हक भी उन्हें रहेगा। राज्य के कोष से किसी विशेष धर्म या संप्रदाय की उन्नति के लिए सहायता नहीं दी जाएगी। कोई भी नागरिक ऐसे उद्देश्य से लगाए गए किसी प्रकार का टैक्स देने के लिए विवश नहीं किया जाएगा। राज्य द्वारा संचालित शिक्षा संस्थाओं को धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाएगी और न किसी को धार्मिक शिक्षा के लिए बाध्य किया जा सकेगा।

5. अल्पसंख्यकों को संस्कृति और शिक्षा का अधिकार :

अनुच्छेद 29 के अंतर्गत (1) भारत के राज्य क्षेत्र अथवा उसके किसी भाग के निवासी नागरिकों के किसी विभाग को, जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाए रखने का अधिकार होगा। (2) राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्य निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा अथवा इनमें से किसी के आधार पर वंचित न रखा जाएगा। प्रजातंत्र में बहुमत का शासन होता है। अतः हमेशा यह भय बना रहता है कि अल्पसंख्यकों का अस्तित्व मिट न जाए। न सिर्फ उन्हें अपनी भाषा, लिपि और संस्कृति की सुरक्षा के लिए संरक्षण दिया गया है, अपितु अनुच्छेद 30 में उन्हें शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और उनका प्रशासन करने का अधिकार भी प्रदान किया गया है।

6. संपत्ति का अनिवार्य अर्जन :

अनुच्छेद 31 (1) में कहा गया है कि कोई भी व्यक्ति विधि प्राधिकार के बिना अपनी संपत्ति से वंचित नहीं किया जाएगा। सार्वजनिक हित में निजी संपत्ति पर राज्य का कब्जा हो सकता है, पर उसके बदले उसे मुआवजा देना होगा। कुछ क़ानून मुआवजे से मुक्त हैं। पर उसके लिए भी राष्ट्रपति का आदेश लेना होगा।

7. संवैधानिक उपचारों के अधिकार :

मूल अधिकारों को संपूर्ण संरक्षण मिले बिना उनका सिर्फ उल्लेख करना काफ़ी नहीं होगा। अतः अनुच्छेद 32 यह आश्वासन देता है कि जब कभी इन अधिकारों का अपहरण होगा तो उनकी रक्षा का भी उपाय होगा। इस प्रकार का आश्वासन न्यायपालिका ही दे सकती है। इसी उद्देश्य से इस संविधान में ऐसी व्यवस्था की गई है कि मूल अधिकारों का उल्लंघन होने पर नागरिक अदालत में समुचित कार्रवाई के लिए अपील कर सकेंगे। अतः सुप्रीम कोर्ट से मूल अधिकारों को लागू करने और उनकी रक्षा की मांग करने का अधिकार सभी नागरिकों को दिया गया है। अनुच्छेद ३२ को संकट काल के अतिरिक्त और किसी समय स्थगित नहीं किया जा सकता है।

नागरिकों के उपर्युक्त मूल अधिकार पूर्ण निरपेक्ष और एकदम स्वतंत्र नहीं हैं। इन अधिकारों पर बंधन भी लगाए जा सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार दूसरे व्यक्ति के समान अधिकार से सीमित रहता है। फिर व्यक्ति समाज का एक अंग है और किसी भी हालत में व्यक्ति का कोई अधिकार समाज के किसी हित से बड़ा नहीं हो सकता। अतः नागरिकों के मूल अधिकार पर भी (1) राज्य की सुरक्षा (Security of the State) और (2) सार्वजनिक व्यवस्था (Public Order) के हित में नियंत्रण लगाए जा सकते हैं। उपर्युक्त कथन के समर्थन में कई संकेत मौजूद हैं।

पहला संविधान के दूसरे हिस्सों की तरह मूल अधिकारों में भी अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन लाया जा सकता है। दूसरा, संकटकाल की घोषणा के जारी होने पर राष्ट्रपति अनुच्छेद 358 और 359 के अधीन इन अधिकारों को स्थगित कर सकता है। तीसरा स्वयं मूल अधिकार की धाराओं में ही अनुसूचित आदिम जातियों, मानहानि आदि के क़ानूनों के नियंत्रण के लिए उपधाराएं बनाई गई हैं। जैसे---भारत के राज्य क्षेत्र के किसी हिस्से में जाने और बसने की आज़ादी पर आदिम जातियों के हित में रोक लगाई जा सकती है। उसी प्रकार सभा करने की आज़ादी और संस्था बनाने की आज़ादी नैतिकता तथा सार्वजनिक व्यवस्था के हित में नियंत्रित की जा सकती है। व्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार पर भी निवारक नज़रबंदी क़ानून के अधीन आक्षेप किया जा सकता है।

नागरिकों के मूल अधिकारों के संदर्भ में हमारे संविधान की जो विवादास्पद विशेषता है यह अनुच्छेद 359 (1) द्वारा राष्ट्रपति को दिया हुआ यह अधिकार कि 'जहाँ कि आपात स्थिति की उद्घोषणा (अनुच्छेद 352 के अंतर्गत) प्रवर्तन में है वहां राष्ट्रपति आदेश द्वारा घोषित कर सकेगा कि भाग 3 द्वारा दिए गए अधिकारों में से ऐसों को प्रवर्तित कराने के लिए, जैसे कि इस आदेश में वर्णित हों, किसी न्यायालय

के प्रचालन का अधिकार तथा इस प्रकार वर्णित अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए किसी न्यायालय में चल रहीं सब कार्यवाहियाँ उस कालावधि के लिए जिसमें कि उद्घोषणा लागू रहती है अथवा उससे छोटी ऐसी कालावधि के लिए जैसी कि आदेश में उल्लिखित की जाए, निलंबित रहेंगी।'

इनका तात्पर्य यह है कि आपात की घोषणा करने के बाद राष्ट्रपति जब चाहे नागरिकों को उनके इस मूल अधिकार से वंचित कर सकता है कि वे न्यायालय के समक्ष जाकर अपने उन अधिकारों की रक्षा के लिए जिनका सरकार द्वारा व्यतिक्रम हुआ है याचना नहीं कर सकते। इसका अर्थ यही है कि किसी भी नागरिक की स्वतंत्रता का केवल एक व्यक्ति अथवा उसके कुछ सलाहकारों द्वारा अपहरण हो सकता है। दूसरे देशों में भी युद्ध अथवा विद्रोह के समय कार्यपालिका को मूल अधिकारों के व्यतिक्रम का अधिकार दिया जाता है। किंतु कहीं भी सर्वोच्च न्यायालय को इस प्रकार सर्वथा शक्ति शून्य नहीं किया गया है। पिछले विश्वयुद्ध के समय इंगलैंड और अमरीका में कार्यपालिका को मूल अधिकारों के विरुद्ध कार्य करने की शक्ति अवश्य दी गई, किंतु उस शक्ति का दुरुपयोग होने पर न्यायालय मामले की जाँच कर सकता है, यह आश्वासन बराबर बना रहा।

सन् 1962 में जब चीनी आक्रमण हुआ तो राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 352 के अंतर्गत आपात की घोषणा हुई। फलस्वरूप अनुच्छेद 19 द्वारा दिए गए सब अधिकार स्थगित हो गए। इसके बाद अनुच्छेद 359 के अंतर्गत राष्ट्रपति ने यह आज्ञा दी कि आपात के दौरान अनुच्छेद 21-22 व 14 द्वारा दिए गए अधिकार न्यायालयों द्वारा कार्यान्वित न हो सकेंगे। 12 दिसंबर 1962 को भारत सुरक्षा कानून पास हुआ, जिसके द्वारा सरकार को अधिकार दिया गया था कि बिना किसी प्रकार की अदालती जाँच के चाहे जिसको जितने समय के लिए चाहे जेल भेज दें। जो लोग इस प्रकार जेल भेजे गए उनका अदालती संरक्षण का अधिकार पहले ही स्थगित हो चुका था। पाकिस्तान के आक्रमण के कारण 1971 से देश में आपात कालीन स्थिति चली आ रही थी। 25 जून, 1975 को आंतरिक ख़तरे के कारण आंतरिक आपात स्थित की घोषणा की गई और राष्ट्रपति ने अपने एक अध्यादेश से 9 जनवरी, 1976 को नागरिकों को सभी मूल अधिकारों से वंचित कर दिया।

जिस समय हमारा संविधान बन रहा था उस समय संविधान सभा के अनेक सदस्यों ने राष्ट्रपति के आपात संबंधी अधिकारों की ओर विशेषकर अनुच्छेद 359 की कड़ी आलोचना की थी। श्री के० टी० शाह ने कहा था कि इन अधिकारों के रहते स्वतंत्रता अथवा लोकतंत्र का नाम मात्र शेष रह जाएगा। श्री हरिविष्णु कामथ ने कहा कि संविधान के इस भाग द्वारा हम एक ऐसे राज्य की स्थापना कर रहे हैं और वह एक ऐसा राज्य होगा जो हमारे अपने आदर्शों और सिद्धांतों के विपरीत माना जाएगा।

श्री शिब्बनलाल सक्सेना ने तो यहाँ तक कहा कि 1942 में जब हम लोग जेल में थे तो यद्यपि लड़ाई चल रही थी तो भी उस समय की विदेशी सरकार ने हमें बंदी प्रत्यक्षीकरण के अधिकार से वंचित नहीं किया था। इस सारी आलोचना का संतोषजनक उत्तर तत्कालीन मंत्री स्व० डा० अम्बेडकर न दे सके।

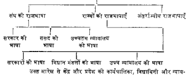
राज भाषाएँ :

भारत बहुभाषाभाषी देश है। विविध भाषाओं के कारण ही भारत मुख्यत: बहुसंस्कृति का राष्ट्र माना गया है। सांस्कृतिक विविधताओं के कारण कभी-कभी भारत के राष्ट्र मानने में बहुतों को संकोच होता है। सांस्कृतिक भिन्नता के कारण इतिहास की घटनाएँ यह बताती हैं कि भारत की राजनीतिक, आर्थिक और भावात्मक एकता में समय-समय पर व्यवधान उपस्थित होता रहा है। एकता के अभाव में ही देश सैकड़ों वर्षों तक गुलाम रहा। इस तथ्य को सभी इतिहासकार एक स्वर से मानते हैं। गुलामी की जंजीर टूटने के बाद स्वतंत्र भारत के संविधान निर्माताओं ने देश की जटिल भाषा समस्या को सुलझाने के लिए संविधान में एक पूरा 'भाग' ही रखा। संसार के किसी भी संविधान में राजभाषाओं के बारे में इतने स्पष्ट और विस्तार से नहीं लिखा गया है। इस दृष्टि से राजभाषाओं का यह प्रावधान भारतीय संविधान की महत्वपूर्ण विशेषता माना जाना चाहिए।

भारत के संविधान की भाषा संबंधी धारणाओं पर मान्यताओं के संदर्भ में हम अपने देश की भाषा समस्याओं के बारे में दो दृष्टियों से विचार कर सकते हैं। पहली दृष्टि सांस्कृतिक है। भारत के एक लोकतंत्रात्मक देश और कल्याणकारी सरकार होने के कारण प्रत्येक नागरिक को अपने धर्म और संस्कृति की सुरक्षा और विकास का संवैधानिक मूल अधिकार प्राप्त है। भाषा संस्कृति का एक प्रमुख अंग है। अत: यह स्वाभाविक है कि प्रत्येक नागरिक अपनी-अपनी भाषा सुरक्षित रखना चाहेगा और विकसित करना चाहेगा। संविधान ने नागरिकों की इस आकांक्षा का समादर करते हुए भारत की समस्त भाषाओं के विकास के लिए अनुकूल अवसरों का प्रावधान किया है। दूसरी दृष्टि राजनीतिक है। भारत राज्यों का संघ है। यद्यपि ये राज्य कभी बिलकुल स्वतंत्र नहीं रहे हैं, किसी न किसी रूप में एक संघ के अधीन ही रहे हैं तथापि इनकी व्यक्तिगत विशेषताएँ सुरक्षित रही हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से प्रत्येक प्रदेश दूसरे प्रदेश से बहुत कुछ भिन्न रहा है। प्रशासन के ढाँचे भी बहुत कुछ भिन्न रहे हैं। सारांश यह है कि एकता के अनेकता प्राचीनकाल से ही भारत की एक विशेषता रही है। यह अनेकता विशेषकर भाषाओं के स्वरूप और प्रयोग में द्रष्टव्य है। भाषाओं की बहुलता प्रशासनिक स्तर पर विशिष्ट समस्याएँ पैदा करती है। ब्रिटिश शासनकाल में इस समस्या के समाधान के लिए एक सीधा रास्ता अपनाया गया था कि कोई भी भारतीय भाषा प्रशासनिक माध्यम

बनने की क्षमता नहीं रखती। अतः संपूर्ण देश में अंग्रेजी ही यह कार्य संपन्न करेगी। इसी निर्णय के अधीन केंद्र और राज्य स्तर पर सभी प्रशासनिक कार्य अंग्रेजी में होते रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय भाषाएँ केवल साहित्यिक आदान-प्रदान की चहारदीवार में बंद रहीं। आधुनिक तकनीकी ज्ञान-विज्ञान के अनुरूप विकसित होने का अवसर उन्हें नहीं मिल पाया। जिसका दुष्परिणाम हम आज भोग रहे हैं। अंग्रेजी के गुण-गान करते में हम लोग नहीं थकते और भारतीय भाषाओं के पिछड़ेपन को कोसते हुए भी हम संकोच नहीं करते। भारत के संविधान ने भारतीय भाषाओं के इस कलंक को धोने का पूरा प्रयास किया है। लगभग सभी साहित्यिक और समृद्ध भाषाओं को प्रशासनिक माध्यम बनाने के लिए सभी संभव प्रावधान किए गए हैं। संविधान के इन प्रावधानों का हम आगे सविस्तार विवरण देंगे।

भारत में सैकड़ों भाषाएँ या बोलियाँ हैं। किंतु संविधान ने केवल 15 समृद्ध भाषाओं को राजभाषाओं की मान्यता दी है। अष्टम अनुसूची के अनुसार 15 भाषाएँ ये हैं—असमिया, ओड़िया, उर्दू, कन्नड, कश्मीरी, गुजराती, तमिल, तेलुगु, पंजाबी, बँगला, मलयालम, मराठी, संस्कृत, सिंधी और हिंदी। शेष भाषाओं या बोलियों के लिए भी संविधान ने पर्याप्त गुंजाइश रखी है कि प्रादेशिक सरकारें अपनी शिक्षा और जनसंपर्क की नीतियों के माध्यम से उनका विकास करें। संविधान द्वारा, मान्य उक्त राजभाषाओं के प्रयोग संबंधी सभी प्रकार के प्रावधान भाग 17 में किए गए हैं। इस भाग के 9 अनुच्छेदों में फैले इन प्रावधानों को (और दो अनुच्छेद भाग 5 और 6 से भी) हम नीचे के आरेख से स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं:



उक्त आरेख से केंद्र और प्रदेश की कार्यपालिका, विधायिनी और न्याय-पालिका के सामान्य कार्यों का संचालन किस भाषा में होना चाहिए, इसका स्पष्ट निर्देश मिलता है। संविधान के उक्त प्रावधानों का विवरण इस प्रकार है:

1. संघीय सरकार की भाषा : 343 (1)

संघ की राजभाषा हिंदी और लिपि देवनागरी होगी।

संघ के राजकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग होने वाले अंकों का रूप भारतीय अंकों का अंतर्राष्ट्रीय रूप होगा।

(2) खंड (1) में किसी बात के होते हुए भी इस संविधान के प्रारंभ के पंद्रह वर्ष की कालावधि के लिए संघ के उन सब राजकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा प्रयोग की जाती रहेगी जिनके लिए ऐसे प्रारंभ के ठीक पहिले वह प्रयोग की जाती थी। संविधान के लागू होने के 12-13 वर्ष बाद भी यह अनुभव किया गया कि संविधान के उपबंधों के अनुसार 1965 तक अंग्रेजी के स्थान पर पूर्ण रूप से हिंदी नहीं लाई जा सकती, तो संसद ने राजभाषा अधिनियम 1963 पास किया। इस अधिनियम का मुख्य अंश इस प्रकार है :

संघ शासकीय प्रयोजनों के लिए संसद में प्रयोग के लिए अंग्रेजी भाषा का बना रहना।

3. संविधान के प्रारंभ से पंद्रह वर्ष की कालावधि का अवसान हो जाने पर भी हिंदी के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा नियत दिन को और नियत दिन से—

(क) संघ के इन सब शासकीय प्रयोजनों के लिए जिनके लिए वह उस दिन से अव्यवहित पूर्व प्रयोग में लाई जाती थी, तथा

(ख) संसद के कामकाज के व्यवहार के लिए प्रयोग में बनी रह सकेगी।

4. (1) धारा 3 के लागू किए जाने वाले दिन से दस वर्ष की कालावधि के अवसान हो जाने के पश्चात् राजभाषा संबंधी एक समिति का गठन, राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति से संसद के किसी भी सदन में प्रस्तावित संकल्प तथा दोनों सदनों द्वारा पारित किए जाने पर, किया जाएगा।

इस विवरण से स्पष्ट है कि संसद ने द्विभाषा की स्थिति को स्वीकार कर लिया और लगभग दस वर्ष (1965) तक हिंदी के साथ-साथ सहभाषा के रूप में अंग्रेजी जारी रखने की व्यवस्था कर दी। 1967 में यह आवश्यक समझा गया है कि स्वर्गीय प्रधान मंत्रियों के इन आश्वासनों को, कि जब तक अहिंदी भाषी लोग परिवर्तन न चाहें तब तक अंग्रेजी भाषा का निरंतर प्रयोग बना रहे, संवैधानिक स्वीकृति प्रदान की जाए। यह व्यवस्था भी प्रस्तावित है कि कुछ विशिष्ट मामलों में हिंदी के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा का आध्यातामूलक प्रयोग हो। इसके लिए संसद ने एक बार और राजभाषा विधेयक 1967 पास कर दिया। इसके अधीन स्पष्ट कहा गया :

2. राजभाषा अधिनियम 1963 (जिसे एतस्मिन् पश्चात् मूल अधिनियम कहा गया है।) को धारा 3 के लिए निम्नलिखित धारा रखी जाएगी, अर्थात्—

3. (1) संविधान के प्रारंभ से पंद्रह वर्ष की कालावधि का अवसान हो जाने पर भी हिंदी के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा नियत तारीख को, और नियत तारीख से—

(क) संघ के उन सब शासकीय प्रयोजनों के लिए जिनके लिए वह उस दिन से अव्यवहित पूर्व प्रयोग में लाई जाती थी। तथा—

(ख) संसद में कामकाज के व्यवहार के लिए प्रयोग में लाई जा सकेगी।

इस समय उक्त विधेयक के अधीन संघीय कार्य हिंदी और अंग्रेजी में हो रहे हैं। यह स्थिति कब बदलेगी, यह भविष्य ही बताएगा। हिंदी के विकास के पूरे प्रयत्न चल रहे हैं। हिंदी प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब, अंडमान आदि के साथ केंद्रीय सरकार ने अपना पत्र-व्यवहार हिंदी में ही करने का निर्णय घोषित किया है। शेष प्रदेशों को उस स्थिति में लाने में समय लगेगा।

2. संसद की भाषा :

अनुच्छेद 120 (1) भाग 17 में किसी बात के होते हुए भी, किंतु अनुच्छेद 348 में उपबंधों के अधीन रहते हुए संसद में कार्य हिंदी में या अंग्रेजी में किया जाएगा।

परंतु यथास्थिति राज्य-परिषद का सभापति या लोकसभा का अध्यक्ष अथवा ऐसे रूप में कार्य करने वाला व्यक्ति किसी सदस्य को, जो हिंदी या अंग्रेजी में अपनी पर्याप्त अभिव्यक्ति नहीं कर सकता, अपनी मातृभाषा में सदन को संबोधित करने की अनुज्ञा दे सकेगा।

इस उपबंध से एक बात स्पष्ट है कि संसद में सभी भारतीय भाषाओं का प्रवेश है। उनका सम्मान है। उपर्युक्त 1967 के राजभाषा अधिनियम से भाग 17 अनु० 343 (1) में परिवर्तन के कारण इस समय संसद की भाषा हिंदी और अंग्रेजी दोनों है। संसद के सारे प्रकाशन और समस्त विधेयक हिंदी और अंग्रेजी में प्रस्तुत किए जाते हैं। हिंदी और अंग्रेजी भाषाओं के तत्काल अनुवाद की सुविधा है। अंग्रेजी न जानने वाले हिंदी में और हिंदी न जानने वाले अंग्रेजी में संसद की कार्यवाही सुन सकते हैं।

3. उच्चतम न्यायालय की भाषा; 348 (1–2) के अनुसार :

जब तक संसद विधि द्वारा दूसरा उपबंध न करे तब तक उच्चतम न्यायालय तथा प्रत्येक उच्च न्यायालय में सब कार्यवाहियाँ तथा संघ और राज्यों के सभी विधेयकों (Bills), उन पर किए जाने वाले संशोधनों (Amendments), अधिनियमों (Acts) और अध्यादेशों (Orcinances) तथा सभी आदेशों (Orders), नियमों, विनियमों (Regulations) और उपविधियों (Byelaws) के अधिकृत पाठ (Authorised Text) अंग्रेजी भाषा में होंगे। पर किसी राज्य का गवर्नर राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति से उस राज्य के उच्च न्यायालय की कार्यवाहियों के लिए हिंदी भाषा का या उस राज्य के राजकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग में लाई जाने वाली किसी अन्य भाषा का प्रयोग अधिकृत कर सकता है। पर यह उपबंध उच्च न्यायालय के द्वारा

दिए गए फैसलों, आज्ञप्तियों तथा आदेशों पर नहीं लागू होगा जहाँ किसी राज्य का विधान मंडल उस राज्य के विधेयकों, अधिनियमों, अध्यादेशों, नियमों, विनियमों अथवा उपविधियों में प्रयोग के लिए अंग्रेजी भाषा से अन्य किसी भाषा के प्रयोग को विहित करे वहाँ उस राज्य के राजकीय सूचना-पत्र (Official Gazette) में उस राज्य के गवर्नर के प्राधिकार (Authority) से प्रकाशित अंग्रेजी भाषा में उनके अनुवाद ऊपर दिए गए उपबंधों के अभिप्राय के लिए प्राधिकृत पाठ (Authorised Text) समझा जाएगा। संसद द्वारा पारित राजभाषा अधिनियम 1967 का उक्त अनुच्छेद प्रभावित हुआ है। संसदीय निर्णय और राष्ट्रपति के आदेश से उच्चतम न्यायालय में अंग्रेजी के साथ-साथ हिंदी में भी कार्य प्रारंभ हुआ है। न्यायाधीशों के निर्णय अभी केवल अंग्रेजी में सुनाए जाते हैं और अधिकांश न्यायिक काम अंग्रेजी में ही होता है। हाँ, आवेदन पत्र हिंदी में दिया जा सकता है। वह्स भी हिंदी में हो सकती है। उच्चतम न्यायालय में भी यह कहा जा सकता है कि दुविधापूर्ण की स्थिति बनती जा रही है।

4. राज्य सरकारों की भाषा :

अनु० 345, 346 और 347 के उपबंधों के अधीन रहते हुए राज्य का विधान-मंडल विधि द्वारा उस राज्य में राजकीय प्रयोजनों में से सब या किसी के लिए प्रयोग के अर्थ उस राज्य में प्रयुक्त होने वाली भाषाओं में से किसी एक या अनेक को या हिंदी को अंगीकार कर सकेगा।

परंतु जब तक राज्य का विधान-मंडल विधि द्वारा इससे अन्यथा उपबंध न करे तब तक राज्य के भीतर उन राजकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा प्रयोग की जाती रहेगी, जिनके लिए इस संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले वह प्रयोग की जाती थी। इस उपबंध से यह स्पष्ट है कि जब तक विधान-मंडल किसी एक विधेयक द्वारा अन्यथा निर्णय नहीं करते तब तक अंग्रेजी ही राज्य सरकारों के कामकाज का साधन होगी। और यह बात भी स्पष्ट होती है कि यदि अंग्रेजी हट जाएगी तो इस अनुच्छेद के अधीन राज्य सरकारों की तीन राजभाषायी स्थितियाँ होंगी। 1. राज्य की एक ही प्रमुख भाषा राजभाषा होगी, 2. एक से अधिक राज्य की भाषाएँ राजभाषाएँ होंगी, 3. हिंदी राज्य की राजभाषा होगी। इस अनुच्छेद के अनुसार राज्यों की वर्तमान स्थिति इस प्रकार है : लगभग सभी राज्यों ने विधि द्वारा अंग्रेजी के स्थान पर अपने राज्य की एक प्रमुख भाषा को राजभाषा के रूप में घोषित किया है। आंध्र प्रदेश को छोड़कर जहाँ उर्दू को भी दूसरी राजभाषा का दर्जा मिला है, सभी प्रदेशों में राजकाज का माध्यम एक-एक भाषा ही है।

5. विधान मंडलों की भाषा :

अनु० 210 (1) भाग 17 में किसी बात के होते हुए भी किंतु अनुच्छेदों

34 के उपबंधों के अधीन रहते हुए राज्य के विधान मंडल में कार्य राज्य की राजभाषा या भाषाओं में या हिंदी या अंग्रेज़ी में किया जाएगा।

भाग 6 प्रथम अनुसूची के भाग (क) में के राज्य––अनु॰ 210-213–– परंतु यथा स्थिति विधान सभा का अध्यक्ष या विधान परिषद् का सभापति अथवा ऐसे रूप में कार्य करने वाला व्यक्ति किसी सदस्य को जो उपर्युक्त भाषाओं में से किसी में अपनी पर्याप्त अभिव्यक्ति नहीं कर सकता, अपनी मातृभाषा में सदन को संबोधित करने की अनुज्ञा दे सकेगा। इस उपबंध के अनुसार किसी भी राज्य के विधान मंडल में : 1. उस राज्य की राजभाषा या भाषाओं का 2. हिंदी का 3. अंग्रेज़ी का 4. (विशेष अनुमति से) किसी अन्य भाषा या भाषाओं का उपयोग किया जा सकता है। इस समय विधान-मंडलों का कार्य राज्य की राजभाषा (अनुच्छेद, 345) के अधीन और अंग्रेज़ी दोनों में हो रहा है। धीरे-धीरे अंग्रेज़ी का प्रयोग कम हो रहा है। विशेषकर हिंदी प्रदेशों के विधान-मंडलों में अधिकांश काम हिंदी (प्रदेश की राजभाषा) में ही होने लगा है।

6. उच्च न्यायालयों की भाषा :

इस संबंध में पूर्वोक्त उच्चतम न्यायालय से संबंधित अनु॰ 348 द्रष्टव्य है। इसके खंड-2 में लिखा है। (2) खंड (1) के उपखंड (क) में किसी बात के होते हुए भी किसी राज्य का राज्यपाल या राजप्रमुख राष्ट्रपति की पूर्व सम्मति से हिंदी भाषा का या उस राज्य में राजकीय प्रयोजन के लिए प्रयोग होने वाली किसी अन्य भाषा का प्रयोग उस राज्य में मुख्य स्थान रखने वाले उच्च न्यायालय की कार्यवाहियों के लिए प्राधिकृत कर सकेगा। इसके अनुसार उच्च न्यायालयों का काम तब तक अंग्रेज़ी में ही चलता रहेगा जब तक कि संबंधित राज्य के राज्यपाल राष्ट्रपति की सम्मति से अंग्रेज़ी के स्थान पर या साथ-साथ प्रदेश की राजभाषा या हिंदी के प्रयोग का विधान नहीं करता। इस समय अनु॰ 345, 210 (1) और 348 के अधीन सभी उच्च न्यायालयों में अंग्रेज़ी के साथ-साथ प्रदेशों की राजभाषाओं का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। विशेषकर हिंदी प्रदेशों में हिंदी का प्रयोग द्रुतगति से बढ़ रहा है।

7. अंतर्राज्यीय भाषा :

अनु॰ 346 में संघ में राजकीय प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त होने के लिए तत्सम प्राधिकृत भाषा, एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच में तथा किसी राज्य और संघ के बीच में संचार के लिए राजभाषा होगी :

परंतु यदि दो या अधिक राज्य करार करते हैं कि ऐसे राज्यों के बीच में

संचार के लिए राजभाषा हिंदी भाषा होगी, तो ऐसे संचार के लिए वह भाषा प्रयोग की जा सकेगी। यह उपबंध पूर्णतः अनु० 343 के अधीन है। अतः 1967 के राजभाषा विधेयक के अनुसार ही इस अनुच्छेद का अनुपालन होगा। उक्त विधेयक के कारण इस समय अंतर्राज्यीय व्यवहार की भाषा हिंदी और अंग्रेजी भाषाएँ हैं। जहाँ तक केंद्र के साथ पत्र-व्यवहार का प्रश्न है, समस्त हिंदी राज्यों के अतिरिक्त गुजरात और महाराष्ट्र राज्यों ने यह घोषणा कर दी है कि वे केंद्र के साथ केवल हिंदी में और हिंदीतर राज्यों के साथ अंग्रेजी में पत्र-व्यवहार करेंगे। शेष हिंदीतर राज्य केंद्र के साथ और अंतर्राज्यीय पत्राचार अंग्रेजी में ही करते हैं। ये राज्य इस कार्य के लिए हिंदी कब स्वीकार करेंगे, निकट भविष्य में कोई आशा नहीं दीखती।

राजभाषा संबंधी विशेष निर्देश

1. राजभाषा हिंदी का स्वरूप और कार्य :

हिंदी को लेकर शुरू से ही कई विवाद उठाए जाते रहे हैं। इनमें एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण विवाद यह रहा है कि हिंदी के रूप या शैलियाँ अनेक हैं। इनमें राजभाषा हिंदी का रूप या शैली कौन-सी है ? और राजभाषा के रूप में हिंदी का क्या कार्य है ? उसका प्रयोग क्षेत्र क्या है ? रूप के संबंध में प्रश्न इसलिए उठा कि हिंदी एक प्रादेशिक भाषा भी है। अतः यह संदेह स्वाभाविक था कि क्या वही प्रादेशिक हिंदी भारतीय संघ की राजभाषा होगी ? कार्य या व्यवहार क्षेत्र के संबंध में प्रश्न एक भय के कारण उठा था। वह भय अंग्रेजी के कारण उत्पन्न हुआ था। स्वतंत्रता से पूर्व अंग्रेजी केंद्रीय और राज्य सरकारों के सभी प्रकार के कार्यों का माध्यम रही है। इसके कारण प्रादेशिक भाषाएँ प्रशासन की भाषा बनने से वंचित रहीं। संदेह था कि अंग्रेजी के स्थान पर आने वाली हिंदी भी प्रादेशिक भाषाओं का स्थान संभवतः छीन लेगी। उक्त सभी संदेहों का स्पष्टीकरण करते हुए संविधान ने स्पष्ट शब्दों में राजभाषा हिंदी के कार्य उसके स्वरूप और उसके विकास के उत्तरदायित्व के संबंध में इस प्रकार निर्देश दिए हैं—अनुच्छेद 351 : 'हिंदी भाषा की प्रसार वृद्धि करना उसका विकास करना, ताकि वह भारत की सामासिक संस्कृति के सब तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके तथा उसकी आत्मीयता में हस्तक्षेप किए बिना हिंदुस्तानी और अष्टम अनुसूची में उल्लिखित अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदावली को आत्मसात करते हुए तथा जहाँ आवश्यक या वांछनीय हो वहाँ उसके शब्द-भंडार के लिए मुख्यतः संस्कृत से तथा गौणतः अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करना संघ का कर्तव्य होगा।' इस अनुच्छेद से उक्त तीनों बातें स्पष्ट होती हैं—1. हिंदी मात्र कार्यालय की फाइलों की भाषा नहीं है। इसका कार्य 'भारत की सामासिक संस्कृति की अभिव्यक्ति का माध्यम' बनना भी है। यह

सामासिक संस्कृति (कंपोजिट कल्चर) क्या है ? संविधान का यह विचार अभी स्पष्ट नहीं हो पाया है। इसके दो अर्थ हो सकते हैं : 1. पहला यह कि भारत में प्रचलित छोटी-मोटी सभी संस्कृतियों की सामूहिक भावना, दूसरा यह कि संविधान ने भारतीय चरित्र की एक कल्पना की है, वह है धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक तथा समाजवादी जीवन-पद्धति। इस जीवन-पद्धति से भारत में भविष्य में एक मिली-जुली, पर विशिष्ट संस्कृति का अर्थात् सामासिक संस्कृति का निर्माण होगा, ऐसी एक प्राक्कल्पना संविधान निर्माताओं ने की है। राजभाषा हिंदी को इस संस्कृति की वाहिका बनना है। 2. उक्त सामासिक संस्कृति की अभिव्यक्ति के लिए एक विशिष्ट माध्यम की भी कल्पना संविधान निर्माताओं ने साथ-साथ ही की है। यह 'विशिष्ट माध्यम' राजभाषा हिंदी का वास्तविक स्वरूप है। प्रचलित खड़ी बोली हिंदी के स्वरूप गठन के लिए इसी अनुच्छेद और अष्टम अनुसूची में उल्लिखित 15 भाषाओं से रूप, पदावली और शैली को लेकर तथा संस्कृत (मुख्य रूप से) और अन्य भारतीय भाषाओं से शब्द लेकर राजभाषा हिंदी को समृद्ध बनाया जाए। इस प्रक्रिया में संविधान ने सीमा रेखा भी खींची है। इसी अनुच्छेद में आत्मीयता में हस्तक्षेप किए बिना 'आवश्यक या वांछनीय' और 'आत्मसात्' महत्वपूर्ण वाक्यांश हैं। हिंदी में अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण का हमारा दुराग्रह कभी-कभी अति हो जाता है। हमें संविधान की यह सलाह याद रखनी चाहिए कि वांछनीय स्थिति में ही अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करें और ऐसे ही शब्द हम लें जो हिंदी की मूल प्रकृति (आत्मीयता) के अनुरूप हों और वे उसमें आसानी से आत्मसात् कर सकें। 3. इसी अनुच्छेद में यह स्पष्ट निर्देश है कि उक्त प्रकार की राजभाषा के विकास या समृद्धि का उत्तरदायित्व केंद्रीय सरकार का है। इसी निर्देश के अंतर्गत केंद्रीय सरकार देश-विदेश में हिंदी के विकास और प्रचार-प्रसार संबंधी समस्त योजनाएँ चला रही है। यहाँ तक कि हिंदीतर प्रदेशों में प्राथमिक तथा माध्यमिक विद्यालयों के हिंदी शिक्षकों-प्रशिक्षकों का भी समग्र व्यय केंद्रीय सरकार वहन करती है।

राजभाषा और सामासिक संस्कृति का क्या संबंध है ?

लोकतंत्रीय स्वराज्य में शासकीय कामों में लोक संस्कृति के प्रसार और विकास में कोई भेद नहीं होता, क्योंकि लोकप्रतिनिधि या लोकभावना ही लोकतंत्र के संचालक होती हैं। अतः लोक संस्कृति की समृद्धि करना भी लोकतंत्रात्मक शासन का कर्तव्य है। इस रूप में हिंदी राष्ट्रभाषा, राजभाषा और संपर्क भाषा के अतिरिक्त कुछ और भी है। हिंदी से संबंधित व्यक्तियों को यह रहस्य अच्छी तरह जानना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

हमारा समस्या बहुल समसामयिक जीवन

1.0 आज के समस्त विश्व को औद्योगिक विकास की दृष्टि से दो मुख्य वर्गों में बाँटा जाता है :

1. विकसित देश 2. अविकसित/अल्पविकसित देश। अमेरिका, रूस, फ्रांस, जापान, इंग्लैंड, जर्मनी जैसे देशों की गिनती विकसित देशों में की जाती है, जबकि भारत, डेनमार्क, आस्ट्रेलिया, ईराक़, ईरान आदि अल्पविकसित देश हैं और अफ्रीका महाद्वीप, एशिया महाद्वीप के अनेक छोटे-छोटे देश अविकसित देश हैं। निर्धन अल्पविकसित/अविकसित देशों की 60%/80% जनसंख्या खेती पर निर्भर करती है। अतः राष्ट्रीय आय कम होती है तथा प्रति व्यक्ति आय और कृषीय उपज भी बहुत कम रह जाती है, क्योंकि खेती में औसत उपज औद्योगिक उपज से कम पड़ती है। कृषि से भिन्न थोड़े से उद्योगों में उत्पादन तथा प्रति व्यक्ति आय यद्यपि काफ़ी अधिक होती है, फिर भी यह आय संपन्न देशों की कृषि आय से भी बहुत कम होती है, क्योंकि विकसित देशों में कृषि संबंधी तथा कृषि भिन्न आय में भी बहुत कम भेद रहता है। इस का मुख्य कारण उन देशों में वैज्ञानिक ढंग से अति अल्प श्रमिकों द्वारा काफ़ी लंबे-चौड़े भूभाग में खेती करना है।

1.1 राष्ट्र की आर्थिक उन्नति के लिए दो मुख्य मार्ग हैं : 1. देश के आंतरिक ढाँचे को लगभग अपरिवर्तित रखते हुए उपज के निम्न स्तर को (विशेषतः कृषि में) उठाने का प्रयत्न किया जाए या 2. कृषीय और कृषि भिन्न उपज के अंतर को बढ़ाया जाए और इस प्रकार कृषि-भिन्न क्षेत्र को अधिक लाभदायक बनाया जाए। अधिक विकसित देशों का औद्योगिक तथा वैज्ञानिक अनुसंधान और ज्ञान पर प्रायः एकाधिकार सा है। आज भारत जैसे अल्पविकसित देश बहुत कठिन स्थिति में हैं। आधुनिक औद्योगिक उनकी प्राकृतिक संपत्तियों तथा आवश्यकताओं के संदर्भ में संगत नहीं है। वे किसी औद्योगिकी को तब तक समरसता के साथ विकसित नहीं कर सकते जब तक कि वह उनकी निजी कृति न हो। ऐसी औद्योगिकी का अभाव, जो आधुनिक भी हो और विद्यमान साधन संपत्ति के साथ समंजस भी हो, अल्पविकसित देशों के लिए सबसे बड़ी समस्या है। उद्योग प्रधान देशों की औद्योगिकी को अपनाकर वे अपने आप को बहुत हानि तथा कठिनाई की स्थिति में डाल लेते हैं। 'उद्योगीकरण की

प्रथम [illegible] जनसंख्या को घटाना है। घनी आबादी [illegible] का कारण होती है। भारत में पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से [illegible] की समस्या को सुलझाने का कुछ प्रयास किया जा रहा है। किंतु [illegible] की अधिकता [illegible] तथा औद्योगिकी के प्रभुत्व से संबंधित है। अतः 'राम-राज्य' भारतीय नगरों की गंदी बस्तियों में नहीं पनप सकता और न इन बस्तियों में रहने वालों की [illegible] 'राम-राज्य' के उपयुक्त ही हो सकती है।

1.2 भारतवर्ष ने विभिन्न रूप से अनेकों मूल्यों को [illegible] द्वारा सुरक्षित रखा है। अब प्रश्न उन शक्तियों के उपयोग का है जो इस देश के लिए विदेशी हैं, यथा—प्रौद्योगिकी, प्रजातंत्र, नगरीकरण, [illegible] शासन आदि। पश्चिम के अनुकरण में अधिकारियों को पारिश्रमिक देना तथा उनके लिए विभिन्न सुविधाएँ देना गंभीर समस्याएँ उत्पन्न करता है। राजनैतिक समर्थन एक विश्व-स्तरीय समस्या है। बृहत् सेना-संवर्धन, अन्न-नियंत्रण, कर-प्रशासन, बृहत् तथा विभिन्न प्रकार की जनता का नियमन और आरक्षण, विशाल पूँजी निवेशित तथा विशाल जनसंख्या अपेक्षी उपजाऊ उद्यम आदि का नियमन राष्ट्रीय जटिलताएँ तथा उलझनें हैं तो विकसित देशों के भोगवाद की होड़ और विविध देशों के संपर्कजनित सांस्कृतिक पक्षों की असमरसता वैयक्तिक जीवन की समस्याएँ तथा उलझनें हैं।

1.3 विकासमान देशों में समाजवादी प्रणाली की ओर रुझान बढ़ रहा है। यह इस बात का प्रमाण है कि अधिकारीतंत्रीय शासन के द्वारा उत्पादन बढ़ाने की ओर लोगों का रुझान अधिक है, बजाए केंद्रीय बाज़ार व्यवस्था के द्वारा इसे बढ़ाने के। आर्थिक संगठन तथा धर्मनिरपेक्ष राज्य संस्था का साथ-साथ सदस्य होना जटिल व्यवस्था है। प्रजातांत्रिक व्यवस्था चाहते हुए भी राष्ट्रीय क्षेत्रिक राज्यों में स्थायी प्रजातांत्रिक सरकार को संस्थाकृत करना विशेष रूप से कठिन है। इससे बड़ी कठिनाई का कारण यह है कि शक्ति संपन्न लोग अपने अधिकारों को स्वेच्छया छोड़ने को तैयार नहीं होते। चुनाव में पराजय के बाद भी प्रशासन के अधिकार को त्यागना सर्वाधिक कठिन काम है। भ्रष्टाचार, 'जनवादी' उत्तरदायित्वहीनता तथा वास्तव रूप में तानाशाही ऐसी ही कठिनाइयाँ हैं। व्यापार चक्र, रोजगार संबंधी उतार-चढ़ाव, युद्ध-संधियाँ, पुरुषों-स्त्रियों, बच्चों का आर्थिक शोषण, विदेशी आयातों पर भारतीयों की अत्यधिक निर्भरता (मानसिक और भौतिक, ज्ञान-विज्ञान तथा दैनिक जीवन क्षेत्रों में), भीषण आर्थिक असमानताएँ शोर करते हुए कारखाने, धुएँ के गुबार उगलती हुई चिमनियाँ और दुर्गंधपूर्ण घनी गंदी बस्तियों में जीवनयापन करने के लिए विवश होना आधुनिक जीवन की विशिष्ट जटिलताएँ हैं। आज के औद्योगिक विकास तथा अर्थनिर्भर जीवन वृत्ति ने एक एकांगी व्यक्ति, लघु और संकुचित मानव की वृद्धि की है।

2.0 यह कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् पंचवर्षीय योजनाओं में विदेशी सहायता, युद्ध काल में अर्जित सरकारी संपत्ति तथा व्यापारी और उद्योगपतियों द्वारा देश के लिए एक प्रभावशाली औद्योगिक ढाँचे का निर्माण हो रहा है। कृषि, इस्पात, बिजली, रसायन, सीमेंट, कागज, चीनी, सिंचाई आदि अनेक क्षेत्रों में काफी परिवर्तन हो चुके हैं तथा एक परंपरावादी समाज (भारत देश) ने अवसर मिलने पर नवीन व्यवस्था को ही नहीं अपना लिया है, वरन् अपनी पुरानी जीवन-विधियों को नवीन तथा आधुनिक औद्योगिक संदर्भ में ढालने में अद्भुत सफलता का प्रदर्शन भी किया है। किंतु फिर भी, एक अर्थ में स्थिति परिवर्तन शून्य है। पुरानी विधियाँ अब भी लटक रही हैं और बहुत अधिक असमानतायेंन दृष्टिगत हो रहा है, जिसका स्पष्ट उदाहरण नागरिक तथा ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में देखा जा सकता है। मात्रा की दृष्टि से आर्थिक स्तर का जो अंतर पहले था वह आज भी है। जाति, वर्ण भेद में कोई उल्लेखनीय अंतर नहीं आया है। अस्पृश्यता का निवारण वैधानिक स्तर पर प्रायः हुआ है। हरिजन परिवारों के लिए सरकार द्वारा जहाँ-तहाँ कुछ बस्तियाँ बनवा देना बड़ा आसान कार्य है, किंतु उन्हें सामाजिक तथा आर्थिक रूप से पुनः स्थापित करना कठिन कार्य है। योजनाओं के बावजूद भी 150 वर्ष की औपनिवेशिक प्रणाली तथा शताब्दियों पुरानी वर्ण-व्यवस्था ने समाज को इस प्रकार से प्रभावित किया है कि निर्बल तथा उपेक्षित और अधिक उपेक्षित तथा निर्बल होते गए हैं तथा समर्थ अपेक्षाकृत अधिक समर्थ हो गए हैं।

2.1 ग्राम ही क्यों नगरों की भी सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था में वर्ण-प्रथा का बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव रहा है। ग्रामों, नगरों में वर्ण भी हैं और वर्ग भी। समाज शास्त्रियों की गणना के अनुसार भारत में लगभग 3000 जातियाँ-उपजातियाँ हैं। उनमें से प्रत्येक लगभग एक स्वतंत्र संप्रदाय है जो न केवल अपने समूह से बाहर विवाह का कठोरता से निषेध करता है, वरन् दूसरी जाति के व्यक्ति के साथ खान-पान का भी निषेध करता है। सांप्रदायिक, प्रादेशिक तथा आजीविका के आधार पर इन विभिन्न जातियों के विविध उपवर्ग बन गए हैं जिनसे उनके मध्य की स्नेह-रज्जु पतली से पतली होती गई है। जाति प्रथा के अस्तित्व के कारण जातीय पेशे आजीविका के साधन हैं। आज भी अपने देश के अधिकांश निवासी सांस्कृतिक रूप से पिछड़े हुए अंधविश्वासी तथा कुप्रथानुगामी हैं। करोड़ों देशवासी (हिंदू, मुसलमान, सिख, पारसी, ईसाई आदि) पूजा, प्रार्थना, उपवास, रोजा, नमाज, तीर्थ यात्रा, साधु-सेवा आदि में कभी अधिक नहीं आते देते, लेकिन व्यापार में मिलावट, चोरी-बेईमानी या चार सौ बीसी का कोई मौका भी हाथ से नहीं जाने देते। हमारे देश में धर्म, जाति, संप्रदाय, छुआछूत, रूढ़ियों और रीति-रिवाजों के नाम पर भ्रष्टाचार, पाखंड तो होता ही है, कभी-कभी शिशु-हत्या, कन्या-हत्या तथा मानव-हत्या तक की

खबरें समाचार पत्रों में प्रकाशित होती हैं। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् सारे देश में प्रशासन में आपा-धापी, भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद तथा बेईमानी की वृद्धि होती गई है। अराजकता की वृद्धि हुई है। इन सबके मूल में जातीय जीवन की वे रूढ़ियाँ हैं जो उन्हें परलोकवादी, अकर्मण्य, भाग्यवादी तथा हद दर्जे का स्वार्थी और व्यक्तिवादी बनाती हैं।

2.2 संप्रदाय अथवा धर्म रक्षा के नाम पर आए दिन लोग दंगा-फसाद, लूट-खसोट तथा हत्याएँ तक कर डालते हैं। यह भारतीय समाज के पिछड़ेपन को सूचित करता है। भारतीय जीवन के पिछड़ेपन का अर्थ है : भारतीय जनता (ग्रामों में बसने वाली 80 प्र. श. जनता) का पिछड़ापन, जिसके साथ अनेक समस्याएँ जुड़ी हुई हैं। यथा—जनसंख्या, भूमि-व्यवस्था, कृषि-उत्पादन, संपत्ति-वितरण, जीवन-स्तर, राजनैतिक और स्थानीय शासन, व्यक्ति की जीवनचर्या और सामाजिक संबंध। इन सभी समस्याओं पर समाज/राज्य को एक-एक कर विचार ही नहीं करना है, वरन् उनका व्यावहारिक समाधान भी प्रस्तुत करना है। आज के ग्रामीण ही नहीं, नगरीय जीवन में व्यक्तिवाद, सहयोग का अभाव, तनाव, झगड़े, परस्पर व्यक्ति संबंधों में भय, प्रतिस्पर्धा और अविश्वास प्रमुख हैं। आज भी हमारा सामाजिक जीवन अनेक नकारात्मक तथा उपद्रवपूर्ण पक्षों : यथा—चोरी, झगड़े तथा हिंसापूर्ण कृत्यों से भरा हुआ है। नगरीय सभ्यता के बढ़ते हुए प्रभाव से विशृंखलन, धार्मिक विश्वास-हीनता तथा व्यक्तिपरकता की प्रवृत्तियाँ अधिकाधिक आती जा रही हैं।

2.3 आज के मध्यवर्गीय शिक्षित व्यक्ति को यह समझना होगा कि संसार भारत तक ही सीमित नहीं है; राष्ट्रवाद, प्रजातंत्र, विज्ञान, प्राद्योगिकी को विकसित करना उसका कर्तव्य है। सभ्यता नगर निवासिनी है तथा संस्कृति मानव रचित है। अब हमें प्रकृति तथा सामाजिक व्यवस्था की विविध शक्तियों का सदुपयोग करना है और विश्व का सामना प्रत्यक्ष और मुक्त रूप से भयरहित तथा पक्षपात रहित होकर करना है।

3.0 पिछले कुछ वर्षों से पाश्चात्य लेखक अधिकांश में यह कहते आए हैं कि भारत एक राष्ट्र नहीं है और न कभी रहा है। उन विद्वानों का तर्क है कि भारत अपने रचनात्मक जीवन में यदा-कदा ही एकता की अभिव्यक्ति कर पाया है : यथा—चीन, पाकिस्तान के आक्रमण के समय। राजवंशों में संघर्ष, आपसी फूट, प्रादेशिक स्पर्धा, सीमा-विवाद, जल-विवाद, भाषा-विवाद तथा प्रांतीयतावाद से उभरे असंतुलन तथा असंतोष इतिहास में बार-बार घटी सामान्य घटनाएँ हैं। इन घटनाओं की बहुलता देश की राष्ट्रीय सुरक्षा, अखंडता तथा भावनात्मक समन्वय को गहरी ठेस पहुँचाती रही है। यद्यपि प्रकृति और लक्ष्य के दृष्टिकोण से राष्ट्र की आधारभूत एकता ही हमारा उद्देश्य रहा है, किंतु रचनात्मक तथा व्यावहारिक जीवन में आज भी

हम आधारभूत एकता को पूर्ण रूप से प्रदर्शित तथा प्रस्थापित नहीं कर सके हैं। आज के हिंदू-सिख, हिंदू-मुसलमान, ब्राह्मण, अब्राह्मण, मराठी, गुजराती, रामानुयायी, राधानायी जैसे आंदोलनों, झगड़ों और बिहार-बंगाल, महाराष्ट्र-गुजरात, तमिलनाडु-आंध्र के प्रादेशिक, सामुदायिक झगड़ों को देखकर, हिंदी, उर्दू, अंग्रेजी, प्रांतीय भाषाओं के भाषा-विवाद को जान कर, प्रांतों में जातीयता के आधार पर अमरबेल की भाँति बढ़ती हुई राजनैतिक स्पर्धा को देखकर कौन समझदार व्यक्ति भारत को एक राष्ट्र या एक देश कह सकेगा ? आज भी राजनैतिक दलों में भी कुछ ऐसे दल हैं जिनकी राष्ट्रीयता पर बहुत से लोगों को विश्वास नहीं हो पाया है। वस्तुस्थिति यह है कि हमारी राष्ट्रीय एकता अभी तक अपरिपक्व और प्रयास जन्य स्थिति में पड़ी हुई है। भौगोलिक वातावरण, भाषा, आर्थिक परिस्थिति एवं व्यवस्था की विभिन्नताओं के कारण भारतीय जन सामान्य के अंतस्थल में वह सार्वभूत एकता स्थापित नहीं हो सकी है जो एक राष्ट्र का मुख्य लक्षण है। हमारी जाति-व्यवस्था के कारण सामुदायिक भावनाएँ कुटुंब, गोत्र तथा जाति तक ही सीमित रह गई है और वे कभी सारे राष्ट्र के प्रति सजीवता और सचेतन रूप से विकसित नहीं हो पाई हैं। भारतीय राजनैतिक चिंतन में भी 'राज' पर अधिक बल रहा है, 'राष्ट्र' पर कम।

3.1 राष्ट्र सामाजिक समानता के आधार पर ही सुदृढ़ होते हैं। एक राष्ट्रभाषा और लिपि, एक सा नीति-विधान, समान भूमि-व्यवस्था, समान आर्थिक स्तर, नागरिक अधिकार तथा प्रशासन-व्यवस्था स्थापित किए बिना और साथ ही ऐसी उन समस्त परिस्थितियों का उन्मूलन किए बिना जो भारतीय नागरिकों में ऊँच-नीच का भेद उत्पन्न करती हैं, भारतीय राष्ट्रीय अखंडता स्थापित नहीं हो सकती। इस दिशा में अनेक कदम उठाए जा चुके हैं, किंतु अभी बहुत कुछ करना शेष है।

4.0 कॉंग्रेस के जन्मकाल तक भारतीय समाज में जागृति की लहर आ चुकी थी। समाज-सुधार के कुछ कार्य होने लगे थे। भारतीय नारी भी देश तथा अपने अधिकारों को समझने लग गई थीं। इसीलिए कॉंग्रेस-आंदोलनों में भारतीय महिलाओं ने जी-जान से सहयोग दिया। नारी-समाज के अंदर की भीरुता को स्वामी दयानंद सरस्वती ने काफी हद तक दूर करने का प्रयास किया था और महात्मा गांधी ने उसमें राजनैतिक चेतना भर दी थी। स्वतंत्रता संग्राम में भारतीय महिलाओं ने अपने भाइयों और पतियों के माथे पर तिलक ही नहीं लगाए, बल्कि वे स्वयं भी भारी संख्या में जेल गई थीं। गांधीजी के विदेशी वस्तु बहिष्कार-आंदोलन को सफल बनाने में भारतीय महिलाओं ने पर्याप्त सहयोग दिया था। वस्तुतः उन दिनों की नारी स्वतंत्रता-आंदोलन के समय अपने पति की दासी नहीं, वरन् सहायक थी। वे अपने अधिकार के प्रति पर्याप्त सजग थीं।

4.1 आर्य समाज के उत्थान ने भारतीय नारी को जागरूक बना दिया था। पर्दा प्रथा, बाल-विवाह, अंतर्जातीय विवाह-बंधन के विषय में लोगों के विचारों में परिवर्तन आने लगा था। बहुपत्नी-प्रथा राज-परिवारों तक ही सीमित रह गई थी। विधवा-विवाह प्रचार में आ चुका था। अतः भारतीय नारी को राजनीति में प्रवेश करने का सुअवसर प्राप्त हो गया था। उनके महिला-मंडल बनने लगे थे जो घर-घर जाकर महिलाओं में देश के प्रति स्वतंत्रता की भावना भरने लगे थे। 'अखिल भारतीय महिला-सम्मेलन' (स्थापित 1927 ई०); 'महिला राष्ट्रीय समिति' विश्वविद्यालय महिला संघ, 'ईसाई नवयुवती समिति', 'कस्तूरबा स्मारक समिति' आदि की महिला सदस्याओं का राजनीति के अतिरिक्त समाज सुधार के विविध कार्यों में पुरुषों से कम योग नहीं है। 'समाज कल्याण विभाग' में महिलाओं का योग पुरुषों से अधिक है। 'समाज कल्याण विभाग' देश की महिलाओं के उत्थान; अपंग शिशुओं के स्वास्थ्य और शिक्षा; निस्सहाय बहनों तथा माताओं के लिए अखिल भारतीय स्तर पर कार्य कर रहा है। इस प्रकार एक और जहाँ नारी जीवन के सुधार के लिए अनेक प्रयत्न (यथा—वैश्यावृत्ति, दहेज प्रथा आदि को समाप्त करना) हो रहे हैं, वहाँ महिलाओं के व्यक्तिगत विकास की सुविधाओं को सबको सुलभ बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

4.2 भारतीय नारी के विकास में बहुपत्नी-प्रथा, दासी-प्रथा, दहेज-प्रथा तथा पर्दा-प्रथा के अतिरिक्त अशिक्षा सबसे अधिक बाधक थी। भारत सरकार ने स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् स्त्री-शिक्षा की ओर पर्याप्त ध्यान दिया है। देश भर में कला, विज्ञान के क्षेत्र में लगभग सभी विषय स्त्रियों की शिक्षा के विषय हैं। फिर भी नारी-शिक्षा की दृष्टि से बंगाल, बम्बई, केरल के अलावा अन्य प्रदेशों की दशा संतोषजनक नहीं है। उत्तर प्रदेश, ओड़िसा, राजस्थान, मध्यप्रदेश, बिहार तथा जम्मू की स्थिति पर्याप्त असंतोषजनक है। भारत में अब भी नारी-पुरुष की शिक्षा का अनुपात ह्रास्यास्पद है। पाँचवीं योजना के अंत तक लड़कों तथा लड़कियों की शिक्षा का अनुपात समान करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

4.3 स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय महिलाओं की आर्थिक स्थिति में मजदूरी बढ़ जाने के कारण काफी सुधार हुआ है। भारतीय नारी समाज का लगभग 1/4 भाग श्रम करके रोटी प्राप्त करता है। ये महिलाएँ कल-कारखानों, खेतों, सड़कों, भवन-निर्माण, चाय-बागानों, खानों, दाल-चावल मिलों, पापड़, बीड़ी आदि विविध प्रकार के श्रम मूलक उद्योगों में भी काम करती हैं। नौकरी-पेशा नारियाँ विभिन्न क्षेत्रों में काम करती हैं।

4.4 उद्यानों तथा बागानों का कार्य महिला-रुचि के अनुकूल होने के कारण इनमें सबसे अधिक महिलाएँ काम करती हैं। लोहे, अभ्रक की खानों में इसके बाद

नंबर आता है। सन् 1949 ई. के क़ानून तथा बाद में क़ानूनों से स्त्रियों के काम के समय तथा ढंग पर पर्याप्त प्रतिबंध लगाए गए हैं। यथा—कोई भी स्त्री बगीचे या फैक्ट्री में प्रातः 7 से पहले काम पर नहीं जा सकती है तथा शाम को 7 बजे के बाद काम नहीं कर सकती। फैक्ट्री में स्त्री से ओवर टाइम वर्क नहीं कराया जा सकता तथा 60 पौंड से अधिक भार नहीं उठवाया जा सकता। महिलाओं के लिए भी राज्य बीमा क़ानून बनाया गया है तथा उन्हें आवश्यक सुविधाएँ दी जाने लगी हैं। किंतु फैक्ट्री क़ानून अति सीमित होने के कारण बागानों तथा फैक्ट्रियों के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में लागू नहीं होता। अतः अन्य क्षेत्रों में महिला नौकरों की स्थिति अब भी दयनीय है। समान काम के लिए समान वेतन के क़ानून ने इस दिशा में काफ़ी राहत प्रदान की है।

4.5 आज हम भारतीय नारी को जीवन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में कार्य संलग्न पाते हैं: यथा—कारखाना, खान, लघु कुटीर उद्योग, व्यापार, बीमा, बैंक, स्वास्थ्य-विभाग, शिक्षा-विभाग, पुलिस, सेना, नगरपालिका, राज्य सरकार, यूनियन, घरेलू, नौकरी, नाई, सौंदर्य वृद्धि की दुकान, लांडरी, होटल, रेस्ट्राँ, रिक्रिएशन, क़ानून, कला, पत्रकारिता, धार्मिक संस्थान, समाज-कल्याण आदि। आजकल पढ़ी-लिखी महिलाओं की रुचि मेडिकल शिक्षा, स्टेनो, संगीत, क्लर्की, आदि के अतिरिक्त इंजीनियरिंग, टेक्नोलॉजी, कृषि तथा क़ानून क्षेत्र की ओर अधिक है।

4.6 विवाह के लिए प्रजनन की परिपूर्ण क्षमता का होना परमावश्यक है। अतः पति-पत्नी में शारीरिक शक्ति, अंग सौष्ठव तथा सौंदर्य होना सुखी वैवाहिक जीवन के लिए आवश्यक है। विवाह के समय पति-पत्नी की शारीरिक शक्ति तथा सौंदर्य में बहुत अधिक अंतर नहीं होना चाहिए। अन्यथा विवाह संबंध सुखदायी नहीं होते। साथ ही विवाह से पूर्व दोनों का एक-दूसरे की आदतों, रुचियों तथा गुणों से पूर्ण परिचित होना भी आवश्यक है, क्योंकि विवाह के पश्चात् दोनों को ही अपनी सहन-शक्ति को अधिक बढ़ाना होता है। अन्यथा विपरीत प्रकृतियों के होने के कारण घर में कलह का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। अतः विवाह के उपरांत पति-पत्नी के लिए यह अत्यावश्यक है कि वे अपनी प्रकृति को एक दूसरे के अनुरूप बनाएँ, सहनशील बनें।

4.7 स्वतंत्र भारत की सरकार ने बहुपत्नी प्रथा को सदैव के लिए समाप्त कर दिया है। वैश्यावृत्ति तथा दहेज प्रथा के विरोध में भी क़ानून बन चुके हैं। देव-दासी प्रथा का अंत तो काफ़ी पूर्व ही हो चुका है, किंतु अंतर्जातीय विवाह की कठोरता में अभी शिथिलता नहीं आ पा रही है। यद्यपि वर्तमान युग का व्यक्ति जातिवाद के जाल से अपने को जीवन की विभिन्न गतिविधियों में पर्याप्त मात्रा में निकाल चुका है, किंतु अभी भी वह पर-जाति या पर-वर्ग में वैवाहिक संबंध करने में हिचकता है।

सन् 1949 में पारित हिंदू विवाह मान्यता अधिनियम के अनुसार उन सब विवाहों को मान्य ठहराया गया है जो विभिन्न धर्मों, जातियों या उपजातियों में होते हैं। यद्यपि आजकल क़ानून के अनुसार लड़का-लड़की की आयु-सीमा कम से कम क्रमशः 18 वर्ष-22 वर्ष है, फिर भी ग्रामीण क्षेत्रों तथा छोटी जातियों, निम्न आर्थिक स्तर के लोगों में इससे कम उम्र की लड़कियों की भी शादी कर दी जाती हैं। 9 मई 1961 को बने दहेज विरोधी क़ानून के अनुसार विवाह के अवसर पर वर-वधू को दिए गए उपहार दहेज नहीं माने जाएँगे।

4.8 ईसाई समाज की नारी की स्थिति हिंदू नारी की अपेक्षा अधिक अच्छी है, क्योंकि ईसाई समाज में बाल विवाह, दहेज, पर्दा-प्रथा नहीं के बराबर हैं। लड़की चाहे तो ब्रह्मचारिणी रहे या पुनर्विवाह करे; अपनी जीविका स्वयं चलाए, गिर्जाघर जाए या पादरी बने, बाईबिल पाठ करे या कहीं भी आए-जाए, उसे पूरी स्वतंत्रता प्राप्त है। इसके विपरीत मुस्लिम नारी की दशा काफ़ी गिरी हुई है। इसका प्रमुख कारण मुस्लिम समाज में धर्म के आधार पर प्रचलित बहु पत्नी प्रथा है। जब तक यह प्रथा समाप्त न होगी, मुस्लिम नारियों का उत्थान नहीं होगा।

4.9 इतना सब कुछ होते हुए भी आज भी भारतीय नारी के सामने अनेकों समस्याएँ हैं। इनमें से कई एक ऐसी हैं जिनका निराकरण सरकार कर सकती है। समस्त प्रदेशीय सरकारों को महिलाओं के स्वास्थ्य की ओर ध्यान देना चाहिए। प्रसूतावस्था वाली महिलाओं के काम के घंटों में आवश्यक कमी की जाए तथा उनकी छुट्टी की अवधि बढ़ाई जाए। परिवार-नियोजन के बारे में महिलाओं को समुचित जानकारी दी जाए, साथ ही अस्वस्थ पुरुषों, महिलाओं को प्रजनन से क़ानूनन रोका जाए। हाथ के पिसे आटे के लाभों का प्रचार-प्रसार कर महिलाओं में श्रम के प्रति आस्था उत्पन्न की जाए।

4.10 वैवाहिक पद्धतियों में सामाजिक चेतना जाग्रत कर तथा आवश्यक क़ानून बना कर उचित परिवर्तन किए जाएँ। आज भी कई जातियों की योग्य लड़कियाँ दहेज न जुट पाने के कारण स्वजाति के अयोग्य लड़कों को व्याह दी जाती हैं। विवाह के समय अनेक रस्मों में व्यर्थ ही पैसा ख़र्च किया जाता है। रूढ़िग्रस्त रस्मों तथा बारात की संख्या में आवश्यक परिवर्तन किया जाए। शादी के साथ ही पारिवारिक कलह बढ़ने का प्रमुख कारण पुरानी पीढ़ी की अशिक्षित तथा परंपरावादी रूढ़िग्रस्त सासों और नई पीढ़ी की शिक्षित श्रम से जी चुराने वाली बहुओं में ताल-मेल न बैठ पाना है। प्रायः नई बहुओं को शिशु-पालन का पूरा ज्ञान नहीं होता तथा भरे-पूरे परिवार के लिए भोजन बनाने, गृहस्थी सँवारने में आलस्य होता है। पारिवारिक कलह निराकरण के लिए शिक्षा-प्रणाली में आवश्यक सुधार करना होगा। आज की तथाकथित पढ़ी-लिखी नारियाँ जब लिपिस्टक, क्रीम, पाउडर आदि की तहें चढ़ा कर

बाज़ारों में अद्र्ध-नग्न वेष-भूषा में चलती हैं तब भारतीय सभ्यता स्वयं ही अपना मुँह छिपा लेती है। इस अद्र्ध नग्नता ने व्यभिचार की मात्रा को काफ़ी बढ़ा दिया है तथा आज के नवयुवकों की मानसिक स्थितियों को भी बिगाड़ दिया है।

आज की नवयुवतियों को विभिन्न माध्यमों से बताया जाए कि स्वच्छ तथा सुंदर वस्त्र पहनना एक बात है और आधे शरीर को निरवसन करके चलना दूसरी बात है। इस फैशनपरस्ती का मुख्य कारण सिनेमा है। यह अति आवश्यक है कि भारतीय फिल्मों में बरती जाने वाली अश्लीलता पर जहाँ कड़ा अंकुश लगाया जाए वहाँ अभिनेत्रियों द्वारा अद्र्ध नग्न पोशाकों के पहनने पर भी प्रतिबंध लगाया जाए।

5.0 चार पंचवर्षीय योजनाएँ समाप्त हो जाने पर आज भी भारतीय लोगों के मध्य आर्थिक असमानता पर्याप्त मात्रा में है। कहीं एक व्यक्ति को जीवन-यापन के लिए अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पैसा नहीं मिल पाता है, तो कहीं किसी के पास इतना पैसा है कि उसे विलासिता की सामग्री में से चयन करना कठिन हो जाता है। किसी के पास तन ढकने के लिए वस्त्र तथा सिर ढकने के लिए छत नहीं है, तो किसी के पास अपने वस्त्रों की गिनती नहीं और किसी को अपने कोठियों, महलों के कमरों की संख्या का ज्ञान नहीं है। कोई दिन भर ऍड़ी-चोटी का पसीना एक करके भी दो जून की रोटियाँ नहीं जुटा पाता, तो कोई हस्ताक्षर के चार अक्षर लिख कर ही हज़ारों का अधिकारी हो जाता है। किसी के बच्चों को भी चिलचिलाती धूप, कड़कड़ाते जाड़े तथा सरसराती वर्षा में काम करना पड़ता है, तो किसी के बच्चों को वातानुकूल में भी नींद नहीं आती। किसी को दीवाली पर भी पकवान के दर्शन नहीं होते, तो किसी के यहाँ रोज दीवाली होती है।

5.1 भारतीय समाज के मध्य आर्थिक विषमता की इस गहरी खाई के अनेक कारण हैं। यथा--1. घर, परिवार, स्थान तथा व्यवसाय के स्नेह अनेक भारतीय श्रमिकों, कारीगरों तथा कृषकों को दूसरे स्थान तथा अन्य व्यवसाय में आर्थिक लाभ होने पर भी स्थान तथा व्यवसाय को परिवर्तित नहीं करने देते। 2. कमी-कमी भाषा तथा वातावरण का अंतर; श्रमिकों की निर्धनता और उनमें महत्वाकांक्षा का अभाव भारतीय श्रमिकों को घर, स्थान तथा व्यवसाय परिवर्तन नहीं करने देता। 3. अशिक्षा तथा अज्ञानता श्रमिकों की गतिशीलता में बहुत बाधा डालती है। 4. खेतिहर श्रमिकों की अधिकता तथा भारतीय सामाजिक प्रथाओं के कारण भी देश में श्रमिकों की गतिशीलता बहुत कम है। बहुत से ऐसे व्यवसाय हैं जिन्हें समाज ने कुछ व्यक्तियों को करने के लिए बाध्य कर दिया है। अतः व्यवसाय परिवर्तन में धार्मिक रूढ़ियाँ, जाति-पाँति-प्रणालियाँ तथा अन्य सामाजिक प्रथाएँ बहुत ज्यादा रुकावटें डालती हैं। 5. मिल मालिक तथा पूँजीपति भी श्रमिकों की विवशता, अज्ञानता तथा मोल-भाव करने की

शक्तियों के अभाव का पूरा-पूरा लाभ उठा कर उनका आर्थिक शोषण करते हैं। (6) जन-संख्या वृद्धि के कारण उत्पादक भूमि का अभाव हो जाता है अतः जीवनोपयोगी विविध सामग्री की पूर्ण पूर्ति नहीं हो पाती। 7. विज्ञान के क्षेत्र में होने वाली धीमी गति के प्रभाव से राष्ट्र की प्राकृतिक संपत्ति तथा स्रोतों का पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जा रहा है। 8. विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने वाले कर्मचारियों के श्रेणी भेद तथा वेतन भेद की अधिकता भी आर्थिक विषमता वृद्धि का एक कारण है। 9. निर्धनता, दूसरे व्यवसायों की कमी, संगठन का अभाव, अशिक्षा के कारण श्रमिक कम मजदूरी पर ही काम करने के लिए तैयार हो जाते हैं। अतः उनका आर्थिक स्तर ऊपर नहीं उठ पाता। 10. जोखिम,अवकाश, रुचि-अरुचि, सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर श्रमिक वर्ग में पूर्ण प्रतियोगिता का अभाव आर्थिक विषमता को बढ़ाता है। 11. सामान्यतः स्त्री श्रमिक को पुरुष श्रमिक की अपेक्षा कम मजदूरी मिलती है। 12. अज्ञानता से पोषित धार्मिक रूढ़ियों की पूर्ति के लिए ऋणग्रस्त होना, मुकदमे-बाजी में फँसना, मदपान आदि, जुआ, सट्टा जैसी सामाजिक कुरीतियाँ, अर्थ संपन्न व्यक्ति को अर्थ विपन्न बना देती हैं।

5·2 आर्थिक असमानता की इस विषम खाई को पाटने के लिए उपर्युक्त कारणों का निराकरण सामाजिक, राजकीय स्तर पर करना होगा। जून 1975 से आपत्काल में केंद्रीय सरकार जिन 20 सूत्रीय आर्थिक कार्यक्रमों पर दृढ़ता से कार्य कर रही है उनसे कुछ आशा बँधी है कि कुछ वर्षों के बाद आर्थिक असमानता में कुछ कमी हो जाएगी। भविष्य में नियुक्त होने वाले वेतन आयोगों को भी इस असमानता को दूर करने में सहयोग देना होगा। वेतन, मजदूरी-निर्धारण के सिद्धांतों को व्यावहारिक रूप देना होगा। श्रमिकों, व्यवसायियों की मनोवृत्तियों में भी उचित परिवर्तन लाना होगा। सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक रूढ़ियों तथा अंध धारणाओं के उन्मूलन के लिए सामाजिक तथा राजकीय स्तर पर क्रांतिकारी क़दम उठाने होंगे।

5.3 यदि यह कहा जाए कि हमारी स्वतंत्रता का प्रधान उद्देश्य भारत के दस लाख से भी अधिक गाँवों का उत्थान और वहाँ के निवासियों का कल्याण है, तो अत्युक्ति न होगी। क्योंकि इस देश की जनसंख्या का लगभग 80% जनसमूह सदियों से दरिद्रता तथा अशिक्षा में ग्रस्त इन गाँवों में ही निवास करता है। देश की अर्थ-व्यवस्था में इतना महत्वपूर्ण स्थान होते हुए भी यदि गाँवों का उत्थान न हो, वहाँ के निवासियों को आधुनिक जीवन की आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त न हों और उनका भार हल्का न हो, तो समझना चाहिए कि स्वतंत्रता प्राप्ति का उद्देश्य पूरा नहीं हुआ।

५.४ शताब्दियों की परतंत्रता, विदेशी शासकों और देशी सामंतों तथा जमींदारों की दुहरी चक्की में सर्वैव पिसते रहने, अत्याचारों को सहन करने और सभी प्रकार के ह्रास के कारण भारतीय गाँवों के निवासी (कृषक, मजदूर) अशिक्षा,

दरिद्रता, बीमारी और कुसंस्कारों के वह बन गए हैं। अशिक्षा एवं दरिद्रता अनेक बुराइयों की जड़ हैं। रोटी के अभाव में मनुष्य के स्वाभिमान, ईमान तथा धर्म सब कुछ नष्ट हो जाते हैं और अपनी हीनावस्था को वह दैव का प्रकोप या ईश्वरेच्छा मान कर भाग्यवादी बनकर के संतुष्ट हो जाता है और उसके जीवन में अवसाद, निराशा, कुंठा की जड़ें जम जाती हैं। यही कारण है कि राष्ट्रीय विकास की योजनाओं को भी वह संदेह की दृष्टि से देखने का आदी हो गया है। उनकी पूर्ति के प्रति न उसमें पूरा अनुराग है और न पूर्ण आस्था ही।

5.5 भारत का जनसमूह ही उसकी शक्ति का स्रोत, उसकी उन्नति और समृद्धि का साधन है। भोजन और वस्त्र की समस्याएं भारतीय गाँवों में ही हल हो सकती हैं। किसान का बेटा हल भी पकड़ता है; देशरक्षा के लिए मशीनगन भी चलाता है और कल-कारखानों में मजदूरी भी करता है। अतः आज के दयनीय कृषक, मजदूर का उद्धार करने के लिए आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा चारित्रिक/नैतिक उन्नति की नितांत आवश्यकता है। यथा—1. छोटे-छोटे किसानों की खेती को सामूहिक रूप दिया जाए। 2. कृषि के सुधरे हुए यंत्रों को कम मूल्य पर वितरित किया जाए। 3. उन्नत किस्म के बीज, खाद, पशु आदि के बारे में बताने के लिए गाँवों में कृषि विशेषज्ञों की नियुक्ति होनी चाहिए। 4. किसानों, मजदूरों को कम सूद पर सहकारी बैंकों से ऋण दिया जाए। 5. गाँवों में कुटीर उद्योगों को बढ़ावा दिया जाए। 6. गाँव के मजदूरों को जीवन-यापन के लिए न्यूनतम वेतन अवश्य दिया जाए। 7. गाँवों में स्वास्थ्य और सफाई के लिए समितियाँ बनाई जाएं, दवा का प्रबंध किया जाए तथा गाँवों के लोगों को स्वास्थ्य के नियमों का ज्ञान कराया जाए। 8. अशिक्षा दूर करने के लिए सामान्य तथा प्राविधिक शिक्षा के विद्यालय गाँवों में खोले जाएं, जिनमें शिक्षा के खर्च का भार कृषकों तथा मजदूरों पर कम से कम पड़े। 9. लेनिन के कथन 'गाँवों में रेल और बिजली की लहरें दौड़ा दो, उनकी स्थिति सुधर जाएगी' को भारतीय गाँवों में व्यावहारिक रूप दिया जाए, ताकि उन में यातायात की स्थिति सुधर जाए। 10. भाषणों, समाचार पत्रों, पुस्तकालयों, फिल्मों, नाटकों आदि के माध्यम से ग्रामीणों में व्याप्त कुसंस्कारों को दूर करना चाहिए। 11. पंचवर्षीय योजनाओं में गाँवों की बेकारी दूर करने तथा वहाँ के लोगों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने पर बल दिया जाए।

5.6 आज की युवा पीढ़ी विशेषकर विद्यार्थी समाज की उच्छृंखलता तथा उसके असंतोष को देखकर आजकल के विद्यार्थी तथा आधुनिक शिक्षा के संबंध में प्रायः आलोचना की जाती है। यह आलोचना कभी वर्ग की, कभी अनुशासन की और कभी शिक्षा-स्तर, योग्यता की रहती है। युवा पीढ़ी या विद्यार्थी समाज में दिखाई देने वाले विभिन्न दुर्गुणों के लिए केवल विद्यार्थियों को ही दोष नहीं दिया जा सकता।

आज की सामाजिक स्थिति तथा शासन-व्यवस्था भी उन बुराइयों के लिए काफ़ी सीमा तक उत्तरदायी है। यह भी सत्य है कि पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली के कुसंस्कारों का हमारे छात्रों के जीवन तथा शिक्षा-व्यवस्था पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, जिससे उच्छृंखलता तथा चरित्रहीनता का प्रचार हुआ है। आज की युवा पीढ़ी उचित आदर्श तथा मार्ग-दर्शन के अभाव में दिग्भ्रमित हो गई है। उसकी उभरती हुई शक्ति का सदुपयोग किन रचनात्मक कार्यों में किस प्रकार हो सकता है; इसका आदर्श उसे दिखाई नहीं देता, क्योंकि आज की शिक्षा में व्यावसायिकता आ गई है। अध्यापक को इतना अवकाश तथा समय नहीं मिल पाता कि वह विद्यार्थी की पूरी दिन चर्या पर ध्यान रख सके। पाठ्यक्रम तथा पाठन-प्रणाली का क्रम ऐसा बन गया है कि शिक्षा का अभिप्राय पूरा नहीं हो पाता। आज के विद्यार्थी राजनैतिक नेताओं के हाथों की कठपुतली बन कर अपने समय, धन तथा शक्ति को नष्ट कर बैठते हैं।

5.7 आज के अधिकांश विद्यार्थियों के जीवन का उद्देश्य किसी प्रकार डिग्रियाँ हासिल कर के नौकरी करना या किसी न किसी प्रकार जीविका कमाना है। आज विद्यार्थी-जीवन का आदर्श उतना ऊँचा नहीं रह गया है, न ही उनका उद्देश्य इतना महान है, फिर भी अनेक ऐसे विद्यार्थी युवक मिलते हैं जो अन्यों की तुलना में अधिक योग्य होते हैं। इसी वर्ग के युवक देश के सभी क्षेत्रों का नेतृत्व अपने हाथों में लेने की शक्ति रखते हैं। आज के युवा वर्ग के लिए सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है अनुशासित जीवन। बिना अनुशासन के शिक्षा प्राप्ति, समय-सदुपयोग तथा दैनिक कार्यक्रम (सोना, उठना, नित्यक्रिया, व्यायाम, अध्ययन, भोजन, मनोरंजन) में संतुलन नहीं रहता। युवकों को अपने जीवन का कोई न कोई उद्देश्य स्थिर कर लेना चाहिए तथा उसी के अनुरूप अपने जीवन और कार्यों को ढालने का प्रयत्न करना चाहिए। उद्देश्य पूर्ति के लिए दृढ़ निश्चय भावना का होना आवश्यक है, इसके साथ ही अपनी इच्छाओं, मनोवृत्तियों तथा क्रियाकलापों को संयमित रखना और उन्हें सन्मार्ग की ओर लगाना युवावर्ग के लिए आवश्यक है। आज समाज तथा शासन के लिए भी यह जरूरी है कि वह विद्यार्थियों के गुणों के विकास के लिए परिस्थितियाँ उत्पन्न करे। सामाजिक रूप-रेखा, आर्थिक ढाँचे, शिक्षा-प्रणाली, फिल्म-स्वरूप में उपयुक्त परिवर्तन किए जाएँ, क्योंकि इनसे युवा जीवन तथा उनके स्वभाव पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। युवकों की शक्ति का रचनात्मक कार्यों के लिए सदुपयोग किया जाए न कि विध्वंसात्मक कार्यों की ओर प्रेरित करके दुरुपयोग किया जाए।

6.0 आज हमारे देश में राजनैतिक, आर्थिक तथा प्रशासनिक क्षेत्र में भ्रष्टाचार की जड़ें काफ़ी गहरी जम चुकी हैं। आपात स्थिति, आंतरिक सुरक्षा के क़ानून, बीस सूत्रीय आर्थिक कार्यक्रम आदि के भय, प्रसार-प्रचार के कारण सतही स्तर पर शांति, नियमितता, ईमानदारी, परिश्रम की झलक क्यों न आती हो, किंतु वास्तव

में यह हमारा आप का भ्रम है। व्यवहारतः तथा अंततः स्तर पर अशांति, अनियमितता, बेईमानी, काहिली, भ्रष्टाचार में केवल 19-20 का ही अंतर है। ऐसा क्यों है और क्यों हो रहा है, तो उत्तर यही मिलता है कि हमारे ऊपर सामाजिक अनुत्तरदायित्व की शाखाएं-प्रशाखाएं इस क़दर छाई हुई हैं कि हमें सामाजिक नैतिकता का प्रकाश ही नहीं मिल पाता है।

6.1 कोरे उपदेश किसी समस्या का समाधान नहीं होते। अवैज्ञानिक तथा अव्यावहारिक आदर्श समाज/व्यक्ति की किसी भी आवश्यकता की पूर्ति नहीं करते। भारतीय धर्मभीरु तथा धर्म भक्त रहे हैं। धर्म ने उनके समक्ष जिन आदर्शों तथा सिद्धांतों को रखा वे व्यक्ति तथा समाज के लौकिक जीवन से अधिक संबंध नहीं रखते। प्रत्येक धर्म के अंतराल में एक अति मानवीय शक्ति की सत्ता रहती है, जब कि नैतिकता मानव-समाज की शक्ति से पुष्ट होती है। धर्म ने सदैव शाश्वत मूल्यों की बातें की हैं, जबकि नैतिकता व्यक्ति तथा समाज की आवश्यकता की सुविधानुसार परिवर्तित होती रहती है। प्रायः सभी धर्म आत्मा परमात्मा, मोक्ष-परलोक, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य की बातें करते हैं जो वैज्ञानिक दृष्टि से आज तक अप्रमाणित हैं। हजारों वर्षों से प्रायः सभी धर्म 'झूठ मत बोलो', 'चोरी न करो', 'हिंसा न करो', 'परिग्रह न करो', 'काम-वासना से दूर रहो' कहते आए हैं, किंतु ये अव्यावहारिक आदर्श व्यक्ति या समाज के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं हो पाए। धर्म ने सदैव समाज के विकास के प्रयत्नों (यथा—सती प्रथा-उन्मूलन, विधवा-विवाह, गर्भ-निरोध, परिवार-नियोजन, विदेश-गमन, अंतर्जातीय शादियां, कृत्रिम गर्भाधान, छुआछूत-विरोध आदि) का भरसक विरोध किया है। जन्म को दुखों का कारण मानना, संसार को दुखों, यातनाओं से ही पूर्ण बताना, माँ-बाप आदि को मोह की संज्ञा देना, भोग और अर्थ को कुत्सित बताना, पलायनवादिता, निराशा, उत्तरदायित्वहीनता तथा भाग्यवाद आदि ह्रासोन्मुखी वृत्तियों की वृद्धि करना है। आपाधापी, भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद तथा बेईमानी हमारे समाज/व्यक्ति की चरित्रहीनता तथा अनैतिकता के परिणाम हैं। इन सब का सीधा संबंध भारत में सैकड़ों वर्षों से प्रचलित धर्मशास्त्रों/मजहबी किताबों, दर्शनशास्त्रों, सिद्धांतों, आकांक्षाओं और आदर्शों से है।

6.2 स्वर्ग/जन्नत/मोक्ष या निर्वाण के सिद्धांत हमें परलोकवादी, अकर्मण्य भाग्यवादी तथा हद दर्जे का स्वार्थी, व्यक्तिवादी बनाने वाले ही सिद्ध हुए हैं। समाज अथवा देश के प्रति प्रतिफल की चाह बिना किए कर्तव्य निष्ठा सिखाने वाले, प्रेरणा देने वाले नहीं। हमारे धर्मशास्त्र व्यक्ति को व्यक्ति न कह कर हमेशा हिंदू, मुसलमान, सिख, ईसाई, पारसी, जैन, बौद्ध या ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र ही कहते रहे हैं। अतः जब तक हमारे आदर्शों में मूल परिवर्तन नहीं होगा; जब तक हमारे आदर्श धर्म/मजहब

के स्थान पर नैतिकता पर आधारित नहीं होंगे, जब तक वे परलोक की अपेक्षा इस लोक से संबंधित नहीं होंगे, परिणाम स्वरूप समाज में नैतिकता का उत्थान नहीं हो पाएगा। जब तक भारतीय व्यक्ति किसी पीर/पैगंबर, गुरु/धर्माचार्य, धर्मशास्त्र/लोकोत्तर-कथन, ईश्वर/खुदा के मानने वाले के रूप में ही जाना जाता रहेगा तब तक वह भ्रष्टाचार, क्रूरता, अमानवीयता, क्षुद्रता तथा विविध विकृतियों से छुटकारा नहीं पा सकेगा। जब तक आत्मानुशासन, नागरिकता, कर्तव्यनिष्ठा, नियमितता तथा संयम आदि को व्यवहार में नहीं लाया जाएगा, नैतिक समस्या का समाधान नहीं निकलेगा। हमारे व्यक्तिगत/सामाजिक कार्यों का लक्ष्य स्वतंत्रता, शांति, न्याय तथा मानव प्रेम होना चाहिए। 'मैं' और 'मेरा कल्याण' भावना समाज का काफ़ी नुकसान कर रही है।

6.3 गिनती करने के लिए भारतीय संस्कृति में करुणा, मैत्री, दया और परोपकार के उदात्त आदर्श भरे पड़े हैं, किंतु संगठित रूप से दरिद्रता-निवारण, अस्पृश्यता के दुःखद परिणामों में अस्पर्श्य जनों की बढ़ती हुई संख्या को मुक्ति दिलाना, किसान-मजदूर और श्रमिकों के हितों के संरक्षण आदि की ओर हमारे ग्रंथ उदासीन रहते आए हैं। दया, दान, आश्रयदान व्यक्तिगत कार्य ही बने रहे, समाज से सामुदायिक आदर्शों में उन्हें कभी समुचित स्थान न मिल सका। आध्यात्मिकता के प्राधान्य के कारण अति वैराग्य और परंपरा का बोलबाला रहा, जिसकी प्रतिक्रिया अति परिग्रही/भ्रष्टाचारी या अति भोगवादी रूप में होने लगी। अव्यावहारिक आदर्शों ने साधारण जनों को दुःखदारिद्र्य, अंधविश्वास, भावुकता के गर्त में ढकेल दिया और अभिजात वर्ग को लौकिक अभिवृद्धि विहित परोपकार, वास्तविक कोमलता-विहीन शालीनता और कर्मठता-विहीन चिंतन में। अतः आज के भारतीय समाज में व्याप्त राजनैतिक, आर्थिक और प्रशासनिक भ्रष्टाचार को मूलतः समाप्त करने के लिए भारतीय आदर्शों का पुनर्मूल्यांकन करना होगा और थोथे आदर्शों को त्यागते हुए समाजोपयोगी नैतिक व्यावहारिक आदर्शों को अपनाना होगा।

वस्तुतः विकासशील देशों की समस्त सामाजिक, सांस्कृतिक समस्याओं के मूल में आर्थिक पिछड़ापन है। आर्थिक पिछड़ेपन के परिणाम स्वरूप देश में ऐसी जनसंख्या करोड़ों की तादाद में है जिसे स्वतंत्रता के इन पच्चीस वर्षों में कुछ नहीं मिला। इसका जीवन स्तर ग़रीब की सीमा से भी नीचे है। भारत ने पिछले 10 वर्षों में प्रगति अवश्य की है। कुछ क्षेत्रों में हमारी उपलब्धियाँ उल्लेखनीय हैं, किंतु उनका लाभ प्रायः चंद पूंजीपतियों को ही मिल सका है। भारत सरकार इस ओर सजग है और यह प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी के दृढ़ एवं कुशल नेतृत्व में ग़रीबों की कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न कर रही है। प्रधान मंत्री के बीस सूत्रीय कार्यक्रम की सफलता में भारत के सदियों से उपेक्षित और पीड़ित वर्ग का भविष्य निहित है। हाल के चुनावों ने

नेतृत्व में परिवर्तन किया है। जनता पार्टी के नाम से संगठित दल में विभिन्न विचारधाराओं वाले दल शामिल हुए हैं। ध्रुवीकरण की एक नई प्रक्रिया प्रारंभ हुई है। इन चुनावों के द्वारा भारतीय जीवन में एक जनतंत्रात्मक प्रक्रिया से मूक क्रांति हुई है। इतिहास का एक नया पृष्ठ खुला है। हमें देखना है कि नवगठित "जनता पार्टी" सामाजिक चुनौतियों का किस प्रकार मुकाबला करती है। देश की बागडोर अब मोरारजी भाई देसाई के हाथों में है। प्रधानमंत्री श्री देसाई एक तपे हुए राजनीतिज्ञ हैं। उनका सम्पूर्ण जीवन देश सेवा और जनकल्याण में व्यतीत हुआ है। गांधीवाद उनके जीवन का आदर्श रहा है। अतः हमें यह विश्वास उत्पन्न हो रहा है कि वे अपने कुशल नेतृत्व के द्वारा बहुत सी सामाजिक बुराइयों को दूर करने में समर्थ होंगे, गाँधीवादी आदर्शों की राजनीति की पुनः प्रतिष्ठा करेंगे तथा राष्ट्र को उज्ज्वल भविष्य की ओर अग्रसर करेंगे।

समस्याबहुल समसामयिक जीवन का विवेचन करने के संदर्भ में संत विनोवा भावे तथा लोकनायक श्री जयप्रकाश नारायण को नहीं भुलाया जा सकता। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् यदि किसी ने गांधीवाद का सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में प्रयोग किया है तो इन दो महान विभूतियों ने। किन्तु विनोवा जी का कार्यक्षेत्र सत्ता की राजनीति से कुछ दूर रहा है। श्री जयप्रकाश नारायण ने स्वतंत्र भारत में किसी पद पर आरूढ़ होने की कामना कभी नहीं की किंतु अवसर आने पर वे सामाजिक क्रांति का सूत्रपात करने में कभी नहीं हिचके। समसामयिक समस्याओं से वे कभी अलिप्त नहीं रहे। जिस समय उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि प्रशासन लोक-सेवा तथा जनहित के आदर्शों से दूर हट चला है, राजनीति व्यक्तिगत स्वार्थों के दलदल में फँसने लगी है, शासन में भ्रष्टाचार बढ़ गया है तो उन्होंने जनक्रांति का मार्ग अपनाने का निश्चय किया। सम्पूर्ण देश को दमन के अग्निचक्र से गुजरना पड़ा किंतु इस देश की महान जनता ने विगत चुनावों में वह ऐतिहासिक निर्णय लिया जिसकी कल्पना शायद बहुत से राजनीतिज्ञों ने भी न की हो। जयप्रकाश जी की मनीषा केवल सत्ता परिवर्तन से संतुष्ट नहीं है और "सम्पूर्ण क्रांति" के द्वारा सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए वे कृत संकल्प हैं। भारतीय जीवन में हम जिस नैतिक ह्रास की प्रायः चर्चा करते हैं वह नए प्रजातंत्रों की एक सार्वभौम समस्या है। अन्तर केवल इतना है कि भारतीय जीवन सार्वजनिक तथा वैयक्तिक नैतिक ह्रास का सामना जनतांत्रिक तरीकों से कर रहा है जबकि बहुत से नवोदित प्रजातंत्र सैनिक प्रशासन का मार्ग अपना चुके हैं। प्रजातंत्र एक संस्कृति है, एक जीवन पद्धति है, केवल एक शासन प्रणाली नहीं है और जब तक जनता तथा जन-नायक गुटबंदी तथा दुराग्रह परक सीमित मान्यताओं से ऊपर नहीं उठते तब तक यह पद्धति कभी मजबूत नहीं हो सकती। आर्थिक पिछड़ापन और सांस्कृतिक रूढ़ियाँ भी प्रजातंत्र की जड़ को कमजोर करती हैं।

समसामयिक जीवन की सबसे विषम समस्या है शिक्षित युवा पीढ़ी का आक्रोश।

सत्ता केन्द्रित राजनीतिक प्रेरणाएं इस आक्रोश के लिए आग में घी का काम कर रही हैं। राजनीतिक उलझावों का सबसे बुरा प्रभाव हमारी शिक्षा व्यवस्था पर पड़ रहा है। मतवादों में विभाजित छात्र और अध्यापकों का खासा वर्ग अपने मूल उद्देश्यों की उपेक्षा करके शिक्षा संस्थाओं को अखाड़ों में परिवर्तन कर रहा है। इन परिस्थितियों का परिणाम यह हो रहा है कि युवा वर्ग क्रुद्ध होकर ध्वंसात्मक कार्यों की ओर अग्रसर हो रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि किसी भी देश का वर्तमान एवं भविष्य उसकी युवा पीढ़ी पर निर्भर करता है। यह भी असंदिग्ध है कि सामाजिक क्रान्तिओं में सदैव युवा पीढ़ी ही आगे आती है किन्तु उसके लिए एक ऐसे नेतृत्व की आवश्यकता है जो राष्ट्रहित को सर्वोपरि मानकर युवाशक्ति को सामाजिक परिवर्तन में नियोजित कर सके।

अंत में हम यही कह सकते हैं कि समसामयिकता के हम इतने निकट हैं तथा किसी-न-किसी रूप में अपनी भूमिका निभाए चले जा रहे हैं कि उसकी न तो हम अलिप्त रहकर व्याख्या कर पा रहे हैं और न भविष्य का कोई स्पष्ट चित्र ही विकसित कर पा रहे हैं। किन्तु ऐतिहासिक अनुभव से हम इतना विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि इस देश की सांस्कृतिक विरासत इतनी महान है तथा देश की जनता में इतनी विवेक शक्ति है कि वह एक-एक करके अपनी समस्याओं को सुलझाने में अवश्य सफल होगी। हमें यह भी विश्वास करना चाहिए कि नवीन राजनीतिक विचारधारा तथा निर्वाचित सरकार का नया नेतृत्व देश को अपनी अस्मिता के पहचानने में सहायक होगा।

हमारा समसामयिक जीवन
और
अंतरराष्ट्रीय संपर्क

हमारे समसामयिक जीवन की सबसे महत्वपूर्ण और जटिल समस्या हमारा अंतरराष्ट्रीय संबंध है। महत्वपूर्ण इसलिए कि आज के युग में किसी भी देश के लिए यह संभव नहीं है कि वह अपने आप में पूर्ण और आत्मनिर्भर बन सके और जटिल इस अर्थ में कि आज का मानव-समाज अनेक खेमों और गुटों में विभक्त है। यह विभाजन भी स्थायी नहीं। शक्ति संतुलन के समीकरण प्रतिदिन बनते बिगड़ते रहते हैं। एक देश दूसरे देश को कमजोर बनाकर अपना पिछलग्गू बनाने के उद्देश्य से तीसरे देश की गतिविधियों को प्रोत्साहित करता है। कभी दो पड़ोसी देशों को आपस में लड़ा कर दोनों को कमजोर बनाता है तथा स्वयं दूर से तमाशा देखता है। कभी-कभी केवल हथियारों की बिक्री बढ़ाने के लिए शक्ति-संतुलन में हेर-फेर कर दिया जाता है। विकासशील देशों के सामने इस प्रकार की जटिलताएँ प्रायः उपस्थित होती रहती हैं। भारत को, जो एक विकासशील और शांतिप्रिय देश है; अपनी विदेश-नीति में सदैव चौकन्ना रहना पड़ता है।

अंतरराष्ट्रीय संपर्क का एक सबल माध्यम राष्ट्रसंघ है। समसामयिक जीवन में इस अंतरराष्ट्रीय संस्था की जानकारी और भारतीय विदेश-नीति के कुछ मूलभूत सिद्धांतों का परिचय भारत के शिक्षित नागरिक को होना आवश्यक है। अतः एक परिचय मात्र यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

विश्व के राष्ट्रों में अंतरराष्ट्रीय भावना को उत्पन्न करने के दृष्टिकोण से 'संयुक्त राष्ट्र संघ' की स्थापना की गई है। यह 'लीग ऑफ़ नेशन्स' के ढंग की एक संस्था है। 'लीग ऑफ़ नेशन्स' की स्थापना सन् 1920 में हुई थी। संयुक्त राष्ट्र संघ उसी का विकसित रूप है। इसका लक्ष्य संसार के विभिन्न राष्ट्रों में परस्पर सहयोग, सद्भावना, सहिष्णुता, विश्वबंधुत्व और विश्व मैत्री स्थापित करना है। विश्व के प्रायः सभी राष्ट्र संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य बन चुके हैं। यदि यह न्यायपूर्वक और निष्पक्षता से कार्य करता रहा, तो आशा है कि युद्ध की विभीषिका समाप्त हो जाएगी और संसार के देश सुख की साँस ले सकेंगे। इसके उद्देश्य चार्टर के अनुच्छेद एक में निम्नलिखित प्रकार से दिए गए हैं :

1. अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की स्थापना ।
2. विभिन्न राष्ट्रों में मैत्रीपूर्ण संबंधों की स्थापना ।
3. अंतरराष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा मानवीय समस्याओं को हल करने के लिए सहयोग की स्थापना ।

और

4. सदस्य देशों के सामाजिक-सांस्कृतिक तथा आर्थिक स्तरों को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करना तथा उन्हें न्याय और रक्षा की दृष्टि से संयोजित करना।

उक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संघ अन्य राष्ट्रों के कार्यों में हस्तक्षेप कर सकता है। श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित इसकी पहली महिला अध्यक्ष थीं जिन्होंने इसके पहले विश्व का सर्वोच्च पद ग्रहण कर के भारत की--विशेषतः नारी जगत की प्रतिष्ठा को बढ़ाया था। संयुक्त राष्ट्रसंघ के छह विशिष्ट अंग हैं (1) महासभा (2) सुरक्षा-परिषद् (3) सचिवालय (4) न्याय परिषद् (5) आर्थिक सामाजिक परिषद् (यूनेस्को) और (6) अंतरराष्ट्रीय न्यायालय। सुरक्षा परिषद् के 11 सदस्य हैं, जिनमें 5 नामजद हैं : ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, चीन और सोवियत संघ तथा 6 अस्थायी सदस्य होते हैं। सुरक्षा परिषद्, जनरल असेंबली की कार्यकारिणी परिषद् के रूप में कार्य करती है। इसका मुख्य कार्य विश्वशांति बनाए रखना है। यह किसी भी कोने पर होने वाले आक्रमण का प्रतिरोध करती है। सबसे महत्वपूर्ण अंतरराष्ट्रीय समस्याएँ पहले सुरक्षा परिषद् में प्रस्तुत की जाती हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ की सभी शक्तियाँ सुरक्षा परिषद् में निहित रहती हैं, जिनका प्रयोग परिषद् के सात सदस्यों द्वारा किया जा सकता है, परंतु उन सात सदस्यों में पाँच स्थायी सदस्यों की उपस्थिति नितांत आवश्यक है।

सुरक्षा परिषद् विधि के नियमों अथवा संधियों के अनुबंधों को मानने के लिए बाध्य नहीं है। वह स्वतंत्र रूप से अपने निर्णय लेने में किसी की आश्रित नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि सुरक्षा परिषद् संसार की सर्वोच्च, सर्वशक्ति संपन्न संस्था है।

संयुक्त राष्ट्र संघ एक अत्यंत विशाल संस्था है, जिसके सभी अंग महत्वपूर्ण हैं। इनमें भी सबसे बड़ी अधिकार संपन्न संस्था जनरल असेंबली है। इसे ही अंतरराष्ट्रीय मामलों में अंतिम रूप से निर्णय देने का अधिकार है। इसकी बैठक साधारणतया वर्ष में एक बार होती है; परंतु आवश्यकता पड़ने पर वह कभी भी बुलाई जा सकती है। जनरल असेंबली का निर्णय तभी स्वीकृत समझा जा सकता है, जबकि उसके पक्ष में दो तिहाई मत प्राप्त हों।

संयुक्त राष्ट्र संघ की अंतरराष्ट्रीय नीति के छह यथार्थवादी सिद्धांत हैं-- (1) कार्यशीलता (2) मार्ग दर्शक विचार (3) राजनीतिक कार्य की महत्ता (4) न्यायानुकूल आशाओं की सिद्धि (5) शक्ति संपादन और (6) बौद्धिक

एवं नैतिक दृष्टिकोण। इन सिद्धांतों को क्रियान्वित करने के लिए अंतरराष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक, अन्न एवं कृषि संगठन, विश्व स्वास्थ्य संगठन, संयुक्त राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक संगठन आदि सभी संस्थाएँ विश्व के विभिन्न राष्ट्रों में परस्पर सहयोग को बढ़ाने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहती हैं। इनके निर्णय के अनुसार प्रगतिशील राष्ट्रों को विकसित करने के लिए विभिन्न प्रकार की सहायता दी जाती है।

भारत का संयुक्त राष्ट्र संघ में दृढ़ विश्वास है। उसकी धारणा रही है कि विश्व की कुछ समस्याओं के समाधान में भले ही संघ असफल रहा हो; किंतु वही एकमात्र ऐसी संस्था है जिसकी ओर विश्व के राष्ट्र आशाभरी दृष्टि से देख सकते हैं। कश्मीर, भारत और पाकिस्तान के संघर्ष में मध्यस्थता के लिए सुरक्षा-परिषद् ने अपने निरीक्षक भेजे थे। स्वेज नहर, कोरिया, अफ्रीका आदि की समस्याओं का समाधान सुरक्षा परिषद् के नियंत्रण में ही किया जाता रहा है। भारत की विदेश नीति भी बहुत कुछ संयुक्त राष्ट्र संघ के मौलिक सिद्धांतों पर ही आधारित है। इसके अतिरिक्त उसकी और भी अपनी मौलिक विशेषताएँ हैं जिनका यहाँ क्रमबद्ध रूप से उल्लेख किया जा सकता है। स्वतंत्र होने के बाद भारत ने अपनी विदेश नीति पर ध्यान दिया। उस समय विश्व दो प्रमुख गुटों में विभक्त था : एक साम्यवादी गुट और दूसरा साम्राज्यवादी या पूंजीवादी गुट। इनमें परस्पर गहरा और आधारभूत मतभेद था और अब भी है। दोनों ही गुट बहुत अधिक शक्तिशाली हैं। दोनों के पास आधुनिकतम शस्त्रास्त्र हैं। भारत के कर्णधारों ने यह निश्चित किया कि भारत किसी भी गुट में शामिल नहीं होगा। वह तटस्थ रहेगा; न्याय का समर्थन करेगा और यथासंभव युद्ध का विरोध करेगा। भारत की विदेश नीति के तीन प्रमुख अंग हैं : (1) शांतिप्रियता (2) जाति, वर्णभेद और साम्राज्यवाद का विरोध और (3) तटस्थता।

भारत ने अपने आचरण में शांति नीति को अपना लिया है और वह विश्व के सभी राष्ट्रों के विशेषत: पड़ोसियों के साथ सभी मामलों को शांति से निबटाना चाहता है। भारत में फ्रांस और पुर्तगाल की बस्तियों के संबंध में अपनाई गई नीति भारत की शांति प्रियता का ज्वलंत उदाहरण है। भारत ने अपने ही देश की पराधीन इन बस्तियों पर भी आक्रमण नहीं किया। फ्रांसीसियों ने तो स्वयं ही शांति समझौते में बंधकर भारत को उनका शासन सौंप दिया; परंतु पुर्तगाली ऐसा करने को तैयार नहीं थे। जब धैर्य की कोई सीमा नहीं रह गई, तो गोआ, दामन और द्यू को पुर्तगाल से मुक्त कराया गया। भारत ने गोआ आदि की मुक्ति अपनी प्रभुता और स्वतंत्रता की रक्षा और अपने स्थानों की पुन: प्राप्ति के लिए की।

हमारे देश में बुद्ध के समय से अहिंसा का प्रचार रहा है। अहिंसा को परमधर्म

माना गया है। सम्राट अशोक ने प्रेम और अहिंसा की नीति से ही दूर-दूर के देशों पर विजय प्राप्त की थी। अतः अहिंसा हमारे जीवन-दर्शन का एक अविच्छिन्न अंग रही है। कोरिया और इंडोनेशिया के युद्धों में मध्यस्थता करके भारत ने अपनी नीति की धाक विदेशों में जमाई है। जाति भेद और साम्राज्य वाद का विरोध भारत की विदेश नीति का दूसरा महत्वपूर्ण अंग है। भारत ने शताब्दियों तक साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की यंत्रणाएँ सही हैं। भारत की सहानुभूति सभी परतंत्र राष्ट्रों के प्रति रही है और अब भी है। वह अन्य देशों को मुक्त कराने में अपनी आस्था रखता है। अफ्रीका के परतंत्र देशों के स्वतंत्रता-संघर्ष में भारत अपनी पूरी सहायता दे रहा है। अंगोला (10. 11. 75) को तथा सूरीनाम को अभी हाल ही में स्वतंत्रता प्राप्त हुई है और भारत ने उसे अपनी पूरी नैतिक सहायता प्रदान की थी।

दक्षिण अफ्रीका में जातिगत भेदभाव की समस्या उग्र रूप में रही है। वहाँ गोरे यूरोपियन तथा काले भारतीयों, पाकिस्तानियों और अफ्रीकियों में बहुत भेदभाव किया जाता रहा है। वहाँ गोरों के लिए बस्तियाँ, स्कूलें, अस्पतालें आदि अलग बने हैं। काले लोगों को चुनाव में वोट देने तक का अधिकार नहीं था। गोरे वहाँ बहुसंख्यक काली जातियों पर शासन करते थे। भारत ने इस जातीय भेदभाव के प्रति जोरदार आवाज उठाई और संयुक्त राष्ट्र संघ ने अफ्रीकी सरकार की जातीय भेदभाव की नीति को निंदनीय ठहराया है। भारत इस भेदभाव को मिटाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहा है।

भारत नीति का सबसे महत्वपूर्ण अंग तटस्थता है। हमारी तटस्थता का अर्थ केवल इतना है कि संसार के शक्तिशाली गुटों में से किसी भी गुट से सदा के लिए बँध जाना नहीं चाहते। हम किसी के शत्रु नहीं बनना चाहते, सभी के साथ हम मित्रता रखना चाहते हैं, जिससे हम निष्पक्ष और औचित्य पूर्ण सम्मति दे सकें। परंतु यह नीति अत्यंत कठिन है और संदिग्ध है। न्याय पक्ष पर निरंतर डटे रहने के बाद अब संसार के अन्य राष्ट्रों की आस्था भारत की नीति पर बढ़ती जा रही है और अंतरराष्ट्रीय जगत में भारतीय राजनीतिज्ञों का मान बहुत बढ़ गया है। कोरिया, इंडोनेशिया और चीन के युद्धों को बंद करवाने तथा चीन में क़ैद अमेरिकन विमान चालकों को मुक्त कराने में भारत ने जो महत्वपूर्ण कार्य किया था उससे दोनों ही गुटों की आस्था भारत पर हो गई है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की जनरल असेंबली का अध्यक्ष पद श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित को प्रदान राष्ट्रसंघ की जनरल असेंबली का अध्यक्ष पद श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित को प्रदान किया गया। अंतरराष्ट्रीय संस्था के अनेक उच्च पदों पर भारतीयों की नियुक्ति हुई है।

भारत सभी राष्ट्रों से मित्रता का उत्सुक है। पाकिस्तान और चीन को छोड़कर सभी पड़ोसी राष्ट्रों के साथ भारत के संबंध मैत्रीपूर्ण हैं। भारत की विदेशनीति

विशेषतः पंचशील के सिद्धांतों पर आधारित है। यह नीति न केवल भारत के लिए; अपितु विश्व के प्रायः सभी राष्ट्रों के लिए लाभदायक सिद्ध हुई है। भारत किसी राष्ट्र की सहायता सशर्त नहीं लेना चाहता। भारतीय नीति निरंतर विकसित हो रही है। यह भारत और विश्व के लिए अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसी आशा की जाती है।

भारत राष्ट्रमंडल का सक्रिय सदस्य है। वह अन्य सदस्य राष्ट्रों के सहयोग से शांति, एकता और संगठन में भी महत्वपूर्ण योग दे रहा है। भारत तटस्थ राष्ट्र है। आत्म-रक्षा के सिद्धांतों और शांति-भावना पर बल देना उसका प्रमुख उद्देश्य है।

राष्ट्रमंडल के लगभग 40 सदस्य देशों का एक अधिवेशन भारत (दिल्ली) में 28-10-75 को आरंभ हुआ था जो एक सप्ताह के लगभग चला। भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति स्वर्गीय फखरुद्दीन अली अहमद ने उसका उद्घाटन भाषण दिया। यह राष्ट्रमंडल का इक्कीसवाँ संसदीय सम्मेलन था। इससे पूर्व भी एक बार सन् 1957 में यह सम्मेलन भारत में हो चुका है। राष्ट्रपति अहमद और प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने इसमें अपने संबोधन भाषणों में राष्ट्रों के बीच भ्रातृत्व भावना पर बल दिया, आपसी मामलों में विचार-विमर्श और सहयोग पर निष्ठा व्यक्त की।

युद्ध की विभीषिका को रोकने और विश्व में स्थायी शांति की स्थापना के लिए पंचशील के सिद्धांत आशा की एक नवीन किरण दिखाई पड़ते हैं। पंचशील का पालन करने के ही संसार में शांति बनी रह सकती है, अन्यथा आगामी युद्ध और मानव-सभ्यता का विनाश लगभग सुनिश्चित ही प्रतीत होता है। पंचशील के पाँच सिद्धांत हैं जिनकी २८ जून सन् 1954 को भारत के प्रधान मंत्री पं. जवाहर लाल नेहरू और चीन के प्रधान मंत्री श्री चाऊ एन लाई ने संयुक्त वक्तव्य में अभिपुष्टि की थी। ये पाँच सिद्धांत निम्नलिखित हैं :

(1) एक दूसरे राष्ट्र की प्रभुसत्ता और प्रादेशिक अखंडता का पारस्परिक सम्मान।
(2) राष्ट्रों का परस्पर एक दूसरे पर अनाक्रमण।
(3) दूसरे राष्ट्र के मामलों में हस्तक्षेप न करना।
(4) परस्पर सहायता और आदर की भावना।
(5) विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक प्रणाली वाले देशों का शांतिपूर्ण सह अस्तित्व।

ये सिद्धांत 'रहो और रहने दो', 'जिओ और जीने दो' की भावनाओं पर आधारित हैं। सभी राष्ट्र समान हों, उनका अंतर नष्ट हो, परस्पर सहयोग, सद्भावना और शांतिपूर्ण अस्तित्व का जीवन बिताते हुए समृद्ध हों। बाँडुंग सम्मेलन में 29 राष्ट्रों ने इसका समर्थन किया। सन् 1955 में रूस, युगोस्लाविया और पोलैंड ने

इसे स्वीकार किया। निरस्त्रीकरण भी इसका एक अंग है। 14 दिसंबर 1957 को 82 सदस्यों की महासभा ने भारत द्वारा प्रस्तावित त्रिराष्ट्रीय प्रस्ताव को स्वीकृति प्रदान की और अंतरराष्ट्रीय सहयोग और शांति के लिए सह अस्तित्व के सिद्धांतों को अपनाने का आग्रह किया गया। सहयोग में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पक्षों का समावेश किया जा सकता है।

बांडुंग सम्मेलन 18 अप्रैल सन् 1955 को इंडोनेशिया में बांडुंग नामक सुंदर नगर में डा० सुकर्ण की अध्यक्षता में हुआ। इसमें एशिया और अफ्रीका के 29 देश सम्मिलित हुए। उसका महत्व इतिहास में चिरकाल तक बना रहेगा। यह सम्मेलन एशिया और अफ्रीका के नवजागरण की चेतना का प्रथम जयघोष था। इस सम्मेलन का आयोजन कोलम्बो सम्मेलन के पाँच राष्ट्रों की ओर से किया गया था। ये पाँच राष्ट्र, भारत, हिंदेशिया, बर्मा, श्रीलंका और पाकिस्तान हैं। इस सम्मेलन में पंचशील के पाँच सिद्धांतों को स्वीकार किया गया। बाद में सौ से अधिक राष्ट्रों ने इन्हें स्वीकार किया। इस सम्मेलन में मनुष्य-मनुष्य के बीच ऊँच-नीच की भावना और रंगभेद आदि की निंदा की गई। इसके अतिरिक्त साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद को विश्व शांति के लिए संकट समझा गया और देशों को परस्पर शांति के पथ पर लाकर खड़ा कर दिया। इससे निस्संदेह अंतरराष्ट्रीय तनाव में कमी आई है। विश्व की अधिकांश जनता का यह प्रतिनिधित्व करता है और यह इसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

आज विज्ञान ने एक ओर तो मनुष्य को वायुयान, जहाज, रेडियो और विद्युत आदि अनेक वस्तुएँ वरदान के रूप में प्रदान की हैं और दूसरी ओर ऐसे भयंकर विध्वंसकारी परमाणु अस्त्र प्रदान किए हैं जिनकी कल्पना से ही सारा विश्व थर्रा रहा है। अपने द्वारा निर्मित अस्त्रों से मानव अपने ही सर्वनाश की तैयारी कर रहा है। विश्व पूर्वोक्त साम्यवादी और साम्राज्यवादी दो बड़े गुटों में विभक्त है। तीसरा गुट तटस्थ राष्ट्रों का है। सबके सिद्धांत एक दूसरे से भिन्न हैं। विश्व के राष्ट्र सशस्त्र सेना तथा आधुनिक अस्त्रों पर बहुत बड़ी धनराशि खर्च कर रहे हैं। इन अस्त्रों से समूचे विश्व को खतरा बना हुआ है। ये अमेरिका, यूरोप और एशिया के विभिन्न देशों तथा आबादी वाले स्थानों पर निर्मित हुए हैं, जो अन्य राष्ट्रों की गंभीर चिंता का विषय बने हुए हैं। जुलाई 1956 में न्यूयार्क में 12 राष्ट्रों के निःशस्त्रीकरण आयोग ने अमेरिका से नाभिकीय शस्त्रों के परीक्षणों के स्थान का आग्रह किया था। सन् 1957 में भारत ने इन राष्ट्रों में संख्या वृद्धि का प्रस्ताव रखा, जिसके परिणाम स्वरूप निःशस्त्रीकरण से संबद्ध राष्ट्रों की संख्या 25 हो गई और निरंतर बढ़ती गई। संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत के तत्कालीन प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने 20 दिसंबर सन् 1956 में सैनिक संधियों को तुच्छ ठहराया और विश्व जनमत पर विशेष बल दिया।

राष्ट्रों के बीच युद्धों का कारण साम्राज्यवाद, पूँजीवाद, राष्ट्रीयता, जाति-भेद, वर्ग-भेद, सैनिक वर्ग का प्रभुत्व और समाज में विद्यमान वर्ग-भेद आदि रहे हैं। आज भी संसार युद्ध की विभीषिका से त्रस्त हो उठा है। इन युद्धों के कारण सभी मानव सभ्यता और समाज का विनाश होता जा रहा है। इसलिए संसार के सभी देश एक स्वर से शांति की माँग कर रहे हैं और प्रत्येक विवाद का अंत शांति पूर्ण उपायों से करने पर बल दिया जा रहा है। विश्व शांति के लिए राष्ट्रीयता के बजाय अंतरराष्ट्रीयता को प्रश्रय दिया जाने लगा है। शोषक और शोषित, शासक और शासित का भेद समाप्त करने की चेष्टा की जा रही है। अब संसार के सभी राष्ट्र अनुभव करने लगे हैं—विश्व का कल्याण इसी में है कि सभी राष्ट्र परस्पर मित्रता और सहयोग द्वारा एक दूसरे की सहायता करें, एक दूसरे के प्रति द्वेषभाव के स्थान पर अपने हृदय में प्रेमभाव को जाग्रत करें।

हमारा समसामयिक जीवन और जनजातियाँ

हमने अब तक जिस संस्कृति का परिचय प्राप्त किया, वह भारत के विकसित क्षेत्रों की संस्कृति है। किंतु भारतीय संस्कृति का समस्त विकास उस अरण्य सभ्यता से हुआ है जो आज भी जंगलों तथा पहाड़ी क्षेत्रों में रहने वाली जनजातियों की संस्कृति में सुरक्षित है।

कृतज्ञता, सरलता, अकृत्रिमता, नैसर्गिकता आदि कुछ विशिष्ट गुण इन अविकसित क्षेत्रों की जनसंस्कृति में सुरक्षित हैं। आज की अत्याधुनिक सभ्यता अपने पहनावे और वेशभूषा में आदिम युग की ओर मुड़ रही है। बहुत संभव है कि आधुनिक औद्योगिक सभ्यता की घुटन से त्रस्त होकर तथा औद्योगिकीकरण की संत्रास उत्पन्न करने वाली जटिलताओं और व्यस्तताओं से ऊब कर आज की संस्कृति को इस अरण्य संस्कृति की ओर पलायन करना पड़े। हम यहाँ जनजातियों के सांस्कृतिक परिवेश की एक झाँकी मात्र दे रहे हैं, जिससे भारत का प्रबुद्ध वर्ग इनके आर्थिक विकास की ओर अधिक ध्यान दे सके।

जनजातियों की अपनी समृद्ध साहित्यिक परंपरा है जिसमें गीति तत्व का प्राधान्य है। गीत और नृत्य इनके सांस्कृतिक-सामाजिक जीवन के अभिन्न अंग हैं, किंतु इनके पास अपनी कोई लिपि नहीं है। संपूर्ण परंपरा मौखिक है। पूर्वांचल की जनजातियों ने अपनी भाषाओं के लिए रोमन लिपि स्वीकार की है। इधर भारत सरकार के प्रयत्नों से इनमें हिंदी का भी तेजी से प्रचार हो रहा है। धीरे-धीरे इनकी शंकाएँ दूर हो रही हैं और भारतीय जीवन की मुख्य धारा के साथ ये अपना तालमेल बैठा रहीं हैं। किंतु अपनी क्षेत्रीय संस्कृति के प्रति इनके मन में प्रगाढ़ अनुराग है और है अपनी अस्मिता को क़ायम रखने का दृढ़ संकल्प। अब यह भारत के प्रबुद्ध वर्ग और जनजातियों के नेतृत्व के ऊपर निर्भर है कि वे पृथकता में एकता की स्थापना किस प्रकार करते हैं।

भारतीय जनजातियों का परिचय :

जनजाति के ही अन्य नाम काननवासी, आदिवासी, जंगली या आदिम निवासी हैं। अंग्रेजी में उसे ट्राइब्स कहा जाता है। भारत सरकार ने इसे अनुसूचित

जनजाति (Scheduled tribes) नाम दिया है। जनजाति का अर्थ है आदि या पूर्व समय से ही एक निश्चित भूभाग में रहने वाले लोग। संसार के सभी देशों में जनजातियाँ हैं। इन जनजातियों को तथाकथित भद्र कहे जाने वाले समाज और सरकार ने सदा से ही उपेक्षा की है। इसलिए आज तक इन लोगों की आर्थिक, भौतिक और सांस्कृतिक दशा अति दयनीय है। कुछ सरकारों ने इनकी संस्कृति और सभ्यता को नष्ट कर इनको उच्चवर्ग के साथ मिलाने की कोशिश की। कुछ संप्रदायों ने इन्हें अपने धर्म में दीक्षित कर लिया। किंतु फिर भी इनका समुचित विकास हुआ। आज हजारों वर्ष के बाद भी ये लोग अपनी परंपराएं बिना किसी लिखित इतिहास के बनाए हुए हैं। यह उनकी संस्कृति की प्रमुख विशेषता है।

भारत सरकार एक गणतंत्र सरकार है जो इस भूमि के प्रत्येक निवासी की उन्नति चाहती है। इसलिए सरकार ने इन्हें उच्चवर्गों के साथ मिलाने के बजाय इनकी संस्कृति के आधार पर इनके विकास की योजनाएँ बनाई हैं। क्योंकि सरकार की दृष्टि से जनजाति किसी भी देश की अमूल्य निधि है। जो जीवित इतिहास का कार्य करती है। संविधान में इन जनजातियों के लिए विशेष सुविधाएँ हैं तथा इन सुविधाओं में वृद्धि व नई सुविधा की व्यवस्था करने का भी प्राविधान है।

भारतीय जनजातियों का परिचय उनके नीचे लिखे लक्षणों से मिलता है। जैसे—

1. ये जनजातियाँ अधिकतर काननवासी होती हैं। इसलिए इनका जीवन प्रकृति होता है।
2. ये सभ्यता की दौड़ में पिछड़ी हुई हैं। आज दुनिया के लोग सभ्यता में बहुत आगे बढ़ गए हैं। परंतु ये जातियाँ अभी भी आदिम युग की परिस्थितियों में जीवन व्यतीत कर रही हैं। शिकारी-जीवन, अल्प वस्त्रधारण करना, अस्थिर खेती करना, जादू टोना में विश्वास रखना, अशिक्षित रहना, प्रकृति की पूजा करना आदि इनके आदिम लक्षण हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि ये नई चीजों की ओर जल्दी आकर्षित नहीं होतीं और आर्थिक दृष्टि से भी कमजोर होती हैं।
3. ये एक निश्चित जगह में रहती हैं। इन्हें अपने निवास स्थान के प्रति मोह अधिक रहता है। इसलिए आज भी ये अपने निश्चित स्थान पर बसी हुई हैं। सरकार भी जब किसी जनजाति के व्यक्तियों को नौकरी के लिए दूर भेजना चाहती है तब ये जाने के लिए तैयार नहीं होते।
4. इनमें सामुदायिक भावना प्रबल होती है। इनमें कबीले में रहने की भावना अत्यधिक है। इसलिए ये अपने कबीले के कठोर से कठोर नियमों को मानने के लिए तैयार रहती हैं।

5. इनके रीति रिवाज बड़े विचित्र होते हैं। इनमें प्रचलित युवागृहों, नागाओं की नरमुंड प्रथा, जौनसारी कबीलों की बहुपतिप्रथा, झूम की खेती और धार्मिक विश्वास बड़े विचित्र होते हैं जो सभ्य कहे जाने वाले समाज के लिए विचित्र प्रतीत होते हैं।
6. इनकी भाषाएँ लिपि विहीन होती हैं। जनजातियों का साहित्य और इतिहास लिखा हुआ नहीं है, क्योंकि इनकी अपनी कोई लिपि नहीं है। केवल मौखिक रूप में ये एक दूसरे को अपनी संस्कृति का ज्ञान हस्तांतरित करती रहती हैं।

भारतीय जनजातियों का वर्गीकरण :

अनुसूचित जनजातियों की सरकारी रिपोर्टों के आधार पर भारत में कुल 592 जनजातियाँ हैं। इनकी जनसंख्या 3 करोड़ है। इनके प्रमुख निवास स्थान मध्यप्रदेश, बिहार, राजस्थान, ओड़िसा, बंगाल, असम, नागालैंड, केरल, मैसूर, मद्रास, बम्बई आदि हैं। इनमें से कुछ जनजातियों की अभी तक शुद्ध संस्कृतियाँ जीवित हैं और कुछ जनजातियों ने दूसरी संस्कृति को या तो स्वीकार कर लिया है या अपनी संस्कृति मिश्रित कर ली है।

भौगोलिक आधार पर हम भारत की जनजातियों को तीन प्रमुख वर्गों में रख सकते हैं :

1. उत्तरपूर्वी पर्वत घाटियों की जनजातियाँ :

ये हिमालय की तराई और पूर्वी सीमाप्रांतों की पर्वत घाटियों में निवास करती हैं। जैसे—

मणिपुर में—कबुई, मीनीयांग, डिफाक, मिकिर, लेपचा, उफला।
नागालैंड में—अंगामी, लोथा, आओ, चाखेसांग, सांगतम, कुकी आदि।
मिजोरम में—चाकमा, रियांग, साइलो पोई, रालते, छकछुआक आदि।
असम और अरुणाचल में—बोडो, खासी, गारो, मोम्पा, आबोर, टागिन, मिसमी।
हिमालयी उत्तर प्रदेश में—थारू, खस।

2. मध्यवर्ती भारत के पठारों व पहाड़ियों की जनजातियाँ :

बिहार—संथाल, मुंडा, ओरॉव, बिरहोर आदि।
बंगाल—संथाल, डोकरा, लेपचा, चाकमा।
ओड़िसा—बोरों, खोड, सवरा, जुआँगा, कंध, भतरा, कुई आदि।

मध्यप्रदेश---गोंड, कोरकू, कमार, भुंजिया, बैगाकोल, भील आदि।
राजस्थान---राजगोंड, कोलम, कोया, चेंचु, भील आदि।
दक्षिणी उत्तरप्रदेश---कंजर, खस।

3. दक्षिणी पश्चिमी भारतीय पहाड़ियों की जनजातियाँ :

मद्रास---इरुलर।
आंध्र---लंबाड़ी (बंजारा), कुई, कोलामी, गोंडी, ऐरुका, कोंडा, सवरा आदि।
केरल---काडर, तोडर, इरुलर, पुलयर।
दक्षिणी महाराष्ट्र---बंजारी, महादेव, कोली।

भारत के उत्तर पूर्वी पर्वत घाटियों की जनजातियों की संस्कृति

किसी भी जाति की संस्कृति के मुख्य आधार धार्मिक विश्वास, विवाह-व्यवस्था तथा पारिवारिक व्यवस्था है। इन तीन आधारों पर हम किसी भी व्यक्ति या जाति की संस्कृति का अध्ययन करते हैं। भारत की जनजातियों में विशेषकर मध्यभारतीय जनजातियाँ हिंदू संस्कृति से काफी प्रभावित हुई हैं। कुछ जनजातियों ने तो पूर्णरूप से हिंदू जीवन-पद्धति अपनाली है। कुछ जनजातियाँ हिंदू संस्कृति और अपनी संस्कृति के मिले-जुले रूप से जीवन व्यतीत कर रही हैं। इनकी संस्कृति की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

1. बोंगा में विश्वास होना

बोंगा का अर्थ है अदृश्य शक्ति जो सबको दंड देती है। मुंडा जाति का इसमें अटूट विश्वास है। अन्य जातियाँ भी किसी न किसी रूप में बोंगा को मानती हैं।

2. टोटम और टैबू में विश्वास होना

टोटम का अर्थ है पशु विशेष या पौधे विशेष को पवित्र मानना और उनकी पूजा करना। जैसे---ओरॉव जनजाति में तिरकी (चुहिया), एक्का (कछुआ), लाकड़ा (लकड़बग्घा)।

इसी प्रकार अन्य जातियों के टोटम भी होते हैं जो अलग-अलग भी हो सकते हैं। ये टोटम परिवार के सदस्यों का कल्याण करते हैं।

टैबू का अर्थ है निषेध। अर्थात् कुछ वस्तुओं का निषेध करना चाहिए, क्योंकि इनका उपयोग व्यक्ति और समाज के लिए हानिकारक हो सकता है। जैसे---भोजन संबंधी टैबू में कुछ चीजों या कुछ पशु-पक्षियों का मांस खाना वर्जित होता है। यौन संबंधी टैबू में कुछ विशेष खानदानों या लोगों से मेलमिलाप और विवाह-संबंध वर्जित होता है।

3. जादू

भारतीय जनजातियों में जादू का प्रमुख स्थान है। इनमें कुछ जातियाँ सद जादू (white magic) तथा कुछ जातियाँ असद जादू (black magic) में विश्वास रखती है। एक 'डिटवँगा' जो असद जादू भी कर सकता है। अर्थात् दूसरे को हानि भी पहुँचा सकता है। परन्तु दूसरा 'गुनी बैगा' जो हमेशा दूसरे के कल्याण के लिए ही जादू या मंत्र का प्रयोग करता है। इसी को सद जादू कहते हैं। जैसे—भूत पिशाच से व्यक्ति को बचाना, बीमारियों को भगाना, पशुओं की रक्षा करना, फसल का उत्पादन बढ़ाना आदि। इसी प्रकार भारत की अन्य जातियों में जादू का महत्व है। भारत के पूर्वांचल की जनजातियाँ इसमें आगे हैं।

4. बहुदेवता वाद

जनजातियों में पूजा के लिए अनेक देवता होते हैं। प्रकृति की जितनी भी भयंकर चीजें हैं उन्हें भी देवता मान लिया जाता है। जैसे—भीलों में माता (शीतला) की पूजा अधिक प्रचलित है।

नीमाड़ी भील नाग की पूजा करते हैं।

गोंडों में दुल्हादेव, रातामाई आदि की पूजा होती है।

फसल का देवता, विवाह देवता आदि अनेक देवता होते हैं।

नागा, मिजो, खासी में भी इस प्रकार बहुदेवतावाद है।

5. बलिप्रथा

भारतीय जनजातियों के धर्म का मुख्य आधार बलिप्रथा है। किसी देव को प्रसन्न करना, अधर्म के लिए प्रायश्चित करना, सामाजिक कार्य करना आदि में बलि दी जाती है। बलि में पशु, मनुष्य, पक्षी, फल आदि को काटना प्रमुख है। जैसे—नागाओं में नरमुंड प्रथा, शादी के समय भैंसे की बलि देना, राँची की खड़िया जनजाति में जेल से छूटे हुए व्यक्ति का शुद्धीकरण करने के लिए सफ़ेद मुर्गे का खून देवता को चढ़ाया जाता है।

छत्तीसगढ़ की कमार जाति में धान बोने के पूर्व बकरे की बलि दी जाती है। नदी तालाब आदि में व्यक्ति की मृत्यु होने पर भी बलि चढ़ाई जाती है। इस प्रकार व्यक्ति या परिवार का अशुभ होने पर भी देवता या वंशदेवता को बलि दी जाती है। त्योहारों, उत्सवों पर भी बलि दी जाती है।

6. परम्परा प्रभाव

भारतीय जनजातियाँ प्रायः वैज्ञानिक सम्पदा और ज्ञान से दूर होने के कारण

भोली समझी जाती है। इसी का लाभ उठाकर ईसाई पादरियों ने प्रलोभन, धोखा-धड़ी का आधार लिया। जैसे—बस्तर जिले में एक भील समूह में जाकर पानी से गिलास में इनोकूट साल्ट डाल दिया। पानी के उबाल से पानी उबलने लगा। पादरी ने कहा यही तो भगवान ईसु का चमत्कार है और इस चमत्कार से पूरा भील समूह क्रिश्चियन हो गया। इसी तरह असम की खसिया जनजाति में 30%, नाग जाति में 75%, मिकिर जनजाति में 20%, मिजोरम की लुशाई जाति में 90% क्रिश्चियन बन गए। केरल में 20 लाख, मध्यप्रदेश में 5 लाख जनजाति के लोग क्रिश्चियन बन गए। भारत के अन्य क्षेत्रों में भी ऐसा ही हुआ और यह कार्य अभी भी चल रहा है।

इससे केवल आंशिक लाभ हुआ, क्योंकि जनजातियां रूढ़िवाद और अंध-विश्वास से मुक्त होने लगीं, परंतु इसके परिणाम भयंकर और हानिप्रद हुए। जैसे-राष्ट्रीय एकता और संस्कृति के लिए खतरा उत्पन्न हो गया। जनजातियों की सभ्यता, संस्कृति नष्ट होने लगीं।

ऐसे लोगों की न तो पूर्ण जनजाति रही, न पूर्ण क्रिश्चियन हुए और न ही पूर्ण भारतीय रहे। इन लोगों की स्थिति अब अधर में है, न इधर रहे न उधर। क्योंकि इन्होंने क्रमिक ढंग से धर्म परिवर्तन या संस्कृति परिवर्तन नहीं किया। दूसरी तरफ हिंदू धर्म और संस्कृति ने भी बहुत से जनजाति लोगों को अपने में समाहित कर लिया, किंतु क्रमिक ढंग से किया। इसलिए ऐसे लोग हिंदू संस्कृति में अच्छी तरह खप गए।

जनजातियों की संस्कृति को आत्मसात करने से ही हमारी राष्ट्रीय एकता संभव

आजादी से पूर्व भारतीय जनजातियों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। मुगलों व अंग्रेजों के शासन में ये जनजातियाँ उपेक्षित रहीं। सरकार ने उनकी सुखसुविधाओं पर कोई ध्यान नहीं दिया। केवल उनके धर्म परिवर्तन या संस्कृति उन्मूलन में लगी रहीं, परंतु ग्रामीण समाज ने जनजातियों की बहुत सी बातें स्वीकार की हैं। आजादी के बाद भारत सरकार ने जनजातियों की सुख सुविधा हेतु कई कानून बनाए, संविधान में उनके अधिकारों को सुरक्षित कर दिया, संसद, विधान सभा तथा नौकरियों के पद सुरक्षित कर दिया। उसने खेती, खाने पीने की सुविधा प्रदान की; मकान, अस्पताल, स्कूल आदि बनवाए और उनके लिए एक अलग विभाग खोल दिया और उनके बच्चों को पुस्तक, छात्रावास, भोजन, कपड़े आदि की व्यवस्था भी कर दी। आज सरकारी स्तर पर जनजातियों के अधिकार और सुविधाएँ सवर्ण जातियों से भी अधिक हैं। वे शासन के विभिन्न ऊँचे पदों पर कार्यरत हैं। सन् 1947 की स्थिति

से वे बहुत आगे बढ़ गई है। इस दृष्टि से भारतीय सरकार को संसार में हम एक मात्र कल्याणकारी सरकार कह सकते हैं, क्योंकि पिछड़े कमजोर वर्ग को ऊपर उठाना, उन्हें सुख सुविधा देना ही कल्याणकारी राज्य के प्रमुख लक्षण हैं।

सरकार ने शिक्षा, नौकरी की दृष्टि से तो इन जनजातियों को ऊपर उठाया है, उन्हें समानता का पद दिया है और आज भी सरकार की दृष्टि में उनका स्थान उच्च है। परंतु फिर भी आज तक सवर्ण समाज से वे दूर हैं। भारतीय संस्कृति, सभ्यता में उनको बराबर का स्थान नहीं मिला है। स्कूलों की पुस्तकों में उनके बारे में कम स्थान हैं। उनकी संस्कृति को स्थान नहीं दिया गया है। मध्यभारतीय जनजातियाँ तो भारतीय संस्कृति की ओर उन्मुख हैं, परंतु पूर्वांचलीय जनजातियाँ आज भी भारतीय समाज से अलग-अलग हैं। अतः सरकार और समाज का कर्तव्य है कि इन पूर्वांचलीय जनजातियों को भी सहानुभूति से, बिना उनकी परंपराओं को नष्ट किए अपने में मिला लें। इसके लिए हमें कुछ अपने अहम् को कम करना होगा। उनकी कुछ विशेषताओं को हमें स्वीकार करना होगा। आज की जनजातियाँ ग्रामीण जनता में तो घुलमिल रही हैं, किंतु शहरी जनता, शहरी संस्कृति, विज्ञान के जीवन से मेल नहीं खातीं। शिक्षित लोग भी उनके साथ ठीक से व्यवहार नहीं करते। जबकि वेरियर इलविन ने जनजातियों की परिस्थितियों पर विशेष प्रकाश डाला है। उन्होंने अपने 20 वर्ष पूर्वांचल की घाटियों में जनजातियों के साथ व्यतीत किए हैं। उनके अनुसार भारत की जनजातियों में पूर्वांचलीय जन-जातियाँ बहुत कलाप्रिय विनम्र और खुशहाल हैं। इनकी सामुदायिक भावना, स्वास्थ्य और स्वतंत्र जीवन अनुकरणीय हैं। महात्मा गांधी ने पूर्वांचलीय जन-जातियों की कलाओं से प्रभावित होकर कहा कि भारत का भावी स्वर्णिम कुटीर उद्योग इन जनजातियों में आज साकार हो रहा है।

पं. जवाहर लाल नेहरू पूर्वांचल जनजातियों पर विशेष ध्यान देते थे। उनकी दृष्टि में इन जनजातियों पर ही भारत का पूर्व विकास संभव है। इसलिए उन्होंने जनजातियों पर 1957 में एक पुस्तक 'पंचशील' लिखी। वे हमेशा कहा करते थे कि जनजातीय क्षेत्र और जंगल को सुरक्षित रखना चाहिए। ये ही भारत की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

जनजातियों के अध्ययन के मूर्धन्य विद्वान श्री राज विलोचन शर्मा ने अपनी पुस्तक जनजातीय जीवन और संस्कृति में स्पष्ट कहा है कि जब तक हम इन जातियों की संस्कृति को अपनी संस्कृति में स्थान नहीं देंगे तब तक भारतीय एकता, राष्ट्रीयता और समन्वयवाद स्वप्न मात्र ही रहेगा। विशेषकर पूर्वांचलीय जनजातियों को अपने में डूबने के लिए कुछ देना भी होगा और लेना भी होगा। इन्हें भारतीय परंपरा में लाने के लिए एक मात्र उपाय समन्वयवादी नीति, प्रेम, सहिष्णुता और आदर की

भावनाएँ ही हो सकती हैं। इसके लिए सरकार को जनजातियों की 5 मूलभूत आवश्यकताओं को तुरंत पूर्ण करना चाहिए। जैसे—

(1) जनजाति की भूमि स्थायी कर दी जाए और बाहरी लोगों को उनकी नीति-व्यवस्था में हस्तक्षेप न करने दिया जाए।
(2) उनके जंगल के जीवन और शिकार जीवन का आदर किया जाए। इसके लिए जंगलों को नष्ट करना बंद किया जाए।
(3) बिना किसी देर किए उनकी सेवा, विकास के लिए पर्याप्त अस्पताल, स्कूल, अनाज व अन्य उपयोगी चीजों की दुकानें खोली जाएँ।
(4) इन क्षेत्रों का औद्योगीकरण इनकी आवश्यकताओं और विशेषताओं के आधार पर किया जाए।
(5) जनजातियों के लोगों को व्यावहारिक रूप में सरकारी कार्य व सामाजिक कार्य में लिया जाए।
(6) उनकी भूतकालीन संस्कृति, सभ्यता, भाषा, परंपराओं को पुनर्जीवित किया जाए।
(7) हमें अन्य जातियों की अपेक्षा इन जातियों को आर्थिक एवं राजनैतिक दृष्टि से कुछ विशेष सुविधाएँ भी देनी चाहिएँ।
(8) जनजातियों में हीनता की भावना को दूर करने के लिए हमें उनकी मूलभूत बातों को स्कूल पाठ्यक्रमों में स्थान देना चाहिए। सरकारी स्तर पर भी उनकी संस्कृति को मान्यता मिलनी चाहिए। उन्हें छोटा, जंगली, असभ्य न मानकर उनके साथ प्रेम का व्यवहार करना चाहिए।
(9) उनको कानून व हमारी संस्कृति, सभ्यता के चंगुल से मुक्त रखें। उन्हें आजादी का जीवन उनकी परंपरा के अनुसार व्यतीत करने दें।
(10) जनजातियों को भय से मुक्त किया जाए, जैसे—धनवान जमींदारों का भय, गरीबी से भय, सरकारी हस्तक्षेप से भय, प्रकृति से भय और सरकारी कर्मचारियों की शोषणविलास की नीति से भय। यदि इन जनजातियों को हम इन विभिन्न प्रकार के भय से मुक्त कर दें, तो वे पुनः अपनी परंपरा के अनुसार खुशहाल जीवन व्यतीत कर सकती हैं और धीरे-धीरे वे खुद ही भारतीय जीवन की मुख्य धारा में आ जाएँगी।
(11) हम उन्हें अच्छी चीज दें, किंतु बिना उनकी अच्छी चीजों को नष्ट किए। हम उनके लिए कानून बनाएँ, किंतु बिना उनकी परंपराओं पर चोट किए। उनकी भाषा, संस्कृति, धर्म, सामाजिक संस्थान, उत्सव व स्वशासित ग्राम-व्यवस्था भारत की पूँजी है। इनको बचाना हमारा कर्तव्य है।

मध्यवर्ती जनजातियों की बहुत सी बातें हमने स्वीकार की हैं। इन्हें ग्रामीण

तंत्र के ब्राहमण तक मानते हैं। जैसे—नागपूजा, अन्न देवता की पूजा, माता की पूजा, अपशकुन, बलि प्रथा, बहुदेवतावाद, टोटम, टैबू आदि। जनजातियों की लोक-कथाएँ व नाच-गान उत्सवों में सवर्ण लोग भी भाग लेते हैं और प्रेम से दोनों मनाते हैं। इसीलिए ग्रामीण समाज और जनजाति में काफ़ी मेल-मिलाप है। इसी तरह हमें पूर्वांचलीय जनजातियों को भी मिलाना चाहिए। इसके लिए हमें नीचे लिखे अनुसार उनकी विशेषताओं को स्वीकार करना चाहिए। जैसे—

1. मातृ मूलक परिवार :

यह परंपरा पूर्व में खासी, गारो और केरल में काडर, इरुलर, पुलयर आदि जनजातियों में प्रचलित है। इनमें माता के आधार पर वंश चलता है। पत्नी का महत्व अधिक होता है। पति को पत्नी के घर पर रहना पड़ता है और बहन भाई की संपत्ति की अधिकारिणी होती है। माँ की संपत्ति की अधिकारिणी छोटी लड़की होती है।

तलाक़ व्यवस्था भी बड़ी अच्छी है। यदि पति पत्नी के घर बहुत दिन तक नहीं जाता या बात नहीं करता है, तो यह मान लिया जाता है कि दोनों में प्रेम नहीं रहा है और तलाक़ हो जाता है। इस प्रकार इन जातियों की नारी स्वतंत्रता और आदर की दृष्टि से भारत की सभी जातियों से आगे है। इसलिए महिला-उत्थान के लिए हमें यह प्रथा स्वीकार करनी चाहिए।

2. एक विवाह प्रथा :

पूर्व की जनजातियों में एक विवाह-प्रणाली है। कोई भी पुरुष या स्त्री दो विवाह नहीं करते हैं। पति के मरने पर या पत्नी के मरने पर दूसरा विवाह हो सकता है, किंतु एक ही समय में दो पत्नी रखना एक अपराध है। इसका मुख्य कारण आर्थिक विपन्नता ही हो सकता है। अब कुछ परिवार सवर्णों का अनुकरण कर कभी-कभी दो विवाह भी कर लेते हैं। परंतु भारत की अधिकांश जनजातियाँ एक विवाह में ही विश्वास रखती हैं। अतः आर्थिक व्यवस्था और सुखद जीवन के लिए हमें इस प्रथा को दृढ़ता से मानना चाहिए।

3. संयुक्त परिवार प्रणाली :

आज भारत की पारिवारिक व्यवस्था और एकता पश्चिम के प्रभाव से नष्ट और छिन्न-भिन्न हो रही है। इसलिए हमें इन आदिवासियों की संयुक्त प्रणाली को दृढ़ करना चाहिए। इनकी संयुक्त प्रणाली बहुत ही सामाजिक है। एक बड़ा आदमी परिवार का मुखिया होता है और सभी परिवार के लोग प्रेम से रहते हैं। जब लड़का

बड़ा हो जाता है तो उसकी शादी कर देते हैं और उसकी जीविका की व्यवस्था भी करते हैं तथा उसे अलग कर देते हैं। किंतु अलग रहने पर भी परिवार के मुखिया की बात मानना जरूरी होता है। इसलिए उनके परिवारों में विभिन्नता में भी एकता है। पूर्वांचल की जातियों में गारो, खासी, नागा, ह्वियांग, बोडो, मिज़ो आदि में यही प्रथा है। गोंड, भील, संथाल कोरकू भी इसे मानते हैं।

4. युवागृह (Dormitory) प्रणाली :

भारत की जनजातियों में युवागृह का विशेष स्थान है। भिन्न-भिन्न जनजातियों में इसका नाम अलग-अलग है। जैसे—नागालैंड के नागा में 'मोरुंग', 'माकिचुकों', मध्यप्रदेश की मुरिया जाति में 'घोटुल', मुंडा जाति में 'गितिओरा' और उत्तर प्रदेश की जनजाति में 'रंग बंग' कहते हैं। इन्हें सामाजिक मान्यता होती है। लड़की-लड़के यहाँ खुलकर मिल सकते हैं।

युवागृह 'पत्नी पति' के चुनाव का सही चुनाव घर है। इससे वे अपने भावी साथी को ठीक बजाकर, निरीक्षण, परीक्षण कर चुन सकते हैं। इससे नारी को अपने पति चुनने का पूरा स्वतंत्र अधिकार मिलता है। इसलिए जनजातियों में नारी काफ़ी प्रगतिशील सक्रिय सदस्य के रूप में मानी जाती है। इस तरह की व्यवस्था कुछ परिष्कृत रूप में यदि सवर्ण जातियों में भी हो, तो नारी का स्थान सक्रिय हो सकता है और दहेज प्रथा, बालविवाह प्रथा बिलकुल समाप्त हो सकती है।

5. सामुदायिक जीवन :

जनजातियों में सामूहिक जीवन की जो व्यवस्था है वह अनुकरणीय है। यदि यही व्यवस्था सभी भारतीयों में हो तो हमारी राष्ट्रीय सुरक्षा में काफ़ी सहयोग मिल सकता है और पड़ोस का वातावरण सुखद हो सकता है, क्योंकि शहर के सवर्ण और पढ़े-लिखे में भी यह भावना नहीं है। पड़ोसी भी खुश होकर आपस में नहीं बोलते हैं। अतः हम इन काननवासियों से सामुदायिक एकता, प्रेम और सहानुभूति का पाठ सीख सकते हैं। नागा, मिज़ो, खासी, गारो में जो एकता की भावना है वह उल्लेखनीय है। एक व्यक्ति के यहाँ यदि भोजन की समस्या नहीं है, कपड़े नहीं हैं तो समुदाय के लोग इसकी व्यवस्था करते हैं।

6. प्रकृति प्रेम :

जनजातियाँ ग्रामीण अंचल, पहाड़ी अंचल में रहना पसंद करती हैं। अपनी भूमि तथा जंगल से उन्हें बहुत प्यार होता है। प्रकृति की गोद में वे स्वच्छंद रहना पसंद करती हैं। प्रातः 5 बजे से 8 बजे रात तक उनका कर्म प्रांगण प्रकृति की विस्तृत

भूमि ही होती है। उसी में वे संघर्ष करती हैं, खेलती हैं, कर्म करती हैं और प्रसन्न रहती हैं। इसलिए प्रकृति से ही वे भोजन और तरह-तरह के निशाभिन्न लेती हैं। शिकार करके व्यायाम की पूर्ति करती हैं और मांस अर्जित करती हैं।

विभिन्न वनस्पतियों के गुणों की परख उन्हें होती है। इसलिए जनजातियां आज शहरी जीवन की ओर उन्मुख नहीं हुई। यह ग्राम के सवर्णों के लिए एक अच्छी शिक्षा है। आज हम जनजातियों का अनुकरण कर अपने देश के लाखों गाँवों को उन्नत कर सकते हैं और 'गाँव की ओर चलो सच्चा स्वर्ग वहीं है', गाँधी और विनोबा के इस स्वप्न को पूरा कर सकते हैं तथा प्रकृति को नष्ट करने की योजनाओं को रोक सकते हैं। आज नागा, खासी, रियांग, मिजो, गारो या भील जितना प्रकृति की गोद में खुश नज़र आते हैं उतना वे शहर की गोद में खुश नहीं रहते।

7. परिश्रम और कलापूर्ण जीवन :

विशेषकर पूर्वांचल की जनजातियाँ जितनी परिश्रमी और कलाप्रिय होती हैं उतनी सवर्ण जातियाँ नहीं होतीं। अतः उनकी इस जीवन पद्धति का हमें अनुकरण करना चाहिए।

नागा, मिज़ो, बोडो जातियाँ जब अपने चरखे पर सूत कातती-बुनती हैं तो मालूम होता है कि भारत के सभी लोग यदि ऐसा करें तो गांधीजी का स्वप्न साकार हो सकता है और भारत कपड़े के लिए आत्मनिर्भर हो सकता है। वे अपनी वेशभूषा से दुनिया को प्रभावित कर सकते हैं। पूर्वांचल की जनजातियों में कपड़ा बुनना, टोकरी बनाना, चटाई बनाना तथा अन्य दैनिक उपयोग की चीजों को बनाने का एक अद्भुत जादू सी कला है। वहाँ की प्रत्येक नारी में ये गुण हैं। यदि नारी में यह गुण नहीं होता है तो उसकी शादी होना मुश्किल हो जाता है और समाज में उसका कोई आदर नहीं होता। प्रत्येक नारी-पुरुष परिश्रम करने में विश्वास रखता है। तत्वतः ये कर्मप्रधान जातियाँ हैं। सीमित भोगविलास और अथक परिश्रम इनके जीवन का आदर्श है। विशेषकर नारियाँ परिश्रम और कला में पुरुष वर्ग से आगे हैं। इसलिए समाज में उनकी विशेष प्रतिष्ठा है, क्योंकि जो परिश्रम और कलाप्रिय होता है वही समाज उसका मूल्य चुकाता है। यदि अन्य सवर्ण नारियाँ भी पूर्वांचल की नारियों का अनुकरण करें, तो महिला वर्ष और महिला के लिए विशेष कानूनी सुविधाओं की आवश्यकता ही न पड़े। राष्ट्र भी समृद्धशाली हो सकता है और भावी पीढ़ियाँ अपने आप कर्मशील हो सकती हैं।

8. प्रकृति प्रमोदी जीवन :

जनजातियाँ काफ़ी विनोद प्रिय होती हैं। इनका प्रत्येक कार्य नाच-गान और मस्ती से शुरू होता है। मध्यभारत की जनजातियाँ होली, दशहरा आदि त्योहार

जिस मस्ती से स्वच्छंद रूप में मनाती है, उतने हम सवर्ण लोग मुक्त हृदय से नहीं मनाते वसंत ऋतु का त्यौहार नागा जाति बड़ी ही मस्ती से मनाती है। फसल की बुवाई से पूर्व और कटाई से पूर्व का इनका उत्सव बड़ा ही आनंदवर्धक होता है और आनंद और नाचगान की मस्ती में असम के खासी लोग काफी आगे हैं। फरवरी मास में इन लोगों का 'लक्ष्यभेद प्रतियोगिता' का त्यौहार एक वीरता प्रदर्शन का त्यौहार है। तीर, कमान, भाला, तलवार आदि के द्वारा ये लक्ष्यभेद करते हैं और अपने साहस का परिचय देते हैं। समाज में लक्ष्य भेद करने वाले को आदर्श का स्थान मिलता है। इस प्रकार इनके इस उत्सव से प्रमोद और वीरता दोनों की प्राप्ति होती है। खासी और गारो जाति में विवाह का उत्सव बड़ा ही मनोरंजक होता है। इसमें समाज को आनंद भी प्राप्त होता है और युवक-युवती की शादी भी हो जाती है। लड़के की शादी जिस लड़की से तय होती है तो उसे रात भर उस लड़की के साथ रहना पड़ता है। समाज के लोग बाहर आनंद से मनोविनोद करते हैं। दूसरे दिन लड़का जंगल में भाग जाता है। सब लोग उसे ढूँढ़ने जाते हैं। जब वह मिल जाता है तब उसकी शादी कर दी जाती है।

जनजाति में बालविवाह की प्रथा नहीं है। यह सवर्ण समाज के लिए एक अनुकरणीय विषय है। युवा-युवती की परिपक्व अवस्था में पूरे आमोद-प्रमोद के साथ शादी होती है। जिसमें लड़का-लड़की की इच्छाओं का मेल कराके समाज के लोग मिलकर शादी कराते हैं। अर्थात् पति-पत्नी की इच्छा और परिवार वालों की सहमति से दोनों का संगम हो जाता है। इसीलिए जनजातियों में प्रचलित विवाह-पद्धति से तलाक या मनमुटाव को बहुत कम स्थान मिलता है। जनजातियों के परिश्रम, विवाह, उत्सव, कुटीर, उद्योग, सामाजिक संस्कार आमोद-प्रमोद से शुरू होते हैं और आमोद-प्रमोद में ही समाप्त होते हैं। वे हर कार्य में आमोद-प्रमोद को महत्व देते हैं। इसीलिए उनका प्रत्येक कार्य जीवंत होता है। प्रत्येक नारी नाचना, गाना, बुनना, कड़ी मेहनत करना आदि कार्यों में दक्ष होती है। इसका ज्वलंत उदाहरण हम पूर्वांचल की नागा, रियांग, खासी, मिकिर, मिजमी, बोडो, चाकमा और गारो नारियों में देख सकते हैं। साथ ही आमोद-प्रमोद के विभिन्न रूप भी हम इन जातियों में देख सकते हैं।

अतः जनजातियों की, विशेषकर पूर्वांचल की कलाप्रिय जनजातियों की उपर्युक्त विशेषताओं को भारत का समाज कुछ परिष्कृत रूप में स्वीकार कर ले तो भारतीय संस्कृति के खजाने में मोतियों की असंख्य वृद्धि हो सकती है। इससे सम्पूर्ण भारतीय समाज के जीवन में एक नई रोशनी आएगी। दहेज प्रथा, बाल-विवाह, बहुपत्नी प्रथा, तलाक और मनमुटाव की समस्या, नारी समाज पर अत्याचार, बेकारी, अस्वास्थ्य, प्रांतीयता, सांप्रदायिकता, घुटन, निराशा, भेदभाव, छुआछूत आदि राष्ट्र

और समाज के रोगों से हम मुक्त हो सकते हैं। दूसरी ओर जनजातियों को भी अपने में मिला सकते हैं, क्योंकि जब हम उनकी इन विशेषताओं को अपनी संस्कृति का अंग बना लेंगे तो ये जनजातियां भी खुश होकर हमारे साथ क़दम से क़दम मिलाकर चलेंगी और इस मिली-जुली संस्कृति को स्वीकार कर लेंगी। क्रिश्चियन मिशनरियों के गुमराह करने वाले वातावरण को छोड़कर ये लोग सहर्ष हमारी ओर दौड़ने लगेंगे। गांधीजी हमेशा कहते थे कि 'प्रेम' और 'सहानुभूति' वह जादू है जो दुश्मन को भी मित्र में बदल देता है। ये पूर्वांचल की जनजातियाँ तो हमारे ही भाई-बहन हैं जो कुछ परिस्थितिवश कुछ भटक गई हैं।

सरकारी स्तर पर तो कुछ कार्य हो रहा है, परंतु हमारे समाज को भी सक्रिय रूप से क़दम उठाना चाहिए। इसके लिए कुछ हमें त्याग भी करना पड़ेगा। हमें अपने पूर्वाग्रहों को कुछ छोड़ना होगा। कुछ खोकर ही तो पाया जाता है। अतः अपनी सांस्कृतिक श्रेष्ठता और ऊँचेपन की भावनाओं को त्याग कर हम इन जनजातियों को पा सकते हैं।

1 "Every new and germinative idea was taken and adopted without eleminating the appreciation of the old thought. In final result divergent varities of civilization, religion and language have been united and have evolved into a culturally unitary organism."

2 "India, the country of an imposing and mainly tropical landscape, can embrace all different manifestations of thought, creed and social activities without losing but so emphasising her imminent law taken from nature itself. Each single scope is but one symbol among others of the ever productive Vital forces behind them all."

"Many foldedness in unity, the interwovenness of all beings, of forms and of views, the transitorness of every single shape, condition and standard of life. The fundamental concept that nothing is lost but every thought, word or action will have its fruits and will return in a new and increased form of manifestation. India's freedom of thought embraces all imaginable possibilities and even contradictions. Yet, it does not annihilate but rather completes each of them."

Fundementals of Hindu faith and culture—Dr. C.P. Ramaswami Aiyer.

The mountain passes and the sea, however, were not mere gates if invasion and conquest. They fostered also a more pacific intercourse with the outside world. They brought to this country the pious pilgrim and the peaceful traders and continued high ways for the diffusion of Indian culture and ciuilization through the greater part of Asiatic continent."

1 धर्मार्थ काम मोक्षाणमुपदेश समन्वितम् ।
पूर्वंवृत्तं कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ॥ (विष्णु धर्मपुराण 3/15/1)

2 धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥

परिशिष्ट (अ)

वेद-वाणी

पाद टिप्पणियाँ पृष्ठ 43

1. सुवर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति। (ऋक्० 10|114|5)
2. यादृश्मिन् धायि तमपस्यया विदत्। (ऋक्० 5|44|8)
3. प्रतार्यायुः प्रतरं नवीयः। (ऋक्० 10|59|1)
4. विश्वदानीं सुमनसः स्याम, पश्येमनु सूर्यमुच्चरन्तम्। (ऋक्० 6|52|5)
5. यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत्। (यजु० 16|4)
6. विद्वान् पथः पुरएता ऋजु नेषति। (ऋक्० 5|46|1)
7. न स सखा यो न ददाति सख्ये। (ऋक्० 10|117|4)
8. केवलाघो भवति केवलादी। (ऋक्० 10|117|6)
9. जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविः। (साम० उ० 3|1|6)
10. माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। (अथर्व० 12|1|12)
11. मा नो विददभिभा, या अशस्तिः, मा नो विद्द वृजिना द्वेष्या या।
    (अथर्व० 1|20|1)
12. आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्।
    आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽति व्याधी महारथो जायताम्। (यजु० 22|22)
13. दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठा,
    सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्॥ (यजु० 22|22)
14. अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय। ते अज्येष्ठा
    अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा विवावृधुः।
    सु जातारो जनुषापृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छाजिगातना।
    (ऋक्० 5|60|5, 5|59|6)
15. ऊर्जा मधुमती वाक्। मधुमतीं उदेयम्॥ (यजु० 2|4-5)
16. योऽस्मांश्चक्षुषा मनसा चित्याकूत्या च आधायुरभिदासात्।
    त्वं तानग्ने मेन्यामेनीन् कृणु॥ (अथर्व० 5|6|10)
17. अदारसृद् भवतु देव सोम। (अथर्व० 1|20)
18. स विशोऽनु व्यचलत, तं सभा च समितिश्च सेना चसुरा चानुव्यचलन॥
    (हमारी परंपरा से उद्धृत)

(पाद-टिप्पणी)

पृष्ठ 44

उपनिषद् मंत्र

(i) ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।। (ईशा, 1)

(ii) कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।। (ईश, 2)

(iii) अंधं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ।। (ईश, 9)

(iv) विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयंसह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्याऽमृतमश्नुते ।। (ईश, 11)

(v) अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते, उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य, साधु भवति हीयतेऽर्थाद् य उ प्रेयो वृणीते ।।
(कठ, 2।1)

(vi) श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ।।
(कठ, 2।2)

(vii) नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।। (कठ, 2।23)

(viii) उत्तिष्ठ जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ।। (कठ, 1।3।14)

(ix) सत्यमेव जयते नानृतं, सत्येन पंथा विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्य् ऋषयो ह्याप्तकामा, यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ।।
(मुंडक, 3।1।6)

(x) यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।।
(मुंडक, 3।2।48)

(xi) भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।। (मुंडक, 2।8)

दीक्षांत उपदेश

(xii) सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमद । आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः ।
स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ।।
मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथि देवो भव ।
यान्यनवद्यानि कर्माणितानि सेवितव्यानि, नो इतराणि ।
यान्यस्माकं सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि ।
ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम् ।
श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयाऽदेयम् । श्रिया देयम् । ह्रियादेयम् । भियाऽदेयम् ।
संविदा देयम् ।
अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्त विचिकित्सा वा स्यात् । ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः ।
अलूक्षा धर्मकामाः स्यु तथा ते तत्र वर्त्तेरन् ।
तथा तत्र वर्त्तेथाः ।
एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपषित् ।
एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ।।
(तैत्तिरीयोपनिषद्)

(xiii) अन्नं न निंद्यात ।
अन्नं न परिचक्षीत ।
अन्नं बहु कुर्वीत ।
न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत । तद् व्रतम । (तैत्तिरीय)

(xiv) यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति ।
भूमैव सुखं । भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यम् ।। (छान्दोग्य, 7।23।1)

(xv) तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः
स्रोतः स्वरणीषु चाग्नि ।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ,
सत्येनैन तपसा योऽनुपश्यति ।।1।15।। (श्वेताश्वतर, 1।15)

(xvi) एष देवो विश्वकर्मा महात्मा,
सदा जनानां हृदये संनिविष्ट ।
हृदा मनीषी मनसाभिक्लृप्तो,
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।4।17।। (श्वेताश्वतर, 4।17)

(xvii) एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।। (श्वेताश्वतर, 6।11)

पाद-टिप्पणी

पृष्ठ 61

भीष्मोपदेश

(1) वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ सदा धर्मानुवर्तिना ।
स्वं प्रियं तु परित्यज्य यद्‌यलोकहितं भवेत ।।

(2) पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः ।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः ।।

(3) कृपणानाथवृद्धानां विधवानां च योषिताम् ।
योगक्षेमं च वृत्तिं च नित्यमेव प्रकल्पयेत ।।

(4) दुर्बलस्य च यच्चक्षुर्मुनेराशीविषस्य च ।
अविष ह्‌यतमं मन्ये मा स्म दुर्बलमासदः ।।

(5) यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यश्रूणि रोदताम् तेषां मिथ्याभिशंसनात् ।।

(6) अयुद्‌धेनैव विजयं वर्धयेद्वसुधाधिपः ।
जघन्यमाहुर्विजयं युद्‌धेन च नराधिपः ।।

(7) दमेन सदृशं धर्मं नान्यं लोकेषु शुश्रुम ।
दमोहि परमो लोके प्रशस्तः सर्वधर्मिणाम् ।।

(8) क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् ।
इन्द्रियाभिजयो दाक्ष्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।।
अकार्पण्यमसंरम्भस्सन्तोष प्रियवादिता ।
अविहिंसाऽनसूया चाप्येषां समुदयो दमः ।।

(9) अभयं यस्य भूतेभ्यः सर्वेषामभयं यतः ।
नमस्यः सर्वभूतानां दान्तो भवति बुद्धिमान् ।।

(10) सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्‌यते परम ।
सत्येन विधृते सर्वं सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ।।

(11) उत्थानेन जयेत् तन्द्रां वितर्कं निश्चयाज्जयेत् ।
मौनेन बहुभाष्यं च शौर्येण च भयं त्यजेत ।।

(12) यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

(13) अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम् ।
मृत्युरापद्यते मोहात् सत्येनापद्यतेऽमृतम् ॥

(14) नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति नात्यक्त्वा विन्दते परम् ।
नात्यक्त्वा चाभयश्शेते त्यक्त्वा सर्वं सुखी भवेत् ॥

(15) सत्यं ब्रह्म तपस्सत्यं स्वर्गं सत्येन गच्छति ।
अनृतं तमसो रूपं तमसा नीयते ह्यधः ॥

(16) वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्यस्योपनिषद्दमः ।
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत् सर्वानुशासनम् ॥

(17) श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वास्य न वा कृतम् ॥

(18) अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो यो मा त्वां कालोऽत्यगान्महान् ।
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति ॥

—(हमारी परंपरा)

पाद-टिप्पणी

पृष्ठ 64

गीतामृत

1. देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
   तथा देहान्तर प्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।।2।13
2. अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
   अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ।।2।18
3. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय ।
   नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
   तथा शरीराणि विहाय जीर्णा—
   न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।2।22
4. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
   न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।।2।23
5. जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
   तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।।2।27
6. अथ चेत्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
   ततः स्वधर्मं कीर्ति च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।।2।33
7. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
   मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।।2।47
8. दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
   वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।।2।56
9. ध्यायतो विषयान् पुंसः संगतेषूपजायते ।
   संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ।।2।62
10. क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
    स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।।2।63
11. आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
    तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शांतिमाप्नोति न कामकामी ।।2।60

12. न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥3:5

13. कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥3:6

14. काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥3:37

15. एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥3:43

16. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥4:6

17. परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥4:8

18. ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥4:11

19. यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥4:37

20. न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥4:38

21. योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्माजितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥5:7

22. सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥5:13

23. विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥5:18

24. न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिर बुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥5:20

25. उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत ।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥6:5

26. बंधुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥6:6

27. नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥6:16

28. युक्ताहारविहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु ।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥6।17

29. यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नेयत् ॥6।26

30. आत्मौपम्येव सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं व यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः ॥6।32

31. असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥6।35

32. मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥7।3

33. रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥7।8

34. अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥8।14

35. गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥9।18

36. पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥9।26

37. यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासियत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥9।27

38. समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥9।29

39. अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥9।30

40. मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥9।34

41. अहमात्मा गुडाकेश सर्व भूताशय स्थित ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥10।20
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जित मेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम ते जोंऽशसम्भवम् ॥41

42. त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण—
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्त रूप ॥11।38

43. संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्त स मे प्रियः ॥12।14

44. समं सर्वेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत् स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥13।27

45. मानापमानयोस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥14।25

46. निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुखा सुखदुःख संज्ञै-
र्गच्छिन्त्यमूढाः पदमव्ययं ततः ॥15।5

47. त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत ॥16।21

48. अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥17।15

49. मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भाव संशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥17।16

50. न हि देहभृता शक्यं व्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफल त्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥18।11

51. स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ॥18।45

52. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥18।61

53. मन्मना भव मद् भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥18।65

54. सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥18।66

पाद-टिप्पणी

पृष्ठ 130

बुद्ध वाणी

(1) नहि वेरेन वेरानि सम्मंतीध कुदाचनं ।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो ॥

(2) यथागारं सुच्छन्नं वुटठी न समतिविज्झति ।
एवं सुभावितं चितं रागो न समतिविज्झति ॥

(3) इध सोचति पेच्च सोचति, पापकारी उभयत्थ सोचति ।
सो सोचति सो विहंजति दिस्वा कम्मकिलिट्ठमत्तनो ॥

(4) उट्ठानेनप्पमादेन संजमेन दमेन च ।
दीपं कयिराथ मेधावी यं ओधो नाभिकीरति ॥

(5) अनवस्सुतचित्तस्स अनन्वाहतचेतसो ।
पुंजपापहीणस्स नत्थि जागरतो भयं ॥

(6) चंदनं तगरं वापि उप्पलं अथ वस्सिकी ।
एतेसं गन्धजातानं सीलगंधो अनुत्तरो ॥

(7) तंच कम्मं कतं साधु यं कत्वा नानुतप्पति ।
यस्स पतीतो सुमनो विपाकं पटिसेवति ॥

(8) सेलो यथा एकघनो वातेन न समीरति ।
एवं निंदापसंसासु न समिजन्ति पंडिता ॥

(9) सुकरानि असाधूनि अत्तनो अहितानि च ।
यं वे हितं च साधुं च तं वे परमदुक्करं ॥

(10) सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसंपदा ।
सचित्तपरियोदपनं, एतं बुद्धानसासनं ॥

(11) आरोग्यपरमा लाभो संतुट्ठो परमं धनं ।
विस्सासपरमा जाती निब्बाणं परमं सुखं ॥

(12) यो वे उप्पतितं कोधं रथं भंतेव धारये ।
तमहं सारथिं बूमि, रस्मिग्गाहो इतरो जेना ॥

(13) अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने ।
जिने कदरियं दानेन सच्चेन अलिकवादिनं ॥

(14) नत्थि रागसमो अग्गि नत्थि दोससमो गहो ।
नत्थि मोहसमं जालं नत्थि तण्हासमा नदी ॥

(15) न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति ।
अहिंसा सब्बपाणानं अरियो'ति पवुच्चति ॥

(16) अप्पका ते मनुस्सेसु ये जना पारगामिनो ।
अथायं इतरा पजा तीरमेवानुधावति ॥

(17) यो सहस्सं सहस्सेन संगामे मानुसे जिने ।
एकं च जेय्यमत्तानं स वे संगामजुत्तमो ॥

(18) यो च वस्ससतं जीवे कुसीतो हीनवीरियो ।
एकाहं जीवितं सेय्यो विरियमारभतो दळ्हं ॥

(19) अभित्थरेथ कल्याणे पापा चित्तं निवारये ।
दन्धं हि करोतो पुंनं पापस्मिं रमते मनो ॥

(20) सब्बे तसन्ति दंडस्स सब्बेसं जीवितं पियं ।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातेय ॥

(21) न नग्गचरिया न जटा न पंका,
नानासका थंडिलसायिका वा ।
रजोवजल्लं उक्कुटिकप्पधानं
सोधेन्ति मच्चं अवितिण्णकंखं ॥

(22) अत्तानं एव पठमं पटिरूपे निवेसये ।
अयंज मनुसासेय्य न किलिस्सेय्य पंडितो ॥

(23) अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया ।
अत्तनाव'व सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं ॥

(24) परदुक्खूपदानेन यो अत्तनो सुखमिच्छति ।
वेरसंसग्गसंसट्ठो वेरा सो न पमुंचति ॥

(25) अकतं दुक्कतं सेय्यो पच्छा तपति दुक्कतं ।
कतंच सुकतं सेय्यो यं कत्वा नानुतप्पति ॥

(26) न जटाहि न गोत्तेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो ।
यम्हि सच्चं च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो ॥

(27) वारि पोक्खरपत्ते'व आरग्गेरिव सासपो ।
यो न लिप्पति कामेसु तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

(हमारी परंपरा से उद्धृत)

पाद-टिप्पणियाँ

पृष्ठ 122

महावीर की वाणी

(1) खामेमि सव्वे जीवे सम्मं जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झं न केणइ ।।

(2) जं जं मणेण बद्धं जं जं वायाए भासिअं पावं ।
जं जं काएण कयं मिच्छा मि दुक्कडं तस्स ।।

(3) धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसन्ति जस्स धम्मे सया मणो ।।

(4) अहिंसा सच्चं च अतेणगं च,
तत्तो य बम्भं अपरिग्गहं च ।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि,
चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विदू ।।

(5) सयं तिवायए पाणे, अदुवऽन्नेहिं घायए ।
हणन्तं वाऽणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो ।।

(6) अप्पणट्ठा परट्ठा वा कोहा वा जइ वा भया ।
हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए ।।

(7) दंतसोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं ।।

(8) जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे,
समारुओ नोवसमं उवेइ ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो,
न बंभयारिस्स हियाय कस्सई ।

(9) देवदाणवगन्धव्वा, जक्खरक्खस किन्नरा ।
बंभयारि नमंसन्ति, दुक्करं जे करेन्ति तं ।।

(10) अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीलि त्ति वुच्चइ ।
अहस्सिरे सयादन्ते, न य मम्ममुदाहारे ।।

नासीले न विसीले, न सिया अइलोलुए ।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीले त्ति वुच्चइ ॥

(11) विपत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणीयस्स य ।

(12) असंखयं जीविय मा पमायए,
जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं ॥
एवं विजाणाहि जणे पमत्ते,
कं नु विहिंसा अजया गहन्ति ।

(13) रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पए भवमज्झे वि सन्तो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ।

(14) कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ॥

(15) उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।
मायमज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥

(16) जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ ।

(17) सुवण्ण-रुप्पस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलास समा असंखया ।
नरस्य लुद्धस्स न तेहि किंच,
इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया ।

(18) न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ,
न मित्तवग्गा न सुया न बान्धवा ।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ।

(19) जो सहस्सं सहस्साणं मासे गवं दए ।
तस्स वि संजमो सेयो अदिन्तस्स वि किंचण ॥

(20) तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा,
विवज्जणा बालजणस्स दूरा ।
सज्झायगन्त निसेवणा य,
सुत्तत्थसंचिन्तणया धिई य ॥

(21) अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य ॥

(22) जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥
पव्वइयं गिहिं वा नो हीलए नो विय ।
खिसएज्जा थंमं च कोहं चए स पुज्जो ॥

(23) अवण्णवायं च परंमुहस्स,
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं ।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च,
भासं न भासेज्ज सया न पुज्जो ।

(24) तहेव डहरं च महलग्गं वा,
इत्थी पुमं पव्वइयं गिहिं वा ।
नो हीलये नो वियं खिसएज्जा,
थंमं च कोहं च चए स पुज्जो ॥

(25) न वि मुंडएणसमणो, न ओंकारेण बंभणो ।
न मुणी रण्णवासेन, कुसचीरेण न तावसो ॥

(26) समयाए समणो होइ, बंभचरेण बंभणो ।
नाणेण मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥

(हमारी परंपरा से उद्धृत)

पाद-टिप्पणी

पृष्ठ 64

यक्ष-संवाद

घटना वन पर्व की है। पाँचों पांडव प्यासे हैं। युधिष्ठिर पानी की खोज में एक-एक करके अपने चारों भाइयों को भेजते हैं, किंतु कोई वापस नहीं लौटता। तब युधिष्ठिर स्वयं जाते हैं और एक जलाशय के किनारे अपने चारों भाइयों को मरा हुआ पाते हैं। युधिष्ठिर जलाशय में प्रवेश करना चाहते हैं कि एक आवाज़ उनके कानों में पड़ती है—

"युधिष्ठिर ! मेरे प्रश्नों का उत्तर देकर ही तुम पानी से हाथ लगा सकते हो।" यह आवाज़ एक गंधर्व की थी। युधिष्ठिर उत्तर देते हैं। युधिष्ठिर के प्रश्नों से गंधर्व संतुष्ट हो जाता है। उनके चारों भाई जीवित हो जाते हैं। सब पानी पीकर सुखपूर्वक वन में विचरण करते हैं।

यह केवल एक आख्यानक है जिसके द्वारा महाभारतकार हमें धर्म के गूढ़ तत्वों का उपदेश देते हैं।

प्रमाण-संकेत

1. प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता—मूल लेखक डी. डी. कोसाम्बी, अनुवादक—नेमीचन्द्र जैन। प्रथम हिंदी संस्करण, 1969, राज कमल प्रकाशन, दिल्ली, तीसरा अध्याय।
2. वही। तीसरा अध्याय।
3. ऋचः सामानिजज्ञिरे। यजुस्तस्मादजायत। छन्दांसिजज्ञिरे तस्मात्।"
4. सहस्त्रवर्त्मा सामवेदः। व्याकरणमहाभाष्य, पस्पशाह्निक।
5. ब्राह्मणो स्य मुखमासीत्। बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।
6. देखिए—'वेद कालीनजनतन्त्रस्थानानि।' (संस्कृत ग्रंथ)—लेखक, अग्निहोत्रं रामानुज, ताताचार्य, 1970, प्रकाशक—केंद्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति।
7. वही—पृ० 45
8. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरो पराणि।
   तथा शरीराणि विहाय जीर्णा—न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ (गीता, 2–22)
9. चन्द्रमा मनसो जात.। चक्षोः सूर्यो अजायत।
   मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च। प्राणाद् वायु रजायत॥

संदर्भ ग्रंथ :

1. प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता—मूल लेखक डी. डी. कोसाम्बी। हिंदी अनुवादक—नेमिचन्द्र जैन।
2. वैदिक साहित्य और संस्कृति—वाचस्पति मैरोला संवर्तिका प्रकाशन, इलाहाबाद। प्रथम संस्करण, 1969।
3. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति—महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1960
4. भारत का संविधान—नई दिल्ली, 1950
5. "भारत का संविधान"—लक्ष्मणप्रसाद सिन्हा, श्याम नंदन सिन्हा, एस. चन्द्र कंपनी, दिल्ली।
6. "लोकतंत्र स्वरूप एवं समस्याएँ"—रघुकुल तिलक, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, 1972।
7. भाषा-समस्या विशेषांक (साहित्य परिचय)—सं० शर्मा और अग्रवाल, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा 1968 संयुक्तांक।

संदर्भ-ग्रंथ

1. प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता : डी. डी कोसाम्बी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
2. प्राचीन भारत की शासन प्रणाली : परिपूर्णानंद वर्मा, श्रीराम मेहरा एंड कंपनी, आगरा
3. हमारी संस्कृति : डा. रामेश्वर गुप्त, वनस्थली विद्यापीठ, वनस्थली
4. भारतीय संस्कृति : विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर
5. भारत का सांस्कृतिक इतिहास : हरिदत्त वेदालंकार, गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी
6. सुदूरपूर्व में भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास : डा. बैजनाथ पुरी, हिंदी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश
7. संस्कृति के चार अध्याय : दिनकर, उदयाचल, आर्यकुमार रोड, पटना
8. हमारी परंपरा : वियोगीहरि, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

The making of the Indian Nation : B. B. Gokhale, Asia Publising House.

Fundamentals of Hindu folk and Culture, C. P. Ramaswami Aiyar, Ganesh & Co. (Madras).

Culture & Art of India : Radhakamal Mukerjee, George Allen & Unwin Ltd.

संदर्भ ग्रंथ : परिशिष्ट (अ)

1. भारत का सरल इतिहास : प्रो० नेत्र पांडेय (स्वास्तिक प्रकाशन, इलाहाबाद) 1973.
2. भारतीय संस्कृति का इतिहास : दिनेशचन्द्र भारद्वाज (विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा) 1962.
3. भारतीय संस्कृति का इतिहास : भटनागर तथा शुक्ल (रतन प्रकाशन मंदिर, आगरा)
4. भारतीय इतिहास का सर्वेक्षण : एम. के. पणिक्कर
5. संस्कृति के चार अध्याय : दिनकर

ग्रंथ-सूची

1. आदिवासी भारत—योगेश अटल
2. अंतरराष्ट्रीय संबंध—महेशप्रसाद टंडन, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, 1 64
3. केरल पाणिनीयम्—ए. आर. राजराज वर्मा, 1966
4. कन्नड साहित्य का सुबोध इतिहास—काशीनाथ एम. हल्लीखेडे, बेंगलोर, 1973
5. कन्नड साहित्य सौरभ—हिरण्यमय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1975
6. जनजातीय जीवन और संस्कृति—राजीवलोचन शर्मा
7. जेमिनीय आर्षेय ब्राह्मणम्—बी. आर. शर्मा, केंद्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, 1967
8. तमिल साहित्य—दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, मद्रास, 1963
9. द्रविड भाषा परिशीलनमु (दो भाग)—सीताराम स्वामी शास्त्री, आंध्र विश्वविद्यालय प्रकाशन

I . पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारा का इतिहास—विश्वनाथ प्रसाद, हिंदी समिति, सूचना विभाग, उ. प्र लखनऊ, 1964

11. प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास—विमल चन्द्र पांडेय, सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद
12. प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता—डी. डी. कोसाम्बी (अनु. नेमिचन्द्र जैन), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
13. भारत का विधान—सुंदर लाल, मंत्री हिंदुस्तानी कल्चर सोसाइटी 48, बाई का बाग, इलाहाबाद, 1950
14. भारत का संविधान—विधि और न्याय मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1950
    भारत का संविधान—लक्ष्मण प्रसाद सिन्हा, एस. चन्द्र एंड कं०, दिल्ली
15. भारतीय भाषाओं के साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—गोपाल शर्मा, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, नई दिल्ली
16. भारतीय विदेशी नीति के आधार—विश्वेश्वर प्रसाद

17. भारतीय साहित्य, संस्कृति एवं कला—नगेन्द्र, एस. चन्द्र एंड को., नई दिल्ली
18. भारतीय संस्कृति—देवराज, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश
19. भारतीय संस्कृति और कला—वाचस्पति गैरोला, उ. प्र. हिंदी ग्रंथ अकादमी, लखनऊ
20. भारतीय संस्कृति के आधार—(अनु. जगन्नाथ), श्री अरविंद सोसाइटी, पांडीचेरी
21. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, शिवलाल अग्रवाल एंड को., आगरा, 1967
22. महाभारतकालीन समाज—सुखमय भट्टाचार्य, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1966
23. राजभाषा आयोग का प्रतिवेदन, 1956
भारत सरकार मुद्रणालय, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, 1958
24. राष्ट्रों के मध्य राजनीति—हंस जे. मारगेन भाट
25. विश्व हिंदी दर्शन—विश्व हिंदी सम्मेलन, नागपुर, 1975
26. वेद भाष्य भूमिका संग्रह—सायणाचार्य, संपादक बलदेव उपाध्याय, चौखंभा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1958
27. वेमन राल्लपल्लि—अनंतकृष्ण शर्मा, आंध्र विश्वविद्यालय प्रेस, वालटेयर, 1971
28. सिंधु सभ्यता—सतीशचंद काला, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, 1955
29. संस्कृति के चार अध्याय—रामधारी सिंह दिनकर, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, 1962
30. हमारा समाज और भारतीय संस्कृति—बलराम चौहान, आदर्श पुस्तक भंडार, वाराणसी, 1961
31. हमारी परंपरा—वियोगी हरि, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1967
32. हमारी संस्कृति—रामेश्वर गुप्त, नेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली, 1958
33. हमारी संस्कृति—एस. राधाकृष्णन्, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली

संदर्भ-सूची

1. अन्तरराष्ट्रीय संबंध— महेश प्रसाद टंडन, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार 1964।
2. नवभारत टाइम्स (दैनिक)— 28-10-75 से 5-11-75 तक।
3. पाश्चात्य राजनीतिक विचार-धारा का इतिहास— विश्वनाथ प्रसाद, हिंदी समिति, सूचना विभाग, उ. प्र. लखनऊ 1964।
4. भारतीय विदेश नीति के आधार—विश्वेश्वर प्रसाद।
5. राजभाषा आयोग का प्रतिवेदन 1965— भारत सरकार, मुद्रणालय प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, 1958।
6. राष्ट्रों के मध्य राजनीति— हंस जे. मारगेन भाट
7. भारत का विधान— सुन्दरलाल, मंत्री हिन्दुस्तानी कलचर सोसाइटी 48, बाई का बाग इलाहाबाद, सन् 1950।
8. विश्व हिंदी दर्शन— विश्व हिंदी सम्मेलन, नागपुर, 1975।
9. India's Foreign Policy— Jawahar Lal Nehru, The Publications Division, Delhi-6, Ministry of Information & Broadcasting, Government of India, August 15, 1961.
10. The Republic of India— Constitution & Government by B. M. Sharma, Asia Publishing House, New York, U. S. A. 1966.

आधार ग्रंथ :

(1) आदिवासी भारत— योगेश अटल
(2) Naked Nagas— Furer Haimendorp.
(3) जनजाति जीवन और संस्कृति—राजविलोचन शर्मा
(4) The Tribal World— Verrier Elwin.

1. A history of Malayalam Literature—Krishna Chaitanya, Orient Longman, 1971.
2. A history of Tamil literature—E. S. Varadarajan Aiyar, Annamalai University, 1957.
3. Fundamentals of Hindu culture—C. P. Ramaswami Aiyar, Ganesh & Co. (Madras), 1959.
4. History of Tamil language—V. C. Suryanarayana Sastriar, Madras, 1958.
5. History of the Telugu Yakshagana—S. V. Joga Rao, Andhra University Publications, 1961.
6. India's Contribution to World Thought and Culture—Lokash Chandra, Vivekanand Rock Memorial Committee, Madras.
7. India's Foreign Policy—Jawahar Lal Nehru, The publications Division, Ministry of Information & Broadcasting, Govt. of India, August 15. 1961.
8. Indian Inheritance Vol. II—K. M. Munshi, Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay.
9. Kalidasa : A cultural study—C. Kunhan Raja, Madras, 1960.
10. The Karnataka Theatre—H. K. Ranganath, Karnatak University, Dharwar, 1960.
11. Return to the Naked Nagas—Furer Haimendorp, Vikas publishing House, New Delhi
12. The Republic of India—Constitution and Government—B. N. Sharma, Asia Publishing House, New York, U. S. A. 1966
13. The Tribal World—Verrier Elwin, 1964.